

जागो मेरे पार्थ



श्री चन्द्रप्रभ



सौजन्य-संविभाग

श्री हरिओम् चैरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर
श्री सीताराम-मिल्कादेवी मित्तल
श्री महेश, दिनेश मित्तल, जयपुर

श्री चन्द्रप्रभ

जागो मेरे पार्थ

गीता पर श्री चन्द्रप्रभ द्वारा दिए गए
अमृत प्रवचनों का अवतरण

जितयशा फाउंडेशन, कलकत्ता

जागो मेरे पार्थ
श्री चन्द्रप्रभ

प्रकाशन-वर्ष : जनवरी, २००२/चतुर्थ संस्करण

सन्निधि : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी/लोकार्पण : श्री भैरोसिंह शेखावत, मुख्यमंत्री, राज

सम्पादन : श्री सोहन शर्मा/आवरण : श्री दिलीप गोपानी

प्रकाशन : जितयशा फाउंडेशन, ९ सी, एम्प्लानेड रो ईस्ट, रूम नं. २८, कोलकाता-६९

मुद्रण : जयपुर प्रिंटर्स, जयपुर

मूल्य : ४०/-

अंतरंग

‘जागो मेरे पार्थ’ एक शंखनाद है, आह्वान है भगवान श्री कृष्ण का, श्री चन्द्रप्रभ का। जहाँ गीता श्री कृष्ण का मानवता को एक महान् अवदान है, वहीं उसकी समय-सापेक्ष व्याख्या श्री चन्द्रप्रभ की पंथ-निरपेक्ष गुणात्मक पहल है। गीता का हर अध्याय अपने आप में शिथिल और सुषुप्त हो चुके आत्म-अर्जुन को उद्बोधन है। यह पाञ्चजन्य का वह उद्घोष है जिससे मनुष्य का सोया हुआ पुरुष और पुरुषार्थ जगता है और मनुष्य अपने जीवन-युद्ध की विजय के लिए कृतसंकल्प तथा प्रयत्नशील होता है। कर्मण्यता और कर्तृत्व-मुक्ति गीता के सन्देशों की आत्मा है।

‘जागो मेरे पार्थ’ वास्तव में जोधपुर में आयोजित गीता-प्रवचन-माला में आदरणीय श्री चन्द्रप्रभ जी द्वारा दिये गये हृदयस्पर्शी अठारह प्रवचनों का अवतरण है, संकलन है। इन प्रवचनों को पढ़-सुनकर ऐसा लगता है मानो एक महामनीषा ही नहीं वरन् भगवद्-स्वरूप में लीन किसी दिव्य चेतना की अन्तर्ध्वनि ही अभिव्यक्त हो रही है। श्री कृष्ण ने धरती को जितना कुछ दिया है, उसके लिए धरती उन्हें सदा याद करती रहेगी, पूजती रहेगी, उनके चरणों में अपना शीष, अपना सर्वस्व न्यौछावर करती रहेगी। श्री चन्द्रप्रभ जी का यह कहना कि श्री कृष्ण के द्वारा किसी की माखन की मटकी फोड़ देना उसे नुकसान पहुँचाना नहीं वरन् उसके पापों की मटकी को फोड़ना है, बड़ा सटीक है। लगता है श्री चन्द्रप्रभ जी ने खुले हृदय से गीता को आत्मसात् किया है और उनके उद्गार अपने आप में गीता जैसे रसभीने गीत बन चुके हैं।

श्री कृष्ण को हुए कई सदियाँ बीत चुकी हैं। श्री चन्द्रप्रभ जी तो कलियुग के कमल हैं, श्री कृष्ण सदा से घट-घट में व्याप्त रहे हैं। दूरियाँ समय की बाधक नहीं होतीं, मीरा हजारों वर्ष बाद भी अपने अन्तर्-हृदय में श्री कृष्ण को साकार

कर लेती है। हृदय किसी को अपने करीब देखे, फिर चाहे वह हजारों वर्ष पहले हुआ हो या ऊर्ध्व गगन में स्थित, वह पास ही है, उतना ही पास जितना हृदय हमारे पास है।

‘जागो मेरे पार्थ’ न केवल एक अमृत उद्बोधन है वरन् स्वयं एक दर्शन है, यथार्थ और आदर्श का संगम है। कृष्ण का सांख्य और संन्यास भगवान महावीर तथा बुद्ध का ज्ञान और मौन है। कृष्ण की भक्ति और समर्पण सूर तथा मीरा की करताल और वीणा की झंकार है। ‘जागो मेरे पार्थ’ में वह ज्ञान और मौन एक श्रद्धा भरी झंकार के रूप में निनादित हुआ है। श्री चन्द्रप्रभ की भाषा में बगैर भगवद्-कृपा के मनुष्य अपूर्ण है।

गीता-प्रवचन एक ओर श्री चन्द्रप्रभ की सर्वतोभद्र भावना का प्रतीक है, वहीं दूसरी ओर विशद् ज्ञान मनीषा का। उन्होंने अध्यात्म-प्रिय भक्तों के बीच गीता के रहस्य को सहज मन से अभिव्यक्त किया है, इसलिए यह युग उन्हें धन्यवाद देता है।

गीता भारत का आदर्श ग्रन्थ है। इसमें गृहस्थ और वानप्रस्थ दोनों के लिए मार्गदर्शन है। यदि हम गुणानुरागिता की दृष्टि से धर्म-मजहब का आग्रह रखे बगैर गीता और गीता जैसे ही अन्य आदर्श धर्मग्रन्थों तथा शास्त्रों का नित्य स्वाध्याय चितन-मनन करें तो चित्त-परिवर्तन का चमत्कार घटित हो सकता है, जीवन को नई विधायक दिशाएँ दी जा सकती हैं। हम सबको चाहिए कि हम अपने भीतर चल रहे महाभारत के आत्म-विजेता बनें, जितेन्द्रिय बनें। व्यक्ति और समाज के अभ्युत्थान के लिए हर व्यक्ति को श्रमशील होना चाहिये। ज्ञान जीवन के अभ्युत्थान के लिए है, अन्तर्मन में घर कर चुकी परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए है। व्यक्ति कर्ता-भाव से मुक्त हो, आसक्तियों का छेदन करे और एक अप्रमत्त कर्मयोगी होकर जीवन में श्रम और श्रामण्य का सर्वोदय होने का अवसर प्राप्त करे।

प्रस्तुत ग्रन्थ ‘जागो मेरे पार्थ’ में यह भाव-भूमिका निःसृत और विस्तृत हुई है। गीता के रहस्यों को आत्मसात् करने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ को पहले आत्मसात् कर लिया जाये तो गीता के मार्ग और गंतव्य तक पहुँचने में बड़ी सुविधा रहेगी।

परमात्मा के आशीष जन-जन का मंगल करें, यही मंगलकामना है।

—महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

अनुक्रम

1. गीता का पुनर्जन्म	1
2. चुनौती का सामना	11
3. कर्मयोग का आह्वान	23
4. मुक्ति का माधुर्य	39
5. अनासक्ति का विज्ञान	52
6. निज से मंगल मैत्री	63
7. मुझमें है भगवान्	80
8. ॐ : मंत्रों की आत्मा	91
9. योगक्षेमं वहाम्यहम्	103
10. भीतर बैठा देवता	118
11. समर्पण ही चाहिए	128
12. मन में, मन के पार	138
13. हों निर्लिप्त, ज्यों आकाश	151

14.	सतोगुण की सुवास	163
15.	आत्मज्ञान का रहस्य	175
16.	देवत्व की दिशा में दो कदम	188
17.	श्रद्धा स्वयं एक मार्ग	201
18.	बूंद चले सागर की ओर	210



गीता का पुनर्जन्म

आज हम एक ऐसे नव्य और भव्य शिखर की ओर कदम बढ़ा रहे हैं, जहाँ से सुख, शांति और समृद्धि की हवाएँ सारे विश्व तक पहुँच रही हैं। यों तो धरती पर शिखरों के नाम पर हजारों शिखर हैं, किन्तु हम जिस शिखर की चर्चा कर रहे हैं, उसकी तुलना केवल उसी से की जा सकती है। हिमाच्छादित गौरीशंकर शिखरों का वह शिखर है, जहाँ सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का संगान है, जहाँ से सत्य की ऋचाएँ, शिवम् के मंत्र और सौन्दर्य की कला सारे संसार को उपलब्ध हुई है। गौरीशंकर का आनन्द, उसका वैभव अप्रतिम, अनुपम और अनूठा है। गीता संसार का वह गौरीशंकर है, जिसने शताब्दियों तक मनुष्य को अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत और अपनी आत्म-विजय के लिए सन्नद्ध रहने की प्रेरणा दी है, इसलिए गीता का मार्ग योद्धाओं का मार्ग है। यह उन अर्जुनों का मार्ग है, जिनसे न केवल महाभारत का, वरन् सारे विश्व का सम्बन्ध है।

गौरीशंकर की तरह गीता का भी कोई सानी नहीं है। गीता मानवीय शास्त्रों की कुंजी है। यदि पिटकों का सत्य ढूँढना हो, तो वह गीता में मिल जाएगा। आगम-सिद्धान्त भी गीता में प्रतिपादित हैं। वेद और उपनिषद् का नवनीत भी गीता में आत्मसात् हुआ नजर आएगा। जिस तरह गौरीशंकर में सारे शिखर आकर मिल जाते हैं, उसी तरह गीता में मनुष्य और मनुष्य से जुड़ा सारा उपदेश

समाविष्ट हो जाता है ।

वह कंठ ही क्या, जिसने गीता का अपने जीवन में गायन न किया । वे कदम ही क्या, जो गीता के मार्ग पर न चलें । वह वाणी धन्य हो जाती है, जिसको गीता का रसास्वादन हो जाता है । उस व्यक्ति का घर धन्य है जिसको उठते ही सुबह मन्दिर का घंटनाद सुनाई देता है और सोने से पहले गीता जैसे धर्मग्रन्थ का श्लोक श्रवण करने को मिलता है, दिव्य ज्ञान के 'दो शब्द' सुनने-पढ़ने को मिलते हैं । आम आदमी की रातें असफल होती हैं, लेकिन इन सूत्रों और श्लोकों को दिनभर अपने चिन्तन और मनन में रखने वालों की रातें असफल नहीं हो सकतीं । भगवान करे आपकी रातें भी सफल हों । विकारों में तो हर आदमी की रातें गुजरती हैं, लेकिन जीवन के ऐश्वर्य—ईश्वर के रसास्वादन में जिनकी रातें गुजरती हैं, वे रातें भले अमावस्या जैसी क्यों न हों, असल में पूनम जैसी हैं ।

अगर तुम हिन्दू हो, इसलिए गीता के साथ प्रेम रखते हो, तो गीता के साथ अन्याय कर जाओगे । अगर जैन हो और उस नाते गीता को अस्वीकार करते हो, तो ऐसा करके तुम गीता को नहीं, वरन् अपने जीवन के अन्तर्सत्त्यों को अस्वीकार कर बैठोगे । इस्लाम के अनुयायी होने के कारण गीता से परहेज़ रखोगे, तो कुरआन के सन्देशों को समझने में तुमने चूक खाई है । जैनत्व, हिन्दुत्व, बौद्धत्व, इस्लाम ये सब छिलके हैं । किसी भी फल का महत्त्व छिलकों में नहीं होता । छिलकों को एक तरफ करो और गूदे को स्वीकार करो । शक्ति गूदे में है । मनुष्य को छिलके इतने लुभाते हैं कि भीतर का पदार्थ गौण हो जाता है । अगर तुम छिलकों को एक तरफ कर गीता को सुनोगे, इसका आचमन करोगे, तो यह एक महान् चमत्कार घटित कर सकती है । यह गीता जीवन में वह अन्तर-रूपान्तरण कर देगी, जिसके अभाव में हम जन्म-जन्मांतरण भटकते रहे हैं ।

गीता का जन्म निःसन्देह महाभारत के समय हुआ । अगर कृष्ण चाहते, तो गीता का यह सन्देश वे अर्जुन को किसी कक्ष अथवा गुरुकुल के प्रांगण में बैठकर दे सकते थे, लेकिन ऐसा नहीं किया । कृष्ण का जन्म तभी होता है, जब किसी के हृदय में अर्जुन का जन्म होता है । जब तक तुम अर्जुन नहीं बनते, संसार में कृष्ण का अवतार नहीं होगा । अगर ऐसा लगता हो कि तुम्हें अपने जीवन में श्रीकृष्ण नहीं मिले, तो मैं कहूँगा कि तुम जीवन में कभी अर्जुन बने ही नहीं । तुम अर्जुन बनो, तो कृष्ण को जन्म लेना ही होगा । कृष्ण-नाम की चदरिया ओढ़ लेने भर से

कृष्ण के दर्शन नहीं होंगे। अर्जुन का जन्म होने से ही कृष्ण का जन्म होता है। ठीक वैसे ही जैसे बच्चे के जन्मने से माँ की छाती में दूध उत्पन्न होता है। मुझे लगता है कृष्ण फिर-फिर जन्म ले रहे हैं। अगर चूक हो रही है, तो अर्जुन को पैदा होने में चूक हो रही है।

कृष्ण ने गीता का बखान युद्ध के मैदान में किया और उस धुरंधर से किया, जिसकी प्रत्यंचा मात्र से सारा संसार कंपित हो जाता था। महाभारत का समय तो अब नहीं है। संदर्भ भले ही बदल गये हों, लेकिन हर शख्स के भीतर महाभारत होते मैं साफ-साफ देख रहा हूँ। सबके भीतर महाभारत मचा हुआ है, उथल-पुथल है। इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। हर व्यक्ति के भीतर एक रावण बैठा है, जो सीता का अपहरण करना चाहता है; एक दुर्योधन द्रोपदी का चीरहरण करना चाहता है; एक कंस केवल अपनी रक्षा और समृद्धि के लिए औरों के साथ खिलवाड़ करता है; एक शिशुपाल अपने स्वाभिमान, अपने घमंड को औरों पर छान्टने के लिए उनकी उपेक्षा कर रहा है। गीता की सार्थकता इसी में है कि आप अपने भीतर के महाभारत को पहचानें।

त्रेता के राम की आँखों में,
आँसू का निर्झर पलता था।
सीता का आंचल इसीलिए,
करुणा से भीगा लगता था ॥

सारा द्वापर ही उलझ गया,
नारी के बिखरे बालों में।
ज्योति तो कम पर धुआं बहुत,
उठता था जली मशालों में ॥

त्रेता और द्वापर युग के वे घटनाक्रम आज भी दोहराए जा रहे हैं। हम सबके भीतर एक शैतान, एक दुःशासन बैठा है, जो औरों की इज्जत लेने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझता है, एक शकुनि आसीन है, जो स्वार्थ, छल, प्रपंच के दुश्चक्र चला रहा है। इसलिए गीता की प्रासंगिकता आज भी है। भविष्य में भी रहेगी। तब तक, जब तक मनुष्य के भीतर स्वार्थ के शकुनि और दुश्चक्र के दुर्योधन बने रहेंगे। गीता तुम्हें लड़ने की बात सिखाती है, स्वार्थ और दुश्चक्र से युद्ध करने

की। गीता निश्चित तौर पर योद्धाओं का मार्ग है। जब तक तुम स्वयं योद्धा नहीं बनते हो, तब तक गीता को सुनना सार्थक कहाँ है ! गीता को सुनना है, तो रग-रग में, नस-नस में योद्धा का स्वर चाहिये। ऐसे क्षत्रियत्व का रक्त चाहिये, जिस पर गीता के ये संदेश प्रभावी हो सकें। राजस्थान की यह माटी कितनी ही शान्त क्यों न हो, पर जब-जब भी यह माटी जागती है, तब-तब राजस्थान रणबांकुरों की धरती बन जाता है। मैं चाहता हूँ कि रणबांकुरों की यह धरती औरों से लड़ने के लिए नहीं, वरन् औरों का दिल जीतने के लिए आगे आये। मैं एक ऐसे युद्ध की प्रेरणा दे रहा हूँ, जो हिंसा का नहीं, स्वयं हिंसा से लड़ने का युद्ध है—जो आतंक या अपराध का युद्ध नहीं, स्वयं अपराध और आतंक से लड़ने का युद्ध है। एक ऐसा युद्ध जो अयुद्ध का वातावरण बनाए। तुम्हें अरिहंत बनाए।

मानव-जाति आज अपने से ही पलायन करती जा रही है; मुझे उसी मानवजाति को संबोधित करना है। इसलिए मुझे सुनार और लुहार दोनों का काम करना होगा। मुझे तो वह मंगल-कलश निर्मित करना है, जिसको कि सारी दुनिया अपने शीश पर उठा सके और फिर-फिर किसी भगवान बाहुबली का अभिषेक कर सके। इस मंगल-कलश को बनाने के लिए मुझे जहाँ माटी को हाथ का सहारा देना होगा, वहीं ऊपर से उसकी पिटाई भी करनी होगी। केवल प्यार से घड़े नहीं बनते, केवल दुलार से जीवन नहीं बनता, योद्धा का स्वर चाहिये, विजय की संकल्प-शक्ति चाहिये। अच्छा होगा मुझे अपने अन्तःकरण तक आने दें—भीतर के कुरुक्षेत्र में, जहाँ महाभारत जारी है।

मुझे याद है एक संत को बीसवीं बार न्यायालय द्वारा छः माह के कारावास की सजा सुनाई गई। एक संत और बीस-बीस बार जेल की हवा खाए, यह घोर आश्चर्य की बात थी। न्यायाधीश भी चकित था।

न्यायाधीश ने संत से कहा कि एक संतवेशधारी जेल में जाये, यह मुझे बर्दाश्त नहीं होता। आप अपनी आवश्यकताएँ मुझे बताएँ, ताकि मैं उन्हें पूरा कर सकूँ। संत ने मृदुल मुस्कान के साथ कहा—मैं चोरी स्वयं के लिए नहीं करता। मैं तो चोरी इसलिए करता हूँ, ताकि बार-बार जेल जा सकूँ और वहाँ बंद पड़े कैदियों को उस संदेश का स्वामी बना सकूँ, जिससे वे अपने बंधनों को, तमस को नीचे गिरा सकें।

मैं आप लोगों को ऐसे ही संदेश देना चाहता हूँ, उन संदेशों का संवाहक बनाना चाहता हूँ, जिन संदेशों से आप अपनी कायरता को पहचान सकें, बुज्रदिली का बोध पा सकें, जीवन में फिर एक बार क्षत्रियत्व जाग सके, व्यक्ति-व्यक्ति अर्जुन बन सकें। आप चाहे ब्राह्मण हों, वैश्य हों या चाहे जिस जाति के हों, क्षत्रियत्व जागना जरूरी है।

जब भी किसी जिन और विश्व-विजेता का जन्म होगा, तो क्षत्रियत्व का जन्म होना जरूरी है। जैनों के सारे तीर्थंकर क्षत्रिय ही थे। जब महावीर किसी ब्राह्मणी की कोख से जन्म लेने वाले थे, तो इन्द्र का आसन भी कपायमान हो उठा। एक तीर्थंकर ब्राह्मणी की कोख से जन्म ले रहा था, यह अपूर्व प्रसंग था। तीर्थंकर ब्राह्मण के घर जन्म नहीं ले सकता और न वैश्य के घर ही। ब्राह्मण आदमी जोखिम नहीं उठा सकता और वैश्य व्यक्ति साहस नहीं कर सकता है। ये सब तो क्षत्रिय ही कर सकता है। राजपूताने की माटी जगे। वैश्य तो पहले सोचेगा कि इसमें नफ़ा है या नुक़सान। क्षत्रिय आदमी यह व्यवसाय नहीं करता। उसके लिए तो जीवन एक युद्ध है। इसी कारण महावीर को ब्राह्मणी की कुक्षी से क्षत्राणी की कुक्षी में लाया गया।

महायुद्ध को जीतने के लिए संकल्प चाहिये, जोश और क्षत्रियत्व चाहिये। तभी महासमर को पार कर सकते हो। फिर से जगे पुरुषों में कोई महाराणा, कोई शिवा और कोई सुभाष, फिर से जगे नारी में कोई लक्ष्मीबाई। पर बाहर के युद्ध के लिए नहीं, भीतर के युद्ध के लिए, भीतर के महासमर को जीतने के लिए वीरत्व चाहिये। महावीरत्व, ऐसा महावीरत्व जैसा महावीर ने कहा, जिससे वे जीत सके खुद को, संसार के हृदय को।

देखो, तुम्हारी स्थिति कैसी बनी हुई है? ठीक वैसी ही, जैसी अर्जुन की थी, जब उसने युद्ध-भूमि में अपने सामने अपने ही सगे-संबंधियों को खड़े पाया। महाभारत, फिर भी सुस्त, ढीले-ढाले! तुम्हारे लिए ही गीता का आह्वान हो रहा है; गीता के सूत्रों पर प्रकाश डाल रहा हूँ। सच में गीता को जन्म लेना होगा, पर उससे पहले तुम्हें भी एक नया जन्म लेना होगा, एक पुनर्जन्म स्वीकार करना होगा, ऐसा जन्म कि हम अपने जीवन को पुनः गढ़ सकें, उसका उद्धार कर सकें। गीता पहले अर्जुन के लिए जन्मी थी, अब उसे व्यक्ति-व्यक्ति से जुड़ना है, व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में साकार होना है। यह मत सोचना कि गीता जन्म ले

चुकी है, गीता तो हर रोज़ हर पल जन्म लेती है, तब-तब जन्म लेती है, जब-जब भीतर में अर्जुन का आविष्कार होता है ।

गीता का मार्ग धारा का मार्ग नहीं है । यह तो राधा का मार्ग है । धारा तो बहती है । धारा के साथ बहना, यह कोई हमारे भुजाओं का सम्मान नहीं है । गीता का मार्ग तो संघर्ष का मार्ग है और संघर्ष का मार्ग राधा होने से होगा । राधा के मायने धारा का विपरीत रूप होना ही है । धारा के साथ बहना समर्पण है और धारा का राधा हो जाना गंगासागर से गंगोत्री की यात्रा है । गंगोत्री से गंगासागर जाना हो, तो हर कोई बिना पतवार के पहुँच ही जायेगा, पर अगर गंगासागर से गंगोत्री की यात्रा करनी हो, तो बड़ी मुश्किल है । इसीलिए मैंने कहा गीता गौरीशंकर है, गीता शिखर है, स्वर्ण-शिखर । शिखर पर चढ़ना जैसे दुरूह होता है, वैसी दुरूहता गीता को पचाने में भी है । मेरी पुरजोर कोशिश होगी कि गीता आपको पच जाये, आप चाहे किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों, मेरे लिए गीता में कोई विरोधाभास नहीं है । गीता हर वर्ग के लिए है, हर 'आश्रम' के लिए है । गृहस्थ और संन्यास दोनों ही मार्ग इससे प्रशस्त हुए हैं ।

गीता को अगर आंतरिक जीवन से जोड़ दो, तो गीता पूरी तरह महावीर की वाणी बन जायेगी और महावीर की संपूर्ण वाणी को अगर बाह्य जीवन के साथ जोड़ दो तो वह भागवत गीता बन जायेगी । विरोधाभास तो हमारी समझ में है । हमने छिलकों को बहुत महत्व दे दिया, इसलिए महावीर की धारा अलग लगती है और राम-कृष्ण, जीसस और सुकरात की धाराएँ जुदा जान पड़ती हैं । आपने अब तक कुएँ, नहरें और नदियाँ ही देखी हैं, पर मैंने तो गंगासागर को भी निहारा है, उसका स्वाद चखा है । वही गंगासागर जिसमें सारी नदियाँ, सारी नहरें आकर समाविष्ट हो जाती हैं । वह गंगासागर कोई और नहीं, यह गीता है, जिसमें मुझे बहुत सारे सत्यों का संगान, उनका कलरव सुनाई पड़ता है । चाहे वे वेद या उपनिषद की ऋचाएँ हों, चाहे आगम के सूत्र हों या बुद्ध के पिटकों की गाथाएँ, सभी कमोबेश में यहाँ मिल जायेंगे । अपने हृदय के द्वार खोलिए; अपने तर्क वाले दिमाग को वहीं छोड़ आइये, जहाँ आपने अपनी चरण-पादुकाएँ खोली हैं, ताकि गीता की ये रश्मियाँ अपनी दस्तक वहाँ दे सकें, रोशनी फैला सकें ।

गीता का शुभारम्भ बड़े मंगल शब्दों से हुआ है । गीता का पहला चरण है—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे । कितनी सटीक, कितनी सुन्दर बात है । कुरुक्षेत्र ही धर्मक्षेत्र

है। कहा जाता है कि किसी ने कुरुक्षेत्र की एक यात्रा कर ली, उसके सात जन्म टल जाते हैं। क्या आप उसे वह कुरुक्षेत्र समझ रहे हैं, जहाँ दुर्योधन या दुःशासन की लाशें बिछी थीं? मैं तो उस कुरुक्षेत्र की बात कर रहा हूँ, जो मनुष्य के भीतर है। उसका अपना अन्तर्-धरातल ही वह कुरुक्षेत्र है, जिसकी माटी को यदि तुम अपने शीश पर, सहस्रार पर लगाते हो, तो यह किसी तीर्थ की स्पर्शना से कम नहीं है।

कृष्ण कहते हैं—तुम्हारा अन्तर्हृदय ही कुरुक्षेत्र है और वही धर्मक्षेत्र भी। कृष्ण उसी युद्ध के प्रांगण में खड़े होकर एक युद्ध का आह्वान करते हैं। वह आदमी ही क्या, उस आदमी का पौरुष ही क्या, जो लड़ न सका। लड़ो, अपने आप से। बाह्य युद्ध तो अब तक बहुत हो चुके। बाह्य युद्ध में तो अन्ततः हार ही होगी। महान् कहलाने वाला सिकन्दर भी हार गया। तुम किसी से भी न हारो, मगर मौत से तो हार ही जाओगे। मैं तो उस विजय की बात करता हूँ, जिसके आगे मौत भी परास्त हो जाये। तब मनुष्य की मृत्यु नहीं होती, मृत्यु से पहले निर्वाण-महोत्सव हो जाता है, ईश्वरत्व मुखरित हो जाता है, संबोधि और मोक्ष उपलब्ध हो जाता है।

बाहर का युद्ध तो अहंकार का युद्ध है, जिसकी अन्तिम परिणति तो पराजय ही है। 'ईगो' की लड़ाई तुम्हें कब तक जिताती रहेगी। आखिर तो हारोगे ही। अहंकार टूटेगा, तो तुम भी टूट ही जाओगे। वह युद्ध ही क्या, जो पराजय दे। जीवन कोई पराजय का अभिक्रम नहीं, यह तो विजय की दास्तान है। इसलिए वह युद्ध लड़ें, जो हमें अपने आपको जिता दे। आदमी अपने क्रोध से लड़े, जिस क्रोध ने सारे घर में कोहराम मचा रखा है; उन विकारों से लड़े, जिनके चंगुल में फँसकर मनुष्य अपने वास्तविक मूल्यों को पहचान नहीं पाता; उस स्वार्थ से संघर्ष करे, जिसके चलते मनुष्य अपने पड़ोसी का भी ख्याल नहीं रख पाता। यदि बाहरी युद्ध ही करते रहे, तो ये युद्ध कोई समाधान नहीं दे पायेंगे।

राजनेता कबूतर तो शान्ति के उड़ाते हैं, पर उनकी योजना बमों की होती है। आज सारे संसार ने अपने विनाश के इतने इंतजाम कर लिये हैं कि इस सृष्टि को एक बार नहीं, कई-कई बार नष्ट किया जा सकता है। जरा कल्पना कीजिए कि जब एक अणुबम से सारा नागासाकी ध्वस्त हो सकता है, तो आज तो कई

राष्ट्रों के पास हजारों-हजार ऐसे बम मौजूद हैं। हमारी हालत तो लिक्विड आक्सीजन में गिरे व्यक्ति जैसी हो गई है। आक्सीजन मरने नहीं देगी, और लिक्विड जीने नहीं देगी। हम न तो पूरी तरह मर पा रहे हैं और न पूरी तरह जी पा रहे हैं। जी इसलिए रहे हैं कि मौत नहीं आई और मर इसलिए रहे हैं कि जीने की कला नहीं सीख पाये। दोनों से ही वंचित हैं। जीवन नरक बना है। जीवन स्वर्ग नहीं बन पाया, आनंद का महोत्सव नहीं बन पाया। तुम्हारी स्थिति कहीं अधर में लटके त्रिशंकु जैसी तो नहीं बन गई है।

तुम्हारे लिए जीवन समय गुजारना भर है। सत्संग भी तुम्हारे लिए ऐसे ही हो गया है कि सेवानिवृत्त व्यक्ति आये और समय गुजारे। समय गुजारने के लिए ही गीता को सुनते हो, तो गीता तुम्हारा कल्याण नहीं करेगी। तब एक बार नहीं, जीवन भर गीता को पढ़ लो तो भी गीता जीवन के लिए सार्थकता का सूत्र नहीं दे पायेगी। समय गुजारने के लिए मत पढ़ो, समय को सार्थक करने के लिए गीता का सान्निध्य लो, सामीप्य लो तथा गीता का आकंठ पान करो।

केवल बाहर के कोहराम, बाहरी संघर्ष से जीवन सार्थक नहीं होगा। शांति के कबूतर उड़ाने की परम्परा, शान्ति की प्रार्थनाएँ बहुत फीकी पड़ चुकी हैं। अब तो एक जीवंतता चाहिये। अपने ही अन्तःकरण में उतरने का एक अभ्यास, एक ललक, एक प्यास चाहिये। दृढ़ संकल्प भरा व्यक्तित्व चाहिये।

युद्ध बाह्य नहीं, चित्त की वृत्तियों से हो, स्वयं के तमस से हो। क्रान्ति हो अंधकार में प्रकाश की। बाह्य युद्ध से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा। कृष्ण अन्तरमन में चल रहे युद्ध को जीतने की प्रेरणा देते हैं। वे अन्तर्-युद्ध के प्रेरक हैं। अर्जुन तो एक प्रतीक है वीरत्व का, क्षात्रत्व का, फिसलने का। कृष्ण की गीता को आज इस सन्दर्भ में लिया जाना चाहिये। हर व्यक्ति युद्ध-विजेता बने, अन्तरमन का विजेता बने, आत्म-विजेता बने।

कृष्ण अगर युद्ध के प्रेरक बन रहे हैं, तो जरूर इसमें कोई रहस्य छिपा होगा। वे अगर किसी की मटकी फोड़ते हैं, तो यह किसी को नुकसान पहुँचाना नहीं है। भगवत् कृपा कि मटकी फूटी। पाप की मटकी उसने फोड़ी। कृष्ण ने जिसकी मटकी फोड़ दी, उसका तो निस्तार हुआ। कृष्ण अवतार हैं, तीर्थंकर की

आत्मा हैं, शांतिदूत हैं । अन्तरमन को जीतना ही गीता की आत्मा है ।

जंग तो खुद एक मसला है,
जंग क्या खाक मसलों का हल देगी ।

युद्ध तो खुद एक समस्या है और जो चीज खुद एक समस्या है, वह हमारे लिए समाधान का सबब कैसे बन सकती है ? तुम अगर बाहर के युद्ध करते रहे, तो युद्ध करते-करते न जाने कितना संहार कर बैठोगे और जब तुम विजय-पताका फहराओगे तो तुम्हें लाशों के बीच उत्सव करने के लिए ठौर-ठिकाना भी न मिलेगा । किस पर उत्सव ! किसका उत्सव ! कलिंग-युद्ध के बाद सम्राट अशोक विजय-उत्सव मनाने लगे, तो भिक्षुओं ने आकर कहा—तुम उत्सव जरूर मनाओ, पर जिन लाशों को तुमने बिछाया है, उनको भी पलभर देख लो । फिर उत्सव मनाना । तब धरती पर वह सम्राट प्रकट हुआ, जिस सम्राट पर अहिंसा को नाज़ है । अपने द्वारा किये युद्ध पर स्वयं अशोक की आँखों में पानी था—करुणा, दया और प्रेम का पानी ।

इसलिए ऐ शरीफ इंसानो,
जंग टलती रहे तो बेहतर है,
हम और आप सभी के आंगन में,
शमां जलती रहे तो बेहतर है ।

जंग टलने में ही बेहतरी है । अगर मुक्काबिल युद्ध छिटक सकता है, दूर किया जा सकता है, तो बहुत अच्छा । हम तो शमां जलाएँ, शांति के चिराग जलाएँ प्रेम और विश्व-बन्धुत्व के गीत गुनगुनाएँ ।

बरतरी के सुबूत की खातिर
खून बहाना ही क्या जरूरी है,
घर की तारीकियां मिटाने को
घर जलाना ही क्या जरूरी है ।

अपने बड़प्पन, अपने अहंकार की खातिर खून बहाना जरूरी है ? माना घर का अंधकार मिटाना है, पर यह किसने सुझाया कि इसके लिए तुम अपने ही घर को आग लगा बैठो ! जिस वृक्ष से तीली बनाई है, उसी तीली से वृक्ष को आग लगाओ !

जंग के और भी तो मैदान हैं,
सिर्फ मैदाने कुस्तखूं ही नहीं ।
हासिले, ज़िदगी खिरत भी है,
हासिले ज़िदगी जुनूं ही नहीं ।

जो ज़िदगी मिली है, वह परहित-परोपकार में गुजरे । ज़िदगी जुनूं नहीं है कि जिसके वशीभूत होकर तुम धरती पर नरसंहार करने लगे । लड़ना है, तो लड़ो, लेकिन अपने क्रोध से, अपने विकारों से, अपने स्वार्थों से, जिनके कारण तुम सबसे कटते जा रहे हो । परिवार, समाज और संसार संत्रस्त हैं । युद्ध के और भी मैदान हैं । धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे । और भी कुरुक्षेत्र हैं और यह कुरुक्षेत्र हम सबके भीतर है, जहाँ सत्य-असत्य के, धर्म-अधर्म के, सुख-संत्रास के कौरव-पांडव युद्ध के लिए दिन-रात सन्नद्ध हैं । कर्मयोग करो ऐसा, जिससे शान्ति के साम्राज्य की स्थापना हो सके ।

आओ, इस पीरावक्त दुनिया में,
फिक्र की रोशनी आम करें ।
अमन को जिससे तकवियत पहुँचे,
ऐसी ज़ंगों का इंतज़ाम करें ।

हम सब मिलकर इस दुनिया को अमन-चैन दें, जिसके साये में सारी धरती महक उठे । हम अपने हाथों से इस धरती को जन्मत बनायें । मरने के बाद आप किस स्वर्ग में जायेंगे, मुझे नहीं मालूम, मगर इतना मालूम है कि स्वर्ग धरती पर बन सकता है, जिसकी ताबीर, जिसकी शुरुआत आपके हाथों से हो । अगर तुम इसी धरती को स्वर्ग बना लो, तो तुम्हें किसी दूसरे स्वर्ग की आवश्यकता नहीं होगी । धर्मराज और इन्द्र अपने कथित स्वर्ग की चिंता करें, हम तो यह सोचें कि यह धरती कैसे स्वर्ग बन पाये, जिस पर हम जीते हैं । भगवान करे आप इस धरती को स्वर्ग बनाकर जायें । ऐसा स्वर्ग कि आपमें इसी धरती पर आने की तमन्ना जगे । हमारे स्वर्ग का इंतज़ाम हम खुद करें—स्वर्ग को अपने हाथों से अपने सामने बनायें ।



चुनौती का सामना

हर मनुष्य के भीतर एक महाभारत मचा हुआ है, एक भयंकर उथल-पुथल है। ठीक वैसा ही महाभारत जारी है, जैसा द्वापर-युग में कौरवों और पांडवों के बीच हुआ था। क्रोध और कषाय के कंस, दुष्प्रवृत्तियों के दुःशासन और दुष्चक्रों के दुर्योधन मानव-मानव के भीतर पूरी तरह अपने पाँव जमाये बैठे हैं। ऐसा नहीं कि शकुनियों ने मिलकर हजारों वर्ष पहले जोड़-तोड़ की। सच्चाई तो यह है कि आज भी मानव जाति के भीतर स्वार्थ के शकुनि पूरी तरह कमर कसे हुए हैं। चाहे असम को देखें, चाहे पड़ोसी देश श्रीलंका और पाकिस्तान को देखें, रोज़-ब-रोज़ लाक्षागृह के जलने के समाचार हमें सुनने और पढ़ने को मिल जायेंगे।

पहले ज़माने में किसी आदमी को मारना होता था, तो वीरत्व की दरकार होती थी, मगर आज हज़ारों लोगों को मारना एक बच्चे के बायें हाथ का खेल है। न केवल राष्ट्र और राष्ट्र के बीच, वरन् समाज और समाज के बीच, जाति और जाति के बीच, घर और परिवार के बीच भी महाभारत जारी है। एक भाई ही भाई के खून का प्यासा हो जाये, एक बाप ही अपनी बेटी के साथ मुंह काला कर बैठे, एक माँ अपने हाथों से अपने बेटे की हत्या कर डाले—क्या इससे बड़ा महाभारत हजारों वर्ष पहले कभी हुआ? पहले तो कभी एक ही कुरुक्षेत्र में महाभारत का

संग्राम रचा था, लेकिन आज बच्चा-बच्चा तीर-कमान उठाये हुए अपने ही मित्रों पर तीर फेंक रहा है ।

कहा जाता है कि भाई जैसा कोई मित्र नहीं होता और भाई जैसा कोई शत्रु नहीं होता । ऐसा नहीं है कि यह बात कौरवों और पांडवों के बीच ही सही हो । यह बात तो हम सब लोगों के लिए है । राम और भरत, कौरव और पांडव जैसे भाई पहले भी होते थे और आज भी होते हैं । भाई के खून के प्यासे भाई भी आज हैं और भाई की चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर आसीन करके राज्य, परिवार, घर का संचालन करने वाले सज्जन भी आज मौजूद हैं । वे परिवार महान् पुण्यवान और वे घर अत्यन्त पावन हैं, जिनमें भाई-भाई एक भाव, एक रस, एक प्रेम में आबद्ध होकर जीते हैं । मुझसे कोई अगर पूछे कि संसार में सबसे बड़ा पाप क्या है ? तो मैं कहूंगा मां-बाप के जीते अगर उनकी संतानें आपस में बंट गई हैं, तो इससे बड़ा पाप और कोई नहीं होता । अगर धृतराष्ट्र के सामने उसकी अपनी संतानें सिरफुटौवल्ल करने को तैयार हो जायें तो यह पुण्य के मंगल कलश का धराशायी होना ही हुआ । यह द्वापर में कलि का आगमन हुआ । तो यह मत सोचना कि द्वापर युग कोई महान् युग होगा और कलियुग कोई बहुत अधर्म-समय होगा ।

कालचक्र की धार पर समय कभी एक-सा नहीं रहता, लेकिन इस धरती पर अच्छे इंसान पहले भी रहे हैं, आज भी हैं और भविष्य में भी रहेंगे । समय सबका साक्षी है । समय तो जैसा पहले था, वैसा आज भी है । प्रेम से अगर घर में रहते हो, ठीक ऐसे ही कि जैसा यह गीता भवन है जहाँ सुबह मेरी आंख खुलती है, तो एक ओर से मस्जिद से अज्ञान सुनाई पड़ती है, तो दूसरी ओर से प्रार्थना, शंखध्वनि और घंटी की आवाज की रोशनी मुझ तक पहुँचती है । अगर इतना ही प्रेम तुम अपने घर में, अपने परिवार में रख पाओ, तो यह समय कलियुग का नहीं, द्वापर-त्रेता और उससे भी बढ़कर सतयुग का प्रतीत होगा ।

गीता का परिवेश हम सब लोगों के लिए सार्थक है । गीता का संदर्भ कोई अतीत का संदर्भ नहीं बन चुका है । यह तो पूरी तरह सम-सामयिक संदर्भों को समेटे हुए है । गीता को गाने वाले श्रीकृष्ण कोई अतीत का अस्तित्व नहीं हैं, वरन् वे वर्तमान का माधुर्य हैं ।

गीता इतिहास नहीं है। कृष्ण इतिहास नहीं है। सनातन दर्शन में इतिहास का महत्त्व नहीं है। सनातन ही क्या, भारतीय दर्शन में इतिहास का कोई वजूद नहीं है। इसीलिए राम और कृष्ण के पैदा होने की तारीख और जाने का वक्त कहीं इंद्राज नहीं है, क्योंकि भारत ने कभी इतिहास को नहीं माना, घटना के रस और उसके पीछे रही प्रेरणा को ही महत्त्व दिया। इसलिए इतिहास-पुरुषों की बायोग्राफिकल स्थितियाँ नहीं मिलतीं। कृष्ण की कोई बायोग्राफी नहीं है। मीरा, राबिया, सहजो बाई की कोई बायोग्राफी उपलब्ध नहीं है। इसीलिए कृष्ण को हमने रंग से जानने की कोशिश की। क्योंकि रंग अमर्त्य है, इमोर्टल है। हमने कृष्ण के जितने नाम दिए, उनका अर्थ है कृष्ण। उनके नाम का कोई दूसरा अर्थ होता ही नहीं; और कृष्ण ऐसा रंग है जिसमें सारे रंग समा जाते हैं। गहराई का बोध है कृष्ण, गहराई की संज्ञा है कृष्ण। गांभीर्य का उपनाम है कृष्ण; माधुर्य का सर्वनाम है कृष्ण। नदी गहरी होती है तो सफेद नहीं होती, समुद्र गहरा होता है तो सफेद नहीं होता, उजलापन उथलेपन का परिचायक है। इसलिए हमने कृष्ण को उजला नहीं बताया। वे श्याम हैं। वे अतीत इसलिए नहीं हैं कि वे फिर-फिर आते हैं। इसलिए भविष्य से वर्तमान तक उनकी चहलकदमी है। उन्होंने स्वयं कहा—

अक्षराणाम् कारोऽस्मि द्वंद्वः समासिकस्य च ।

मैं अक्षरों में अक्षर हूँ। मेरा क्षरण नहीं होता। मैं अक्षरों में अक्षर और समासों में द्वंद्व समास हूँ इसीलिए मैं मरता नहीं हूँ जबकि गीता के श्लोक में कहा गया है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तो मैं फिर-फिर आता हूँ। तो क्या गीता में विरोधाभास है? नहीं, यह गीता का विरोधाभास नहीं है। कृष्ण कहते हैं—मैं तो होता ही हूँ समय में, क्षण में, लेकिन कभी-कभी अवतरण की अनिवार्यता पर रंगों से बाहर जाता हूँ, जिसे आप जन्म मान लेते हैं, अवतार मान लेते हैं।

महाभारत के युद्ध की तैयारी हो चुकी है, व्यूहरचना पूरी तरह बन चुकी है। श्रीकृष्ण एक सारथी के रूप में अर्जुन के रथ को कुरुक्षेत्र के ठीक मध्य प्रांगण में ले आये हैं, ताकि अर्जुन एक नज़र डाल सके अपने पक्ष और विपक्ष पर और अगर इस अन्तिम आह्वान में कोई दल-बदल करना चाहे तो वह भी कर सके। युधिष्ठिर कह ही देते हैं कि अगर कोई भी व्यक्ति धर्म और सत्य के लिए अपने आपको पांडवों को समर्पित करना चाहे, तो उसका स्वागत है। युयुत्सु जैसे लोग

सहयोग करने, सहकारिता निभाने के लिए आ ही जाते हैं ।

इस धरती पर ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जिसके अन्तर्हृदय में प्रेम, दया और करुणा न हो । स्वयं महायोद्धा अर्जुन भी करुणाभिभूत हो जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अरिष्टनेमि हुए थे । अरिष्टनेमि विवाह करने के लिए राजीमति के द्वार पहुँचते हैं, तो उन्हें पशुओं की चित्कार सुनाई देती है । पशु अपनी मुक्ति के लिए अरिष्टनेमि का आह्वान करते हैं । अरिष्टनेमि, जो विवाह के लिए राजीमति के द्वार पर बारात लेकर पहुँचे थे, पशुओं का क्रन्दन सुनकर लौट पड़े । तब एक दूल्हे की विवाह-यात्रा संन्यास की शोभायात्रा में बदल गई । अर्जुन भी इसी तरह करुणाभिभूत हो उठा कि मैं किस व्यक्ति से संग्राम करूँ ? माना दुश्मनों को मार गिराना मेरे लिये कोई मुश्किल काम नहीं है, लेकिन जिस पितामह और जिन गुरुजन के चरणों में हम पांडव सदैव नत-मस्तक रहे हैं, उन पर तीर कैसे चलाऊँ ? तब एक महान् योद्धा अपने परम श्रेय को देखते हुए अपनी प्रत्यंचा को गिरा देता है और कहता है—‘न श्रेयोनुपश्यामि, हत्वा स्वजनमाहवे ।’ कृष्ण ! मैं अपने स्वजन-समुदाय की हत्या करके अपना कल्याण नहीं देखता । अगर पितामह और गुरुजन को मारकर मुझे त्रैलोक्य का राज्य भी मिलता है, तब भी उस राज्य को टुकरा दूंगा । इनकी हत्या करने की बजाय अगर अन्न की भीख मांगकर खानी पड़े, तो अर्जुन वह सहर्ष स्वीकार कर लेगा, लेकिन कृष्ण ! मुझसे यह युद्ध नहीं हो पायेगा ।

अर्जुन तो पूरी तरह से पसीना-पसीना हो गया, पस्त हो गया । युद्ध करता, तो विजित होता या परास्त, लेकिन वह तो इससे पहले ही पस्त हो उठा । अर्जुन संकल्प ले लेता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा । तब एक सारथी अपना कर्तव्य निभाता है । श्रीकृष्ण अपने रथवाहक को कर्तव्य की प्रेरणा देते हैं । परमात्मा कहा जाने वाला कोई भी व्यक्ति कभी युद्ध की प्रेरणा नहीं देगा, लेकिन उस समय श्रीकृष्ण परमात्मा के रूप में नहीं, सारथी के रूप में थे । जो कर्तव्य एक सारथी निभाता है, वही कर्तव्य उस समय श्रीकृष्ण ने निभाया । श्रीकृष्ण मुस्कराए और कहने लगे, अर्जुन ! यह तुम्हें शोभा नहीं देता । अर्जुन जैसा व्यक्ति नपुंसकता को प्राप्त हो जाये, इससे तो क्षत्रियत्व और पौरुषत्व ही कलंकित होगा । तब गीता के रूप में पहला सूत्र निष्पन्न होता है । यही वह सूत्र है, जिस पर गीता टिकी हुई है ।

गीता का सारा आभामंडल इसी सूत्र पर केन्द्रित है । श्रीकृष्ण ललकारते हुए कहते हैं —

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठं परंतप ॥

हे अर्जुन ! तू और नपुंसकता को प्राप्त हो रहा है ! यह तुझे उचित जान नहीं पड़ता । हे परमतपस्वी ! तू हृदय की तुच्छ दुर्बलता का त्यागकर । उठ और लक्ष्य के प्रति सन्नद्ध हो जा ।

‘क्लैव्यं मा स्म गमः’ युद्ध न करना धर्म की बात नहीं है पार्थ । कुंती का बेटा होने से अर्जुन का एक नाम पार्थ भी है । कृष्ण कहते हैं कि इस नपुंसकता को तुम छोड़ दो । “नैतत्त्वय्युपपद्यते” तुम कुंती जैसी वीर क्षत्राणी के बेटे हो, स्वयं भी वीर हो इसलिए प्रकृति से भी तुम में यह नपुंसकता स्वयं में अनुचित है । ‘परंतप’ का अर्थ होता है शत्रुओं को तपाने वाला । क्या तुम इस युद्ध से भागकर शत्रुओं को प्रसन्न करोगे ? ‘क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं’ यहाँ ‘क्षुद्र’ शब्द के दो अर्थ हैं । एक यदि तुम इस तुच्छता को नहीं छोड़ेगे तो स्वयं तुच्छ हो जाओगे । दूसरा, हृदय की दुर्बलता तुम जैसे शूरवीरों के लिए छोड़ना कठिन काम नहीं है ।

यह सन्देश न केवल अर्जुन को, वरन् पूरी मानव जाति को दिया गया सन्देश है, जो मानव जाति अपने हृदय की तुच्छ दुर्बलता की वशीभूत बनी हुई है । हर मनुष्य के भीतर अपनी एक महान् दुर्बलता है । हर आदमी चाहे जितने संकल्प ले ले, साहस की बातें कर ले, पर उसकी एक दुर्बलता उसे फिर पीछे धकेल देती है । वह इंसान ही क्या, जिसके हृदय में अपना कोई स्वाभिमान नहीं, अपना कोई संकल्प नहीं, अपने संकल्प को क्रियान्वित करने का पुरुषार्थ नहीं ।

युद्ध चाहे बाहर का हो या अपने अन्तर्-जगत का, महावीरत्व चाहिये । एक ऐसा महावीरत्व कि हज़ार-हज़ार तीरों का मुकाबला करते हुए भी व्यक्ति अपने कर्तव्य-मार्ग पर अडिग रहे, अटल रहे । जिस मार्ग पर तुमने अपने कदम बढ़ा दिये हैं, उस मार्ग से फिर पीछे हट जाओ, तो यह तुम्हारी ओर से पलायनवादिता है, भगोड़ापन और नपुंसकता है । तुम्हें तो अपने सिंहत्व को जगाना चाहिए । जब तक एक शेर भेड़ों के बीच में रहेगा, वह भी मिमियाता रहेगा । जिस दिन अपने सिंहत्व को जगा बैठे, उस दिन सारी भेड़ों का अस्तित्व

नेस्तनाबूद हो जायेगा । सिंहत्व की गर्जना चाहिये, सिंहत्व का ओज चाहिये ।

इस धरती पर अधर्म का साम्राज्य निरन्तर फैल रहा है । ऐसे में कृष्ण चाहे धरती पर जन्म लें या न लें, मगर मैं आह्वान करूंगा आप सब लोगों का कि हर मनुष्य अपने आप में श्रीकृष्ण बने, इस धरती के कायाकल्प के लिये अपने आपको बलिदान करे । वसुंधरा की यह पावन माटी एक-एक इन्सान से पुकार कर रही है, अपने ही उद्धार के लिए । इस माटी को अपने खून-पसीने से सींचो और इसे सोने के रूप में परिणित कर दो । गीता तुम्हारे लिए पारसमणि साबित हो सकती है, बशर्ते आप में लोहे पर जमी जंग को उतारने की हिम्मत हो । तुम अगर जंग उतारने के लिए तैयार नहीं हो, तो जीवन की जंग पूरी नहीं हो पायेगी । तुम्हें अपनी दुर्बलता को त्यागना होगा, जगाना होगा अपने सिंहत्व को ।

एक बार भरत और बाहुबली के बीच संग्राम की नौबत आई । सम्राट भरत ने विश्व-विजय पूरी कर ली थी, चक्रवर्ती बन चुके थे, मगर एक व्यक्ति अविजित रहा । वह उन्हीं का अपना छोटा भाई बाहुबली था । सम्राट भरत ने अपने छोटे भाई से अपने राज्य को चक्रवर्ती के चरणों में समर्पित करने की सलाह भिजवाई । बाहुबली ने प्रत्युत्तर दिया—भरत अगर भाई के रूप में मेरा राज्य लेना चाहे, तो मैं एक बार नहीं सौ बार अपना राज्य समर्पित करूंगा, पर अगर वह एक सम्राट के रूप में मुझसे राज्य लेना चाहे, तो एक इंच भी जमीन उसे नहीं मिलेगी । तब अपनी-अपनी स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए दो भाइयों के बीच संग्राम हुआ । भले ही यह युद्ध हिंसा का युद्ध कहलाये, पर अपने अधिकारों के लिए लड़ना, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना हर मानव का अपना नैतिक दायित्व है । क्षत्रिय के लिए ऐसा करना कभी पाप नहीं कहलायेगा ।

अगर अर्जुन यह कहता है कि मैं अपने स्वजन-समुदाय को मारकर अपना कल्याण नहीं देखता, तो अर्जुन भूल कर रहा है । कौन तुम्हारा स्वजन, कौन परजन ! जो तुम्हारे अधिकारों पर आघात करे, उसे तुम कैसे अपना स्वजन कह सकते हो । अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि कोई तुम्हें पीड़ा न दे और किसी को पीड़ा न पहुँचाओ । अहिंसा का विस्तार तो यह है कि न केवल वह तुम्हें पीड़ा न पहुँचाये, वरन् तुम्हारे अधिकारों की प्राप्ति में भी तुम्हारा मददगार बने । अधिकार चाहे अपने हों या पराये, उनकी रक्षा की जानी चाहिये ।

अधिकारों की रक्षा की जानी चाहिये, इसीलिये तो कृष्ण मनुष्य को तीर-भाला उठाने की प्रेरणा देते हैं। हर मनुष्य के एक हाथ में माला रहनी चाहिये और दूसरे हाथ में भाला। माला धार्मिकता और नैतिकता तथा ईश्वर के प्रति समर्पण के लिए है, जबकि भाला इसलिए है कि कोई व्यक्ति तुम्हारी बहन-बेटी पर बुरी नज़र न डाले; तुम्हारे इबादतखाने और प्रार्थना-स्थल सुरक्षित रहें और तुम्हारे समाज, तुम्हारे राष्ट्र पर कोई आंच न आने पाये। तब यह भाला हिंसा नहीं है, अहिंसा का ही छिपा रूप है। भाला इसलिए कि कृष्ण का कर्मयोग सार्थक हो सके और माला इसलिये कि महावीर का अरिहंत स्वरूप पूरी तरह से तुम्हारे जीवन में प्रतिष्ठित हो सके। इस सन्दर्भ में मैं मनुस्मृति का स्मरण करना चाहूँगा—

गुरुं वा बाल वृद्धो वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्
आततायी न मायातं हन्यान् देऽवो विचारऽयन् ।

गुरु हो, बालक हो, वृद्ध या स्त्री हो, अथवा ब्राह्मण हो इनको मारना अनैतिक है। फिर भी मनुस्मृति कहती है कि इनमें से भी कोई आततायी बनकर आ जाए, हमलावर बन कर आ जाए तो उस पर प्रत्याक्रमण करने का तुम्हें पूरा अधिकार है।

जैनों का सबसे पावन मंत्र है—नवकारमंत्र। नवकारमंत्र का पहला चरण है—‘णमो अरिहंताणं’, अरिहंतों को नमस्कार। अरिहंत अर्थात् शत्रुओं को मारने वाला। शत्रु अगर बाहर हैं, तो उनको भी परास्त करो और शत्रु अगर भीतर हैं, तो उनका भी संहार करो। ऐसा करना जितेन्द्रियता है।

पहले चरण में तो बाहर के शत्रुओं को परास्त करना है और दूसरे चरण में अपने भीतर के शत्रुओं को परास्त करना है। इसीलिए गीता में ज्ञान-योग की भी प्रेरणा है और कर्मयोग की भी। गीता सांख्य-योग का भी प्रतिपादन करती है और कर्तव्य-कर्म करने की भी प्रेरणा देती है। यह तो बिलकुल उस माटी के घड़े के समान है, जिसको बनाने के लिए कुम्हार उसे सहारा भी देता है और हाथ से थपथपाता भी है। अरिहंत तो होना ही है, बगैर अरिहंत हुए छुटकारा संभव नहीं है। मैं आप सबको आह्वान करता हूँ कि अरिहंत बनो और एक-एक शत्रु का हनन करो। अपने दुष्प्रवृत्तियों के दुःशासन को उखाड़ फेंको, अपने जीवन में चल रहे दुष्क्रों के दुर्योधनों की टांगें काट डालो, अपने स्वार्थ के शकुनियों को जितना

जल्दी हो सके अपनी देह, अपने जीवन से देश निकाला दिलवा दो। इसमें नपुंसकता नहीं आनी चाहिये, पलभर का प्रमाद भी तुम्हारे लिए भारी पड़ सकता है।

यह मत सोचिएगा कि ऐसा करके आप किसी आत्मा को नष्ट कर डालेंगे। आत्मा कभी नष्ट होती ही नहीं है। आत्मा तो अनश्वर है। कोई यह न सोचे कि कृष्ण अर्जुन को इसलिये प्रेरणा दे रहे हैं, ताकि वह राजसुख भोग सके। कृष्ण तो गीता में स्पष्टतः कह देते हैं कि इन्द्रियों के विषय और उन विषयों के सुख पूरी तरह अशाश्वत, दुःख-बहुल और अनित्य हैं। इनके प्रति तो तुम्हें तितिक्षा ही रखनी होगी। यह तो केवल अधिकारों को प्राप्त करने का संग्राम है, ऐश्वर्य या सुख-भोग प्राप्ति का संग्राम नहीं है। यह धर्म का विनाश करने वालों के प्रति, अधर्म का साथ देने वालों के प्रति संघर्ष का शंखनाद है। अगर कौरव पांडवों को पांच गांव भी दे देते, तो शायद युद्ध की नौबत नहीं आती।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तुम्हारी यह सोच निर्मूल है कि इस युद्ध में मारे जाने वाले लोग जीवित हैं। इन सबकी आत्माएँ तो मर चुकी हैं। जिस आदमी की नैतिकता मर गई, उसकी आत्मा कभी जीवित नहीं कहला सकती। अगर हमारे हृदय से प्रेम, शान्ति, करुणा की मृत्यु हो चुकी है, तो तुम्हारा अपनी रूह से कोई रिश्ता नहीं रहा है। ये सब तो मृत हैं, जिन्हें मारने, न मारने से कुछ भी अन्तर आने वाला नहीं है। इनको मारने के लिये तो स्वयं भगवान ने अवतार ले लिया है, अपने भीतर के क्रोध, कषाय, बुराइयों, असत् विचारों को हटाने के लिए तो स्वयं तुम्हारे भीतर की आत्मा जग पड़ी है। अपनी अन्तर आत्मा की आवाज़ सुनो। उस अन्तर आत्मा की आवाज़, जिसमें ईश्वरत्व की शक्ति सोई हुई है। अपने भीतर के देवता की आवाज़ पर कान टेरो।

अगर आपके सामने किसी भी बहिन के साथ दुर्व्यवहार हो रहा है, किसी का घर जलाया जा रहा है और अगर आप चुपचाप खड़े देख रहे हैं, तो मैं नहीं जानता कि आपकी कोई आत्मा होगी। अगर रास्ते से गुजर रहे हो और रास्ते में देखते हो कि एक दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति खून से लथपथ पड़ा कराह रहा है और आप अपनी कार को धुआंधार गति से चलाते हुए उसके पास से गुजर जाते हो। उस समय अगर करुणा से अभिभूत होकर आप अपनी कार को नहीं रोकते हैं तो आप जीवित इंसान नहीं कहला सकते। तब आप चलती-फिरती लाश होंगे।

भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की घटना कहती है कि उन्होंने आग में जलते हुए नाग-युगल को आग से बाहर निकालकर धर्म की पुण्यमयी शरण प्रदान की, नतीजतन वह नाग-युगल धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में देवयुगल हुआ। ऐसे ही आप रास्ते से गुजरते हुए किसी घायल, मरणासन्न कबूतर को देखते हैं और उसे धर्म के दो शब्द सुना देते हैं, तो आपने धरणेन्द्र और पद्मावती होने का पुण्य कमा लिया। आपने कोई दान नहीं दिया, कोई मंदिर नहीं गये, फिर भी देवत्व को उपलब्ध हो गये।

अगर आपकी अपनी कोई आत्मा है, तो अपने इर्द-गिर्द कराहते लोगों, पीड़ा से संतप्त मानवता की सेवा के पुण्य कार्य के लिए आगे आओ। अगर तुम मन्दिर में बालकृष्ण की मूर्ति को माखन-मिश्री चढ़ाते हो और घर आकर अपने बच्चे के गाल पर चांटा लगाते हो, तो यह कैसी आराधना हुई? मन्दिर में बालकृष्ण की मूर्ति को माखन-मिश्री चढ़ाते हो, तो यह तो रोज़ का अभ्यास है। असली पूजा तो तब होगी, जब तुम घर जाकर अपने बच्चे के ही नहीं, अपने पड़ोसी के बच्चे के आंसू पोंछ पाओ।

स्वयं को स्वार्थ के शकुनि से मुक्त करो। जीवन हमारे लिए एक महान् पुरस्कार है। इसकी केवल इन्द्रिय-सुख में ही इतिश्री मत करो। इन्द्रियों के सारे विषय अनित्य हैं। पहले, ये सुख भले ही सुख-रूप में लगते हैं, लेकिन अंततः तो वे दुःखमूलक ही हैं। ठीक ऐसे ही, जैसे कोई कुत्ता हड्डी चबाता है, तो उसे चबाते समय खून भी मिलता है, मांस भी मिलता है। कुत्ता भले ही अपने आनन्द के लिये वह चबाता है, लेकिन यह उसकी मूढ़ता है। हड्डी में क्या मांस या खून होता है? वह मांस और खून तो स्वयं उसी के गाल से आता है और वह सोचता है कि क्या मजा आ रहा है। कुत्ता तो कुत्ता है। वह तो जानवर है, अबोध है, लेकिन हम तो समझ रखते हैं।

क्रोध की तरंग उठी और क्रोध कर बैठे, विकार की लहर उठी और विकार की पूर्ति का साधन जुटाने बैठ गये। इधर कोई कामना उठी और उधर उसकी पूर्ति का इंतज़ाम करने लगे। इतनी लंबी उम्र गुजारने के बाद भी मैं नहीं जानता कि आदमी जगा हुआ है, सचेतन, प्राणवंत और आत्मवान है। आदमी की स्थिति दयनीय हो चुकी है। एक साठ वर्ष का व्यक्ति भी शायद यह नहीं कर पायेगा कि वह अब ब्रह्मचर्य-व्रत का अमल कर रहा हो। दिन भर खाते रहने पर भी वह

यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि वह रात को भोजन नहीं करेगा। मैंने राक्षसों को देखा तो नहीं है, पर उनके बारे में यह जरूर सुन रखा है कि वे रात भर और दिन भर खाते रहते हैं। न भोजन पर संयम, न इच्छाओं पर नियंत्रण और न अपनी कामनाओं तथा वासनाओं के प्रति तितिक्षा का भाव। कहाँ जाकर पार उतरोगे? कब तक तुम मन्दिरों में जाकर दो रुपये के नारियल से भगवान को फुसलाते रहोगे और यह सोचते रहोगे कि मैंने तो भगवान को अपने पाप समर्पित कर दिये हैं और अब मैं पाप-मुक्त हो गया हूँ। जीवन की कोई तो सीमा-रेखा खींचो।

जीवन तो एक उपन्यास बन गया है। उपन्यास पढ़ने के बाद कोई पूछे कि क्या पढ़ा, तो कहेंगे टाइम पास किया। ज़िदगी बीत रही है। बस टाइम पास किया जा रहा है।

महाभारत का एक प्रसंग है : जब राजा ययाति सौ साल के हुए, तो मृत्यु उनके द्वार पर आई और कहने लगी—ययाति, तुम्हारा जीवनकाल अब पूरा हो गया है। ययाति ने कहा—मौत ! तू तो बहुत जल्दी आ गई। अभी तक तो मैंने जीवन को ढंग से जीया ही नहीं। मैं सौ साल और जीना चाहता हूँ, ताकि मैं अपनी कुछ कामनाएं, कुछ तृष्णाएं और पूरी कर सकूँ। मौत शायद आज जितनी अड़ियल न थी, झाँसे में आ गई और कह दिया—ठीक है, तुम्हारे सौ संतानें हैं, उनमें से एक को मेरे साथ भेज दें। ययाति ने अपने बेटों से पूछा, तो बेटों ने कहा—पिताजी, अभी तक तो हमने ज़िदगी का मजा ही नहीं लिया, पर सबसे छोटा बेटा मान गया। उसने कहा—कोई बात नहीं पिताजी। अगर मेरे मरने से आपको सौ साल की ज़िदगी मिल जाती है, तो मैं मरने के लिये तैयार हूँ और वह मर गया।

सौ साल बाद फिर मौत आई। इन सौ सालों में उसके पहले वाले सौ बेटे मर गये और सौ बेटे पैदा हो गये, लेकिन ययाति की वही तृष्णा, वही जीवेषणा। फिर एक बहाना ढूँढा गया, फिर छोटा वाला बेटा मरा और ययाति को सौ साल का जीवन मिला। इस तरह ययाति नौ सौ साल जीया। जब एक हज़ारवां वर्ष होने लगा, तो मौत फिर आई और छोटा बेटा फिर मरने के लिए तैयार हुआ। तब छोटे बेटे ने मौत से कहा—मृत्यु, मैं तुम्हारे साथ चलने के लिए तैयार हूँ। तुम्हें पता है कि मैं नौ बार मर चुका हूँ। आज मैं तुम्हारे साथ अन्तिम बार जाने से

पहले पिताजी से एक सवाल पूछना चाहता हूँ। मेरा सवाल यह है कि पिताश्री ! आप अब तक एक हज़ार साल जी चुके हैं। क्या आपके जीवन में तृप्ति आ चुकी है ? क्या आपके मन की कामनाएँ तृप्त हो चुकी हैं ?

ययाति ने अपने बेटे का प्रश्न सुनकर कहा—‘बेटे, अब तुमसे क्या छिपाना। मुझे तो अभी भी यही लगता है कि और जीना चाहिये, और बटोरना चाहिये, और भोगना चाहिये। मन की दुर्दशा ही ऐसी है, लेकिन अब तुम मत मरो बेटे। अब तुम्हारी जगह मैं मर जाता हूँ।’ यह सुनकर बेटे ने कहा—‘पिताश्री, आप अब और सौ साल जीओ। मैं जीवन की समझ पा चुका हूँ। जो व्यक्ति हज़ार साल तक हज़ार रानियों के साथ जीकर भी अपने जीवन से तृप्त नहीं हो पाया, मैं सौ साल जीकर कौन-सा तृप्त हो जाऊँगा।’ कहते हैं तब मृत्यु भी एक किनारे हट गई और एक जीवित व्यक्ति स्वर्ग लोक पहुंचा। जो व्यक्ति अपनी मृत्यु को मार देते हैं, वे जीवित ही पहुँचते हैं। मृत्यु उन्हें मार नहीं पाती। इसीलिए तो कृष्ण ने गीता में यह महान् सूत्र दिया—

नैनं छिंदति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

इस आत्मा को न तो शस्त्रों से काटा जा सकता है, न ही इसे आग में जलाया जा सकता है। न जल इसे गला सकता है और न इसे हवा में सुखाया जा सकता है।

आत्मा तो मुक्त है, जलेगी तो काया जलेगी। आत्मा चिताओं में से सौ-सौ बार गुजरने पर भी जीवित रहती है, अदाह्य रहती है। एक आदमी को चाहे सौ-सौ छुरे घोंप दो, फिर भी आत्मा तो अकाट्य रहती है। व्यक्ति को एक बार नहीं, सैकड़ों बार पानी में डुबोया जाये, तो भी आत्मा नहीं गल सकती। अशोष्य रहती है। आत्मा तो अकाट्य, अछेद्य, अभेद्य है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा—यहाँ जितने भी दुःशासन खड़े हैं, उनको जड़ से उखाड़ फेंको, अर्जुन !

यह मृत्युलोक है। यह शरीर तो ठीक ऐसे ही है, जैसे पुराना वस्त्र उतार कर रख दिया जाता है और नया वस्त्र पहन लिया जाता है। इसलिए तुम घबराओ मत, न युद्ध से भयभीत होओ। महावीर कहेंगे अपने भीतर की दुष्प्रवृत्तियों को जितना जल्दी हो परास्त और पस्त कर सको, कर दो। इसी में तुम्हारा पौरुष,

तुम्हारी बहादुरी निहित है ।

यदि तूने धर्मयुक्त युद्ध नहीं किया, तो अपकीर्ति का पात्र बनेगा । शत्रु तेरे सामर्थ्य की खिल्ली उड़ायेंगे । यदि तू युद्ध में मारा भी गया, तो धर्मयुद्ध के लिए बलिदान होने का कारण तू स्वर्ग का सम्राट होगा और जीत गया, तो पृथ्वी का राज्य तुम्हारे लिए होगा । जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर इस जीवन-युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । आसक्ति को त्यागकर सिद्धि-असिद्धि में समत्व लाओ । समत्वयोग ही बुद्धियोग है, ज्ञानयोग है ।

तुम्हारी अंतरात्मा तुम्हें भीतर आने का आह्वान कर रही है, तुम्हें निमंत्रण दे रही है । भीतर बैठा हुआ परमात्मा तुम्हें प्यार-दुलार करने को आतुर है, वह तुम्हें दर्शन देना चाहता है । अगर परमात्मा का दर्शन पाना है, तो एक कृपा करो कि अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाओ । ठीक वैसी ही निर्मलता आनी चाहिये, जैसी मन्दिर जाने से पहले स्नान के बाद आती है । इतना ही निर्मल, इतना ही पावन अपने चित्त को, अपने मन को, अपने अन्तःकरण को करो, ताकि उस निर्मलता के मन्दिर में, उस मन-मन्दिर में परमपिता परमात्मा आपको दर्शन दे सकें, जिससे आपकी अन्तरात्मा की आँखें तृप्त, सन्तुष्ट और आनन्दमग्न हो सकें ।

अपनी दृष्टि और बुद्धि को विचलित मत करो । स्थिरबुद्धि के स्वामी बनो, स्थितप्रज्ञ बनो । तुम्हें बड़े ही धैर्य से यह जीवन-युद्ध लड़ना है । विषयों का चिन्तन करके या उनके प्रति आसक्त होकर नहीं । कामनाओं को त्यागो, ममत्वरहित बनो, मैं और मेरे का भाव हटाओ, चित्त की शान्ति प्राप्त करो और चुनौती का सामना करो । मैं, मेरे आशीष तुम्हारे साथ हैं ।



कर्मयोग का आह्वान

कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में अर्जुन के कायर होते कदमों को थामने के लिए श्रीकृष्ण ने उन्हें ज्ञान-योग का संदेश प्रदान किया। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट कर चुके थे कि इन्द्रियों के विषय और उनके सुख क्षण-भंगुर, दुःख-बहुल और अनित्य हैं। यह शरीर आज नहीं तो कल मृत हो जाने वाला ही है। आत्मा जीवन की हर आंख-मिचौली के बीच अविनाशी है, उपद्रष्टा है। जीवन केवल शरीर ही नहीं है। शरीर तो अन्ततः माटी है। जिनका ध्यान अगर माटी पर ही केन्द्रित रहा, वे माटी में ज्योतिर्मान रहने वाली लौ को गौण कर जायेंगे। शरीर माटी है, लेकिन इस माटी में जलने वाली ज्योति माटी नहीं है। ध्यान अगर माटी पर केन्द्रित हो गया, तो ज्योति की मूल्यवत्ता व्यर्थ हो जायेगी।

जिनके लिए जीवन मृत्यु के नाम पर समाप्त हो जाता है, वे लोग चूक कर रहे हैं। उनके लिए जीवन कुछ तत्त्वों का संयोग है और मृत्यु उन तत्त्वों का बिखराव है। जीवन के अन्तर्गत रहने वाली आत्मा हर पर्याय के परिवर्तन के बावजूद अपरिवर्तनशील रहती है। शरीरों में परिवर्तन हो सकता है, स्थान और समय में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन आत्मा हमेशा अपरिवर्तनशील रहती है। वह तो चिरनवीन है, नित्यनूतन यात्री की तरह है। उसमें परिवर्तन नहीं होता। चूंकि उसमें परिवर्तन नहीं होता, इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को यह उद्बोधन देते

हैं कि आत्मा की दृष्टि से पूरी तरह निश्चिंत रह। जो जीवित हैं वे इस महासंग्राम के बाद भी जीवित रहेंगे और जो बाद में मृत हैं, वे आज भी मृत हैं।

यदि किसी व्यक्ति के चित्त से गुजर जाने पर कोई यह कहे कि इस आदमी का सब कुछ खत्म हो गया, तो मैं कहूंगा कि ऐसी बात वही व्यक्ति कहेगा, जिसकी आंखें खुली नहीं हैं। जिसकी आंखें खुली हैं, उसके लिए जीवन जीवन से पहले भी है और मृत्यु के बाद भी है। जिस शरीर को तुम गिरना समझते हो और गिरने के नाम पर जीवन का समापन समझते हो, वह शरीर तो ताश के पत्तों की तरह है। ताश के पत्तों का महल जब तक खड़ा है, तब तक खड़ा है और जैसे ही हवा का एक झोंका स्पर्श करेगा, वह धराशायी हो जायेगा। जैसे बच्चे ताश के पत्तों के महल के गिर जाने पर रोते हैं, चीखते-चिल्लाते हैं, उसी तरह बड़े लोग भी जीवन के महल के गिर जाने पर आँसू ढुलकाते हैं। आँसू वे लोग ही ढुलकाते हैं, जो जीवन को पूरी तरह समझ नहीं पाते।

कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान-योग का संदेश दिया। कृष्ण का ज्ञान-योग यही है कि मृत्यु से गुजर जाने के बावजूद तुम अपने आपको मृत मत समझो, मृत्यु द्वारा द्वार पर दस्तक देने पर तुम शोकमग्न मत होओ। तुम्हारी ओर से सदा यह तैयारी रहे कि जब भी मृत्यु आए, तुम काया को सर्प की केंचुली की तरह निर्विकार-भाव से उतारकर सौंप देना और नई यात्रा पर निकल पड़ना। पृथ्वी-ग्रह से मुक्त हो जाना और किसी नये ग्रह की ओर छलांग लगा जाना। जब कृष्ण द्वारा अर्जुन को ज्ञान-योग का उपदेश दिया गया, तो अर्जुन ने भगवान से पूछा—आपने मुझे इतना महान् उपदेश दिया है। मैं इससे अभिभूत और प्रभावित हुआ; फिर आप मुझे कर्मयोग की प्रेरणा क्यों दे रहे हैं? एक ओर आप मुझे योग का संदेश देकर जीवात्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, वहीं आप मुझे कर्मयोग की प्रेरणा देकर पुनः इसी संसार में मोहित कर रहे हैं। श्रीकृष्ण ने कहा—मैं तुम्हें कर्मयोग की प्रेरणा इसलिए दे रहा हूँ, क्योंकि बगैर कर्म के कोई भी आदमी जीवित नहीं रह सकता। बगैर कर्मयोग के तुम अपने शरीर का भी निर्वाह नहीं कर सकते। ज्ञान का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि तुम बस्ती को छोड़कर जंगल में प्रवास करो। वरन् ज्ञानयोग का अभिप्राय यह है कि तुम ज्ञानपूर्वक अपने कर्मयोग को सम्पन्न करो। कर्म करना तुम्हारा अधिकार है, कर्तव्य है, मगर फल की इच्छा को दरकिनार किया जाना चाहिये। कर्तव्य-कर्मों

को करते हुए फल की इच्छा न रखना त्याग का बहुत बड़ा रूप है ।

अगर तुमने अपना मुंह कर्मयोग से मोड़ लिया, तो यह तुम्हारे मनुष्यत्व पर पूरी तरह से जंग लगने के समान होगा । अगर तुम कर्मयोग से विमुख हो जाते हो, तो यह तुम्हारे बाजूओं का अपमान होगा ।

(कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ।

कर्म करना तुम्हारा अधिकार है । फल क्या मिलेगा, इसे तुम प्रकृति पर छोड़ दो । माना फल प्राप्त करने के लिए कर्म किया जाता है, लेकिन अगर तुम फल को ही महत्व देते रहे, तो कर्म सही तौर पर कभी नहीं कर पाओगे । कर्म ही ऐसा करो कि कर्म करना ही कर्म का फल हो जाये । संकल्प और उत्साह के साथ किया गया कर्म, किया गया श्रम स्वतः तुम्हें फल तक पहुँचाएगा, सफलता के शिखर छुआएगा । तुम्हें तो निश्चित तौर पर अपने पुरुषार्थ का उपयोग करना है । काम करो, मेहनत करो, सृजन के गीत गुनगुनाओ, जीवन के संघर्षों को स्वीकार करो । कर्म को अपनी पूजा बनाओ । 'वर्क इज वरशिप'—कार्य ही पूजा है । तन्मयतापूर्वक कार्य को सम्पादित करना राष्ट्र की भक्ति है ।

तुम अगर भगवान की पूजा करते हो, तो भगवान कहेंगे कि तुम कर्म ही ऐसा करो कि तुम्हारा कर्म ही मेरी पूजा हो जाये । न तो केवल पूजा करने से पूजा होती है और न आशीर्वाद मांगने से आशीर्वाद मिलता है । कर्म ही जब पूजा बनता है, कर्म ही जब आशीर्वाद बनता है, तब सही तौर पर अर्जुन और कृष्ण के बीच, आत्मा और परमात्मा के बीच, संसार और सृष्टा के बीच सही सेतु, सही संबंध स्थापित होता है । फिर से किसी 'इन्द्रप्रस्थ' का निर्माण होता है । तुम जीवन से संघर्ष नहीं कर पा रहे हो । तुममें जीवन से पलायन करने की भावना उग्र रूप लेती जा रही है । इसी का तो परिणाम है कि जो भारत कभी सोने की चिड़िया कहलाता था, आज वह समस्याओं से जूझ रहा है ।

अर्द्ध-शताब्दी पहले हिरोशिमा-नागासाकी नगरों पर बम गिराये गये । वे दोनों नगर तहस-नहस हो गये, लेकिन वे आज आबाद हैं । उसी दौरान जर्मनी और जापान जैसे नगर युद्ध की आग में जल रहे थे जिसका प्रभाव यह हुआ कि वे अपने उस समय से काफ़ी पिछड़ गये, लेकिन कुछ ही वर्षों में वे देश विश्व-क्षितिज पर अग्रिम पंक्ति के रूप में उभरे । इस उन्नति का एक ही कारण

रहा कि वहाँ के जन-जन की श्रम के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा ने उन देशों को पुनः स्वर्णिम गौरवमय स्थान दिलाया । उन देशों ने कर्म से पलायन नहीं किया, जबकि हमारे देश में ऐसा नहीं हुआ । हमने कर्मयोग से अपने आपको पीछे धकेल लिया है । अच्छा होगा अगर इस देश को आबाद करना है, ऊंचा उठाना है, तो निश्चित तौर पर हमें कृष्ण के कर्मयोग से जुड़ना होगा ।

नये सृजन के लिए उठाओ अपनी बाँहें
आज देश की धरती का शृंगार करो ।

कलुषित मनोवृत्ति को गाड़ो आज कब्र में
आज नये सरगम के स्वर लहराये जाते ।

आज भुजाओं के पौरुष का मान बढ़ा है
आज स्वेद-कण के सागर शर्मिये जाते ।

देखो हल की नोक सृजन का बिरवा बोती
देखो आज हथौड़े ने शृंगार किया है ।

देखो उठी कुदाली की इस सृजन शक्ति को
जिसने जर्जर ढाँचे को आधार दिया है ।

तट पर खड़े लहर गिनने से क्या संभव है
साहस है तो चलो, आज मझधार चलो ।

मोड़ चलो रफ्तार बाढ़ के इस पानी की
साहस हो तो तूफानों को बाँध चलो ।

श्रमचोरों की शक्ति सिर्फ दिखलावे की है
धन से नहीं, पसीने की बूंदों से प्यार करो ।

नये सृजन की नींव रखो धरती पर
नयी कल्पना-प्रेयसी का शृंगार करो ।

हम अपने हाथ नये सृजन के लिए आगे बढ़ायें और इस धरती को नये सिरे से सजाएँ-संवारें । अपने मन में पल रही कलुषित मनोवृत्तियों को कब्र में दफना डालें । तभी फ़िजाओं में नये गीत, नई स्वर लहरियाँ उभरेगी । जब हल की नोक, हथौड़े का प्रहार और कुदाली का धरती से हर स्पर्श नव-सृजन को जन्म

दे रहा है, तो हम हाशिये पर क्यों हैं ? किनारे पर खड़े होकर लहरों को गिनने से कुछ भी संभव नहीं है । तुम्हारे साहस की परीक्षा तो तभी होगी, जब तुम धारा के विपरीत चल पाने का साहस जुटा पाओ, तुम तूफ़ानों को भी बाँध पाने की क्षमता अपने में उत्पन्न कर पाओ । जो श्रम से मुंह मोड़ते हैं, उनकी शक्ति मात्र छलावा है । तुम इन छलावों से बचो, अपने जीवन में श्रम का, कर्मयोग का मूल्य स्वीकार करो ।

कृष्ण तो स्वयं ही कर्मयोग के प्रतीक हैं । कर्म उनकी भाषा है, कर्म ही उनकी आत्मा है । कर्म है तो कृष्ण है, कर्म नहीं तो कृष्ण, कृष्ण नहीं । युद्ध उनके कर्मयोग का एक चरण है । वे केवल युद्ध की प्रेरणा देते हैं, ऐसा नहीं है । उनकी पहली प्रेरणा तो शान्ति को ही बरकरार रखना है । युद्ध कभी शान्ति का धाम नहीं हो सकता है । युद्ध तो मजबूरी है । कृष्ण ने पहले तो यही पहल की थी युद्ध टल जाये, पांडवों को पांच ही गांव मिल जायें । युद्ध तो तब अनिवार्य हुआ, जब उन्हें यह कहा गया कि शान्ति की बात करने वालों को यहाँ भीख मांगते शर्म नहीं आती । पांडवों को हमसे जमीन मांगने का कोई हक नहीं है । उन्हें एक इंच भी जमीन नहीं मिलेगी । कौरवों को अपने राज्य का, अपनी जमीन का इतना दंभ ! किसका साम्राज्य सदा रहा है ? करोड़पति को रोड़पति होने में कोई लम्बे फासले तय नहीं करने पड़ते । किसका गुरूर यहां बना रहा है—सबै भूमि गोपाल की । इस राष्ट्र की माटी सबके लिये है और अपनी मातृभूमि पर रहने का सबको हक है । अगर भाई अपने ही भाइयों के प्रति वैर-विरोध करे, तो मनुष्य का धर्म निठल्ले बैठे रहने को नहीं कहता, उसे निष्क्रिय-अकर्मण्य बने रहने को नहीं कहता ।

कृष्ण तो क्या, कोई भी समझदार आदमी युद्ध नहीं चाहेगा, महाभारत को तो मजबूरी का महात्मा समझो । कृष्ण युद्ध के प्रेरक नहीं, वरन् शान्ति के दूत हैं । कृष्ण का रणछोड़ नाम इसीलिए तो पड़ा । कोई अगर यह कहे कि कृष्ण मैदान छोड़कर भाग गये, तो कृष्ण को यह कलंक भी मंजूर है परन्तु राज्य में, राष्ट्र में शान्ति स्थापित होनी चाहिये । कृष्ण को तो अपनी द्वारिका बसाने के लिये जगह मिल गई थी, परन्तु पांडवों को तो वह भी न मिली । अगर जंगल भी मिल जाता, तो भी कृष्ण पांडवों को श्रम की प्रेरणा देकर एक बार दुबारा इन्द्रप्रस्थ बसा लेते, किन्तु पुत्र-मोह में अंधे धृतराष्ट्र को कृष्ण और विदुर कांटे ही लगे ।

मनुष्य को श्रम और कर्मयोग अनिवार्यतः करना चाहिये । मनुष्य ही क्यों

सूरज, चांद, सितारे भी लगातार कर्मयोग में मशगूल हैं। जानवर और पक्षी-पंखेरू भी अपने जीवन की व्यवस्थाओं के लिए कर्म करते हैं, फिर मनुष्य ही पीछे क्यों रहे। हमें भारत को स्वर्ग बनाना चाहिये और यह स्वर्ग बंद कमरों में बैठने से नहीं होगा। हमें आगे आना होगा। 'चरैवेति-चरैवेति' के सूत्र को अपनाना होगा। प्रमाद को त्यागना होगा। कलयुग के मुर्दापन को भगाना होगा; द्वापर और त्रेता के भाव को जगाना होगा।

कृष्ण के हाथ में सुदर्शन है। सुदर्शन चक्र स्वयं कर्मयोग का परिचायक है। बढ़ते अपराधों के कारण शिशुपाल पर सुदर्शन-चक्र चलाना और बेइज्जत होती द्रोपदी का चीर बढ़ाना—दोनों ही कर्म हैं। चक्र के मायने हैं जो चलता रहे वह चक्र। सुदर्शन-चक्र जैसे कर्मयोग की प्रेरणा दे रहा है, ऐसा ही हमारे यहाँ का मंगल चिह्न 'स्वस्तिक' भी सारी मानवता को कर्मयोग की प्रेरणा दे रहा है। स्वस्तिक की चार रेखाएँ और उन चार रेखाओं से निकलती और चार रेखाएँ मनुष्य को हर दिशा और हर दशा में श्रम और कर्म की सीख देती हैं।

बूढ़े और बच्चे में फर्क क्या है। बूढ़े और बच्चे में मूल फर्क है कि बच्चे नहीं जानते और बूढ़े जानते हैं। बच्चे का न जानना सच है। बूढ़े का जानना झूठ है। बचपन में स्मृति नहीं है। बचपन ऐसा ही है जैसे छोटी हिलती हुई पत्ती। बच्चों के लिए जगत बहुत रंगों से भरा हुआ है। बहुत गीत हैं, बहुत ध्वनि से भरा हुआ मालूम पड़ता है। धूप स्वर्णिम लगती है, चाँदनी चाँदी जैसी। बचपन में विस्मय की आँख है। बुढ़ापे में जानने का दंभ है। जगत् से संबंध टूटते हैं, तो बुढ़ापा है। जगत से सम्बन्ध बनते हैं तो बचपन है। कृष्ण का कर्म बचपन की जिज्ञासा है, बचपन का विस्मय है, बचपन का रंग है। कर्म की फलश्रुति को जीतकर ही कर्मयोग को समझा जा सकता है।

कहते हैं यूनान में किसी वजीर को एक सम्राट ने फाँसी दे दी। सुबह तक सब ठीक-ठाक था, दोपहर वजीर के घर सिपाही आये। उन्होंने वजीर के मकान को चारों ओर से घेर लिया। वजीर को खबर की गई कि शाम को उसे फाँसी दे दी जायेगी। वजीर के घर उसके मित्र आये थे। एक बड़े भोज का आयोजन था। कहानी कहती है कि वह वजीर का जन्म-दिन था। संगीत भी था, वीणा बज रही थी। लोग नाच रहे थे। राजा के हरकारे के पहुँचने पर वीणा बन्द हो गई, नाच रुक गया, दोस्त उदास हो गये। पत्नी और घर की महिलाएँ रोने लगीं। वजीर

ने कहा, यह क्या करते हो ? यह कैसी नादानी ? अभी शाम होने में बहुत देर है । तब तक गीत पूरा हो जायेगा, भोजन पूरा हो जायेगा । राजा की बड़ी कृपा है कि उसने शाम तक का वक्त दिया । मित्रों ने कहा, यह तुम क्या कहते हो ? अब कैसे भोजन हो सकता है, कैसे बजेगी वीणा ? वजीर ने कहा, इससे अनुकूल और क्या परिस्थितियाँ हो सकती हैं । इससे अनुकूल और क्या हो सकता है । मृत्यु से पहले मुझे अच्छा भोजन, अच्छा संगीत, अच्छे मित्र, जिसे एक बार भी चाहा हो वे सब मेरे पास हैं । मृत्यु के लिये इससे बेहतर अवसर और क्या हो सकता है ।

राजा को पता चला कि वजीर के यहाँ तो नृत्य हो रहा है । राजा खुद देखने आया । उससे रहा नहीं गया । उसने वजीर से कहा, यह क्या कर रहे हो । शाम को तुम्हें फाँसी हो जायेगी ! वजीर ने कहा, राजन् तुमने अच्छा किया, जो आ गये । इन आँखों ने तुम्हें भी चाहा था । मैं सोच रहा था कि कोई प्रिय बच गया है । तुम भी साथ ही भोजन कर लो तो अच्छा हो । राजा ने कहा, जिसने मौत को जीत लिया है, उसे मृत्यु-दण्ड देने से क्या होगा । उसे तो जिन्दा रहना ही चाहिये ।

यह कृष्ण का कर्मयोग है । महावीर ने इसी को “वत्युसहावोधमो”, धर्म स्वभाव है ऐसा कहा । वह जो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है, धर्म है । यही कारण है कि महावीर का धर्म हिन्दू, जैन, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान नहीं है । महावीर कहते हैं—धर्म का अर्थ है जो तुम्हारा गहनतम स्वभाव है, वहीं तुम्हारी शरण है ।

इसीलिए जो बदल रहा है वह मैं नहीं हूँ । यह महावीर की चेतना का हिस्सा है । और यही कृष्ण की व्याख्या भी । जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर साफ-सुथरे, राजमार्ग को छोड़कर विषम, टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़, मार्ग पर चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूटने पर शोक मनाता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी जान-बूझकर धर्म को छोड़ अधर्म को पकड़ लेता है और अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचने पर, जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है । मूर्खता का अर्थ अबोधता नहीं है । बालक मूर्ख नहीं होता, जानवर मूर्ख नहीं होता है । मूर्खता जानकार का ही लक्षण है । कृष्ण कहते हैं कर्म को समझ, तभी कर्म-योग घटित होगा ।

हमने कर्मयोग को बहुत ही संकीर्ण अर्थों में लिया है । लोग सुबह-सुबह

घंटों आराम से बैठे रहते हैं, इसको भी वे कर्मयोग का एक अंग मानते हैं। जहाँ अन्यत्र प्रार्थनाएँ, व्यायाम और स्वास्थ्य के इंतजाम हो रहे हैं, हिन्दुस्तानी पूरी तरह निस्तेज पड़ा है, सुबह नौ-दस बजे तक खरटि भर रहा है। जीवन के प्रति आदमी बेइमान हो गया है। राष्ट्र और धर्म का गौरव उसके हाथ से फिसल गया है। तब इस देश का कायाकल्प कैसे होगा? स्वावलंबिता इतने खतरे में आ गई है कि लोगों को बिस्तर में पड़े-पड़े ही चाय चाहिये। दंतुअन का पता नहीं, बासी मुंह साफ किया नहीं और शहजादे को चाय चाहिये! जिस देश में दूध-घी की नदियाँ बहा करती थीं, आज उस देश, उस समाज के हालात तो देखो। आज गांव-गांव में शराब, अंडे, मांस का सेवन किया जा रहा है। हम किस संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं। जबकि हमारी संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट होती चली जा रही है। जिस देश ने सारे संसार को संस्कृति के महान् आदर्श दिये हैं, वही देश आज अपनी सांस्कृतिक धरोहर से, सांस्कृतिक सिद्धान्तों से, सांस्कृतिक अवदानों से पूरी तरह नीचे गिरता चला जा रहा है।

सिवाय राजनीति और सैक्स के तुम्हें अखबारों में भी कुछ पढ़ने-देखने को नहीं मिलेगा। समाज के उत्थान के नाम पर लोग श्रम करने की बजाय एक-दूसरे से मांगते फिरते हैं। भीख मांगने को भी हमने कर्मयोग से जोड़ लिया है। मांगने के लिए अपने हाथों को औरों के सामने फैलाकर हमने अपने समाज और देश का इतना सत्यानाश कर डाला है कि लोग सोचते हैं कि मांगने से ही अगर मिल जाता है, तो कमाएँ किसलिए, क्यों मेहनत की जाये? भीख मांगना भी एक कर्मयोग! भिखारी से कहो कि तुम भीख मत मांगो, तुम मेरे यहां मजदूरी करो, मैं तुम्हें बीस रुपये मेहनताना दूंगा, तो भिखारी का जवाब होगा—तुम अगर मेरे साथ भीख मांगो, तो मैं तुम्हें चालीस रुपये देनगी दूंगा। ऐसी स्थिति में सोचो इस देश की हालत क्या होगी?

हम और देशों के कर्जदार हो गये। 'जहाँ डाल-डाल पर सोने की चिड़िया करती है बसेरा, वो भारत देश है मेरा।' अब ऐसी पंक्ति केवल कविताओं में अच्छी लगती है। यथार्थ कुछ और है।

महंगी रोटी, महंगी चीनी, महंगा सब सामान
बेच रहे हैं, देश की शान, फिर भी मेरा देश महान्।

सच तो यह है कि देश को आजाद हुए पचास साल हो गये हैं, पर पचास में से 'पांच' राजनेताओं के कंधे पर है, जनता के हाथ में तो 'जीरो' ही है। देश को भिक्षा का पात्र मत बनने दो। देश की जनता जागे, हर आदमी यह सूत्र स्वीकार करे—श्रमेव जयते। श्रम के द्वारा ही जय-विजय है, सफलता है।

मैं देखता हूँ कि लोग जरूरतमंदों के लिए चंदा इकट्ठा करते हैं। धर्म के नाम पर कुछ जरूरतमंदों को सहायता देते हैं। अनाथ और विकलांग आदमी को सहायता दी जाये, तो बात जंचती है। हालांकि उनके स्वाभिमान को भी जगाया जाना चाहिये। उन्हें भी पांवों पर खड़े होने का सहयोग और प्रोत्साहन दिया जाये। मेरी समझ से क्यों न हम व्यक्ति को कमाकर खाने की प्रेरणा दें। भीख मांगना या सहायता मांगना यह कौन-सा महान् कार्य हुआ। धंधा छोटे-से-छोटा ही क्यों न हो, अपनी आजीविका के लिए श्रम करो। यदि व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक धंधा छोटा है, उसमें मैं हाथ कैसे डालूँ, तो यह उसकी गलत सोच है। लोगों के आगे हाथ पसारने से तो अच्छा है कि तुम छोटे-से-छोटा धंधा ही कर लो। हाथ तुम्हारी तरफ से लोगों को कुछ देने के लिए आगे बढ़ायें, मांगने के लिए नहीं। आखिर भीख जैसा घृणित काम क्यों किया जाये। नवजीवन का, नवसमाज का, नवभारत का, नवविश्व का निर्माण करने के लिए हमें श्रम और सृजन को अपना मित्र बनाना चाहिये।

कर्मयोग कृष्ण का महान् सन्देश है। कर्मयोग तुम्हारी पूजा बन जाये, परमात्मा का मंगल आशीष बन जाये, ऐसा कोई प्रयास हो।

जीवन से पलायन नहीं, जीवन के साथ जैसी परिस्थितियाँ हैं, उन्हें स्वीकार करें, जीवन से संघर्ष करें। उपद्रव उत्पात चाहे जो आयें हम तूफानों से घबराएँ नहीं, अपने जीवन की किशती को उल्टे तूफानों की ओर बढ़ने दें। पुरुषार्थ को अरिहंत का रूप लेने दें, पुरुषार्थ को सिकन्दर होने का अवसर दें।

किशती को भंवर में घिरने दें,
मौजों के थपेड़े सहने दें।

तूफानों के द्वारा जो ऊंची-ऊंची तरंगें और ज्वारभाटा उठ रहे हैं, उनका सामना करो। अपनी किशती को भंवर में जाने दो। भंवर हमारा दुश्मन नहीं, हमारी कसौटी है, चुनौती है। हमारा आत्मबल और बाहुबल कितना है इसकी परीक्षा है।

जिंदों में अगर जीना है तुझे,
तूफान की हलचल रहने दे
धारे के मुआफिक बहना क्या,
तौहीने दस्तो-बाजू है ।
परवर्द-ए तूफ़ाँ किशती को,
धार के मुखालिफ बहने दे ।
किशती को भंवर में घिरने दे ।

अगर तुम्हें जिंदों के बीच रहना है, तो तूफानों से घबराओ मत । धारा के साथ बह मत जाओ, बहना तो मुर्दापन है । बहना है, तो धारा के विपरीत बहो और कर्मयोग को सार्थक करो । ऐसा प्रयास हो कि कर्मयोग तुम्हारा प्राण, श्वास-प्रश्वास बन जाये । कर्मयोग तुम्हारा विश्वास हो जाये । तुम्हारा पहला लक्ष्य तो कर्म होना चाहिये । कुछ करोगे, तो ही फल हाथ लगेगा । निठल्ला भला क्या पा सकेगा ? जो आदमी चलेगा वह ठोकर भी खायेगा, जो बोलेगा वह गलती भी करेगा । गूंगा क्या कर पायेगा ?

यदि एक शेर गुफा में जाकर बैठ जाए और सोचे कि उसका भोजन अपने आप ही उसके मुँह में पहुँच जायेगा, तो ऐसा होने वाला है नहीं । कर्म तो करना ही पड़ेगा । श्रमविमुख मनुष्य और कर्मविमुख समाज का भविष्य कभी स्वर्णिम नहीं हो सकता ।

गीता के तीसरे अध्याय का सूत्र है :

मयि सर्वाणि कर्माणि, संन्यस्याध्यात्म-चेतसा ।
निराशी-निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ॥

मुझ परमात्मा को अपने सारे कर्म समर्पित कर आशा रहित, ममता रहित और संताप रहित होकर तू अपने आपको युद्ध में प्रवृत्त कर ।

कर्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए गीता इसे दो भागों में बाँटती है । एक तो मानसिक कर्म और दूसरा बाहरी कर्म । कर्म का त्याग सदाचार का विधान नहीं है, बल्कि कर्मफल की ओर से उदासीनता है । गीता वासनाओं का उच्छेदन नहीं कराती, बल्कि उन्हें पवित्र करने का आदेश देती है । तय है कि गीता निष्क्रिय स्वतंत्रता को न तो स्वतंत्रता मानती है, न ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन । गीता मानती है कि शरीरधारी जीव नितांत रूप से कभी भी कर्म का त्याग नहीं कर

सकते हैं। बर्डसवर्थ ने कहा है आँख अपने काम के बिना, देखने के बिना नहीं रह सकती। न हम कान को यह आदेश दे सकते हैं कि वह सुनने का काम बंद करे। हम जहाँ कहीं रहेंगे, हमारी इच्छा के विरुद्ध या इच्छा के अनुसार अनुभव करना नहीं छोड़ सकते। इसीलिए गीता कर्म करने को प्रेरित करती है, कर्म-बंधन से मुक्त होने का आदेश नहीं देती। इसीलिए अर्जुन को आदेश था कि वह युद्ध करे। मुक्त आत्माओं का भी कर्तव्य है कि वे दूसरों को अपने भीतर की दैवीय शक्ति की खोज में सहायता करें। गीता संन्यास और त्याग में भेद करती है। सब प्रकार के ऐसे कर्मों का त्याग जो फल की आकांक्षा के लिए किये जाते हैं, संन्यास है और त्याग, कर्मों के फल को छोड़ देने का नाम है। इसीलिये गीता 'योगः कर्मसु कौशलम्' का सिद्धांत स्थापित करती है। ऐसा कर्म जो कुशलता से किया जाए। ऐसा कर्म जो बंशी की तरह किया जाए। बंशी में जैसे सुर भरे जाते हैं, वह उसी के अनुसार कर्म करने लगती है। वैसे ही स्वर और संगीत लहराते हैं।

मेरे गीत शोर थे केवल
तुम से लगी लगन के पहले ।
जैसे पत्थर भर होती है
हर प्रतिमा पूजन के पहले ॥
कोकिल जितना घायल होता,
उतनी अधिक कुहुक देता है ।
जितना धुंधुवाता है चंदन,
उतनी अधिक महक देता है ॥
मैं तो केवल तन ही तन था,
मुझ में जागे मन के पहले ।
जैसे कांच कांच रहता है,
कांच सदा दर्पण के पहले ॥
मुझ में संभावना नहीं थी,
दर्दों के दोहन के पहले ।
जैसे बांस बांस रहता है,
बांस सदा बंशी के पहले ॥

बांस बांसुरी के स्वर दे सकता है । उसमें सुर उतरने दो । संगीत का संसार स्वतः जन्मेगा । संगीत अपने आप उतर आएगा । बस, तन्मयता चाहिये; कर्म ही हमारी समर्पित आराधना हो जाये ।

कृष्ण कहते हैं कि तू पूरी तरह से अपने आपको समर्पित कर दे, कर्ता-भाव से मुक्त हो जा । करने वाला मैं हूँ—यह भाव ही तुम्हारे से छूट जाना चाहिये । जिस क्षण तुम्हारे भीतर से यह भाव छूटेगा, उसी क्षण तुम्हारे भीतर से आसक्ति उठ जायेगी । अनासक्त भाव से अगर व्यक्ति अपने कर्तव्य-कर्मों को करता रहे, तो कृष्ण की दृष्टि से वह व्यक्ति पूर्णरूपेण मोक्ष का अधिकारी होता है । कर्मयोग की प्रेरणा इसलिए है, ताकि व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर सके और ज्ञानयोग की प्रेरणा इसलिए है, ताकि संसार में रहकर भी वह निरासक्त और निर्लिप्त रह सके । यह सूत्र संसार में संन्यास की पहल है । कर्म करना संसार है और अनासक्ति संन्यास है । अनासक्ति-पूर्वक कर्म करना संसार में संन्यास की ही पहल है । यह व्यक्ति को गृहस्थ-संत बनाने की पहल है ।

व्यक्ति संसार में रहे, ताकि वह अपने परिवार, अपने समाज और राष्ट्र का भरण-पोषण कर सके तथा ज्ञानयोग के द्वारा आत्मनिष्ठ इसलिए रहे, ताकि व्यक्ति अपनी आत्मा के स्तर से नीचे न गिर जाये । यह ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय है । ऐसा नहीं है कि कृष्ण ने ही इस समन्वय-स्थापना का प्रयास किया वरन् कृष्ण से पूर्व भगवान् ऋषभदेव ने भी असि, मषि और कृषि का सन्देश देकर दोनों के मध्य समन्वय की सार्थक कोशिश की थी । असि यानी शस्त्रविद्या, मषि यानी लेखन कला व कृषि यानी उद्योग कला । ऋषभ ने तीनों की प्रेरणा दी । यह प्रेरणा कर्मयोग का ही प्रवर्तन है ।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—ये दोनों मिलकर ही जीवन को पूर्णता देते हैं । अकेला कर्मयोग भी अधूरा है और अधूरा ज्ञानयोग भी अपूर्ण है । जो व्यक्ति पूरी तरह से आत्मरमण कर रहा है, उस व्यक्ति के लिए तो कर्मयोग की कोई प्रेरणा नहीं है, लेकिन जो व्यक्ति संसार में रह रहा है, उसके लिए कर्मयोग की प्रेरणा है ही । कर्मयोग इसलिए कि भीतर का प्रमाद, भीतर की अकर्मण्यता निकल सके । जहाँ महावीर अप्रमाद की बात कर रहे हैं, वहीं श्रीकृष्ण कर्मयोग की प्रेरणा दे रहे हैं ।

हर आदमी संसार को त्यागकर संन्यासी और श्रमण नहीं हो सकता । लेकिन हर आदमी को ऊंचे लक्ष्य दिये जा सकते हैं, ऊंचे मार्ग दिये जा सकते हैं । बस, प्रमाद टूटे, तो बात बने । हमारी नसों में प्रमाद का ज़हर बेहिसाब घुल गया है ।

मैंने सुना है : दो मित्र सो रहे थे । एक ने देखा कि मकान का दरवाजा खुला है । उसने दूसरे मित्र से कहा, 'मित्र, ज़रा बाहर देखकर तो आओ कि बारिश हो रही है या नहीं ।' चूंकि उसे आभास था कि अगर मैं इसे सीधे-सीधे दरवाजा बंद करने के लिए कहूंगा, तो यह मुझे ही कह देगा कि दरवाजा तुम्हीं बन्द कर लो । तो दूसरे मित्र ने जवाब दिया—'एक बिल्ली अभी-अभी बाहर से आई थी । मैंने उसकी पीठ पर हाथ फेरा तो पाया कि वह गीली थी । इससे लगता है कि बाहर बारिश हो रही है ।' यह कहकर उसने करवट बदल ली ।

तो पहला बोला, 'ठीक है, खड़े होकर कंदील तो बुझा दे ।'

दूसरे ने कहा, 'तू अपनी आँखों को बंद कर ले, कंदील अपने-आप बुझ जायेगी ।'

पहला मित्र खीज़ उठा, उसने सीधे साफ कहा, 'अच्छा दरवाजा बंद कर दे ।'

तो सपाट जवाब मिला 'दो काम मैंने निपटा दिये हैं, अब तीसरा काम तू ही निपटा दे ।' और यह कहकर वह चादर तान सो गया ।

प्रमाद ही प्रमाद ! जीवन कोई प्रमाद से पार पड़ सका है ? निठल्लेपन से कभी किसी का निस्तार और उद्धार हुआ है ! कर्मण्यता चाहिये—कर्मण्येवाधिकारस्ते—कर्म तुम्हारा अधिकार है, अकर्मण्य मत बनो । मैं देखता हूँ कि लोगों के पास कोई काम नहीं है । बहुत फुर्सत है, फिर भी किसी से पूछा जाये, तो कहेगा बहुत व्यस्त हूँ । व्यस्तता कुछ भी नहीं है, केवल प्रमाद है, अकर्मण्यता है । इसी कारण व्यक्ति दीन-हीन और दरिद्र बना हुआ है ॥ अगर अपने जीवन का कल्याण चाहते हो, तो कृष्ण पहली बात यह कहेंगे कि कर्म करो, दूसरी बात, आसक्ति से रहित होकर कर्म करो और तीसरी बात कर्त्ता-भाव से मुक्त होकर कर्म करो । ये तीन सूत्र अगर व्यक्ति के जीवन में हैं, तो वह कर्मयोग करते हुए भी ज्ञानयोगी है । उस व्यक्ति के लिए कहीं कोई पाप नहीं है । वह परमात्मा का

पथिक है ।

अन्तिम चरण में अर्जुन ने कृष्ण से पूछा—भगवान ! आप मुझे ज्ञानयोग और कर्मयोग की प्रेरणा दे रहे हैं, लेकिन मेरा आपसे एक प्रश्न है कि व्यक्ति आखिर किस बात से प्रेरित होकर इतने ज्यादा पाप करता है ? तब कृष्ण कहते हैं कि काम ही वह एकमात्र तत्त्व है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति दिन-रात पाप करता रहता है । काम की आग मनुष्य के भीतर प्रज्ज्वलित है । यह ऐसी आग है, जो मनुष्य के जीवन को नरक बनाती जाती है । निरन्तर पचास वर्षों तक काम की आग में जलने के बावजूद मनुष्य इससे मुक्त नहीं हो पाता । यह आग तो क्या स्वर्ग, क्या नरक और क्या पृथ्वी, सर्वत्र फैली हुई है । काम की अग्नि ने जीवात्मा को नरक बना दिया है ।

जिस व्यक्ति को विषय-वासनाएँ प्रभावित नहीं करतीं, जो कंचन और कामिनी के भाव से मुक्त हो चुका है, वह इस धरती पर जीने वाला दूसरा परमेश्वर है । जब तक काम की यह आग जलती रहेगी, व्यक्ति पाप करता रहेगा । ऐसा नहीं कि व्यक्ति को ज्ञान नहीं है । व्यक्ति को ज्ञान तो है, पर गीता कहती है कि यह जो काम की अग्नि है, यह उस ज्ञान को आवृत कर देती है, उस ज्ञान को ढंक देती है । ठीक वैसे ही जैसे धुआं अग्नि को और माटी दर्पण को ढंक डालती है ।

काम मनुष्य का अंधकार है । तुम्हारा ध्यान माटी पर है और जिनका ध्यान माटी पर है, उनके भीतर की ज्योति व्यर्थ हो जाती है । वे व्यक्ति अपने अन्तःकरण में सही प्रेम को नहीं जी पाते, जिनके प्रेम का समापन काम में होता है । जब व्यक्ति का प्रेम काम से मुक्त हो जाता है, तो वही प्रेम राम का कारण हो जाता है । जीवन में या तो राम रहेंगे या काम । राम में काम या काम में राम-यह गड़बड़ नहीं चलेगी । अपने जीवन को संयमित कीजिए, नियंत्रित कीजिए ।

मैंने सुना है एक व्यक्ति रात में सो रहा था । सोते-सोते वह नींद में कुछ बड़बड़ाने लगा । जो दिन में होगा, वही तो रात में उभरकर आयेगा । वह किसी का नाम पुकार रहा था—प्रीति ! प्रीति !! पत्नी ने पति को झिंझोड़ा और पूछा कि तुम किस प्रीति की बात कर रहे थे ? पति संभला और सोचने लगा कि लगता है कोई बात मुंह से निकल पड़ी है । पत्नी के दूसरी बार पूछने पर वह सफ़ाई देते हुए कहने लगा—दरअसल रेस में कल जो घोड़ी अब्वल रही थी, उसी का नाम

प्रीति था। पत्नी चुप हो गई। अगले ही दिन जब फ़ोन की घंटी बजी, तो पत्नी ने फ़ोन उठाया। पति ने स्नान करते हुए ही पूछा—किसका फ़ोन है? पत्नी बोली—तुम्हारी उसी रेस वाली घोड़ी का...।

काम रास्ते निकालता है। विकृत चेतना विकृति के रास्ते निकाल ही लेती है। यह नरक की आग है, जो आदमी को जलाये जा रही है। मन में बैठी मेनका तुम्हें डिगाने को तैयार है। सावचेत होना होगा—नियंत्रण चाहिये, सजगता चाहिये। तुम मुझसे प्यार करना चाहते हो, तुम्हें प्यार करने की पूरी छूट है, बस, शरीर-भाव को वहीं रख आओ, जहाँ जूते और कमीज उतारी है।

मेरी सेज हाजिर है
पर जूते और कमीज़ की तरह
तू अपना बदन भी उतार दे
उधर मूढ़े पर रख दे,
कोई खास बात नहीं—
यह अपने-अपने देश का रिवाज है।

भारत का रिवाज आत्म-मिलन का है, हृदय-मिलन का है। विदेह-भाव से जिया गया प्रेम ही परमात्मा के प्रेम को जीना है। थोड़ी दृष्टि बदलो। जिस नर या नारी को देखकर तुम्हारा मन विकृत होता है, उसे नर या नारी के रूप में नहीं, नारायण के रूप में देखो। नर के आकार में निराकार को देखो। तब मन अपने आप शान्त हो जायेगा। मन में कोई उद्वेग उठ पड़े, तो ऐसा नहीं कि उसका दमन कर दो, बल्कि उसे देखो, समझो और अपने से निर्लिप्त और निरासक्त करने का प्रयास करो। यह समझने का प्रयास करो कि यह उद्वेग तुम्हारे मन का है, शरीर का है, तुम्हारी आत्मा का नहीं है। जैसे-जैसे व्यक्ति का ध्यान अपने शरीर से हटता चला जाता है, अपनी ज्योति पर केन्द्रित होता चला जाता है, वैसे-वैसे व्यक्ति काम के पाप से ऊपर उठता चला जाता है। जो व्यक्ति निष्पाप हो रहा है, कर्त्ता-भाव से मुक्त होकर संसार में जी रहा है, कृष्ण कहेंगे वह व्यक्ति संन्यासी है, गृहस्थ-संत है। उस व्यक्ति के लिए कहीं कोई बंधन का हेतु नहीं बचता। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं तुम अपने सारे कर्मों को मुझे अर्पण कर दो। वे दो तरह की भाषा एक साथ दे रहे हैं, एक संकल्प की भाषा और दूसरी, संकल्पों को पूरा करने के लिए संघर्ष की भाषा। समर्पण तो इस रूप में कि तुम्हारा कर्त्ता-भाव

गिर जाये और संघर्ष इस रूप में कि तुम अपने लक्ष्य को उपलब्ध कर सको । जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ का उपयोग नहीं करता, केवल प्रमाद में डूबा हुआ दिन-रात पाप-कर्म में प्रवृत्त है, भीतर की आग में झुलसता रहता है, मैं नहीं जानता कि वह आदमी इस धरती पर किसी काबिल है ।

न किसी की आंख का नूर हूँ,
न किसी के दिल का करार हूँ ।
जो किसी के काम न आ सके,
मैं वो एक मुस्के-गुबार हूँ ।

मैं न तो किसी के आंख की रोशनी बन पाया और न किसी के दिल की चाहत ही बन पाया । मैं तो वह मुट्टी भर धूल हूँ, जो किसी के काम न आ सके ।

जीवन एक मुट्टी भर धूल या राख का नाम नहीं है । जीवन जीवन है । जीवन अतीत में भी था, जीवन वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा । तुम्हारा कर्मयोग इस तरह कर्म के मैदान पर आ जाये कि कर्मयोग तुम्हारे लिये निर्माण और निर्वाण का साधन बन जाये । यदि तुम्हारे जीवन में कर्मयोग नहीं है, तो तुम न तो अपने जीवन का निर्वाह कर पाओगे और न ही समाज एवं राष्ट्र के ही अभ्युत्थान में अपनी भूमिका निभा पाओगे । बेहतर होगा तुम उन्नत लक्ष्य की ओर बढ़ो । युद्ध में प्रवृत्त होओ यानी जीवन-युद्ध में सन्नद्ध होओ ।

अपने कदम बढ़ाओ । राष्ट्र तुम्हारा आह्वान कर रहा है । महाभारत को तुम्हारी जरूरत है । मुक्ति का तुम्हें निमंत्रण है । जिस व्यक्ति के जीवन में ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय बना हुआ है, वह मुक्त हो ही जाता है । उसके लिये बंधन शेष नहीं रहते । वह चक्रव्यूह के बाहर होता है ।

आज इतना ही निवेदन है ।



मुक्ति का माधुर्य

हमारा जीवन प्रेम, शान्ति, माधुर्य और आनन्द से परिपूर्ण है और अगर परिपूर्ण नहीं लगता, तो इसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है। जीवन में एक अनुपम संगीत की संभावना है। प्रेम की रसधार छलकती रहे, शान्ति की वीणा बजती रहे और आनन्द का अमृत निर्झरित रहे, तो जीवन से बढ़कर न तो कोई मन्दिर है, न कोई अनुष्ठान और न कोई स्वर्ग है। मौसम इतना सुहावना है, बादलों से आसमान आच्छादित है। बादलों के घिर आने के बावजूद आसमान से न तो सूरज खोया है, न चांद खोया है और न कोटि-कोटि तारे विलुप्त हुए हैं। मेघावली के कारण सूरज और चांद, आसमान से बरसने वाला अनंत प्रकाश आच्छादित भले ही हो जाये, लेकिन वह विलुप्त नहीं हो सकता। जीवन का प्रेम, उसकी शान्ति, उसका माधुर्य और उसका आनन्द आवृत हो सकता है, आच्छादित हो सकता है, लेकिन समाप्त नहीं हो सकता।

समझ और सजगता का अभाव होने का कारण जीवन का संगीत विलुप्त हो गया है, जीवन का आनन्द समाप्त प्रायः हो गया है, जीवन का माधुर्य हमारे हाथ से छूट गया है। मेरे देखे, जीवन में रस है, भावों का रस; क्योंकि जीवन कोई व्यापार नहीं है और न ही यह व्यवहार या कर्तव्य है। जीवन का अस्तित्व इससे और आगे भी है। यदि जीवन से आनन्द का संगीत निष्पन्न होता हुआ नजर नहीं

आता, तो इसका दोष उन अंगुलियों का है, जो बांसुरी पर ढंग से सध नहीं पाई । अगर कृष्ण की बांसुरी से वह संगीत और वे स्वर-लहरियाँ ईजाद हो सकती हैं, जिससे सारा विश्व आलोड़ित हो जाये, तो हमारे जीवन में भी वे स्वर-लहरियाँ क्यों नहीं प्रस्फुटित हो सकती ?

मनुष्य के पास जीवन को आनन्दमय बनाने की कला नहीं है । यह बड़े ताज्जुब की बात है कि ठेठ बाहर से आदमी अपनी आत्म-शान्ति, अपनी आत्म-मुक्ति के लिये भारत तक पहुँच रहा है, लेकिन भारत का आदमी अनजान, बेखबर बना हुआ है । मनुष्य के हाथ में उसका अपना भाग्य नहीं रहा, इसीलिये मनुष्य भगवान भरोसे हो गया है । 'भारत भाग्य विधाता' विधाता ही भारत का भाग्य है । मनुष्य का जीवन पर भरोसा नहीं रहा । नतीजतन यहाँ का मनुष्य जीवन के आनन्द, उसकी शान्ति और उसके माधुर्य से वंचित है ।

गंगा के किनारे बैठा व्यक्ति ही मैल से सना हो, तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है । आगर नहाने का प्रयास भी किया जाता है, तो भी पशु की तरह, एक हाथी की तरह । हाथी कितना ही नहा ले, लेकिन बाहर आते ही पीठ पर मिट्टी ही उंडेलेगा । ऐसे ही हम सुबह-शाम अपने पापों को धोने का इंतजाम कर लेते हैं, लेकिन वे इंतजाम कोरे इंतजाम भर रह जाते हैं । पाप पूरे धुल नहीं पाते और पापों की परत, पापों की काई और चढ़ जाती है ।

धर्म-कर्म-मन्दिर-परमात्मा ये सब तो दूर की बातें हैं । आदमी का न तो धर्म के प्रति लगाव है और न पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक या परमात्मा के प्रति ही उसका जुड़ाव है । उसका लगाव तो धन और यश के प्रति है । इसके लिए वह सुबह से रात तक मेहनत करता है । मनुष्य की आसक्ति अपनी संतान के प्रति है; अपने व्यवसाय, पति या पत्नी के प्रति है । अगर जितना लगाव पत्नी के प्रति है, उतना ही मां-बाप के प्रति होता, तो बात काफ़ी कुछ हाथ में होती; जितना लगाव उसका धन के प्रति है, उतना ही धर्म के प्रति होता, तो लगाम उसके हाथ में रहती । आदमी के हाथ में तो बस धन आना चाहिये । धन के कारण आदमी धर्म को भी दरकिनार कर सकता है ।

धन आये मुट्टी में,
ईमान जाये भट्टी में ।

अगर बेइमानी करके आदमी को धन मिलता है, तो आदमी की पहली नीति ही बेइमानी होती है। ईमान से धन मिले, तो आदमी की नीति ईमानदारी की होगी।

आदमी को तो बस पैसा चाहिये, चाहे वह जिस तरीके से मिले। आदमी को कोरा रंग चाहिये, भले भीतर से वह कितना काला ही क्यों न हो। हिन्दुस्तान की तरक्की त्याग के कारण हुई है, गुणवत्ता के कारण हुई है और पतन के जो आसार नज़र आ रहे हैं, उसके मूल में चमड़ी और दमड़ी को महत्व दिया जाना ही है। हिन्दुस्तान के हाथ से वह नैतिकता, वह सादगी, वह प्रामाणिकता चली गई है, जो कभी इस देश की आत्मा हुआ करती थी।

मुझे नहीं लगता कि हममें आत्मा जैसी कोई चीज है। हमारी आत्मा तो खो-सी गई है। धर्म को भी हमने खो दिया है, तभी तो धर्म ने भी हमें खो दिया है। परमात्मा से हम दूर हुए, तो परमात्मा हमसे दूर हो गया। हम अपने हाथ उस ओर उठाये, तो वह अपने हाथ आगे बढ़ाने को तैयार है। तुम अपना उल्टा घड़ा सीधा करो और सागर की ओर उसे दबाव दो, तो मंगल कलश स्वतः भरेगा। आत्मा नतमस्तक विनम्र है ही, वह गलबांही से इंकार नहीं करेगा। आदमी अपने आपको फिर जीवित कर सकता है, अपने जीवन को प्रेम, आनन्द और शान्ति से फिर सराबोर कर सकता है।

मनुष्य के जीवन के दो ही विकल्प सामने आते हैं। एक विकल्प उसकी पशुता होती है और दूसरा विकल्प उसकी प्रभुता। यदि मनुष्य की पशुता संस्कारित हो जाये, उसकी पशुता अगर अमृतरूप स्वीकार कर ले, तो वही पशुता, प्रभुता बन जाती है और अगर मनुष्य की प्रभुता विकृत हो जाये, तो प्रभुता को पशुता होने में देर नहीं लगती। पशुता का संस्कार ही प्रभुता है और प्रभुता का विनाश ही पशुता है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य के भीतर से पशुता मिट चुकी है। पशुओं की सारी जमातों में हम सब एक सुधरी हुई नस्ल हैं, लेकिन जब तक मनुष्य की आकृति में, उसकी अपनी प्रकृति समाविष्ट नहीं होती, तब तक हम अपने आपको प्रभुता की डगर पर खड़ा नहीं कर सकते। प्रभुता यानी GOD और पशुता यानी DOG। गॉड यदि अपने स्वभाव से नीचे गिर जाये, तो वह डॉग हो जायेगा, पर डॉग अगर अपने स्तर से ऊपर उठकर अपना संस्कार करे, तो वही डॉग गॉड हो जायेगा। दोनों में कोई ज्यादा दूरी नहीं है। दूरियां हैं, तो बस केवल

समझ की हैं ।

कहते हैं एक पादरी स्वर्ग चला गया । उसे पक्का भरोसा था कि ईश्वर से उसका संवाद रहा है । अब इस समझ का क्या कीजिएगा ? समझ और भरोसा रहा है, तो रहा है । समझ भरोसे के साथ होती है । उसे पक्का भरोसा था मैं इतने बरस तक रोज इस प्रभु की प्रार्थना करता रहा हूँ तो मेरे लिए तो स्वर्ग के दरवाजे खुले मिलेंगे, मगर ऐसा हुआ नहीं । पादरी ने देखा कि स्वर्ग पर एक बहुत बड़ा-सा दरवाजा है । कई घंटों तक वह उसे ठोकता रहा । किसी ने नहीं सुना । पादरी को बहुत दुःख हुआ कि कोई सुन क्यों नहीं रहा । वह जब हारकर बैठने ही वाला था कि अचानक पास की खिड़की खुली । उसमें से हजार आँखों वाले किसी शख्स ने झाँका और पूछा कौन है । पादरी उन सूर्य-सी चमकती हुई आँखों का सामना न कर सका तो दरवाजे की सेंध में छुप गया । दरवाजा इतना बड़ा था कि पादरी सेंध में समा गया । उसने पूछा कि कौन हो, कहाँ से आये हो, पादरी ने जवाब दिया धरती से आया हूँ । उसने कहा—कौन-सी धरती, कोई एक धरती हो तो बात करें । पादरी का उत्साह जाता रहा । उसे लगा, जब यह शख्स धरती में गड़बड़ कर रहा है तो वह मेरे देश, मेरे चर्च को कैसे जानेगा । फिर भी उसने हिम्मत करके कहा कि सूरज का उपग्रह है । उसने कहा—सूरज, कौन-सा सूरज । उसे कौनसे इन्डेक्स में ढूँढें । पादरी ने कहा कि यह सब तो ठीक है । आप थोड़ा भीतर होकर बात करें क्योंकि आपकी आँखों की रोशनी में कुछ दिखाई नहीं देता भगवन् । उसने कहा—भाई मैं भगवान नहीं हूँ, भगवान तो अन्दर आराम कर रहे हैं । मैं तो यहाँ का दरबान हूँ । पादरी को लगा कि जब मैं दरबान के तेज को नहीं सह पा रहा हूँ, तो भगवान को कैसे सहूँगा । दरबान ही भारी पड़ रहा है, तो भगवान तो और भारी पड़ेंगे ।

पादरी की समझ की तह हम सबकी अपनी समझ है । इसी को महावीर ने अहंकार कहा है ।

जीवन को हम नहीं समझ पा रहे हैं । हमने जीवन के नाम पर बहुत बड़ी-बड़ी बातें संग्रह कर ली हैं । जीवन तो कुछ और है । मनुष्य तो प्रभुता और पशुता के बीच का बिन्दु है, सेतु है, ठीक वैसे ही जैसे वाहन में धुरी होती है । मनुष्यत्व का फूल जन्म-जन्म के महान् पुण्य-प्रताप से ही खिलता है । जिन शास्त्रों की आप पूजा करते हैं, जिन शास्त्रों की वाणी आप बड़े प्रेम और श्रद्धापूर्वक

स्वीकार करते हैं, वे धर्मशास्त्र कहते हैं कि चौरासी लाख जीव-योनियों में मनुष्यत्व की जीव-योनि एक महान् पुण्य-प्रताप का परिणाम है। इस उपलब्धि को पशुता के धरातल पर जीये रखा तो यह फूल निष्फल चला जायेगा। फूल कोई सुरभि नहीं दे पायेगा। तब आपके जीवन में कोई आत्मा नहीं होगी। हमारे सारे कर्म पशु तुल्य होंगे; हम इस योनि में भटकते हुए, उलझते हुए प्राणी मात्र होंगे। सारी दुनिया ही भटक रही है; सारी दुनिया ही उलझी हुई है। अगर हम भी उस भटकाव में उलझे हुए हों; अगर हम उन अंधे-अभिज्ञान गलियारों में दिग्भ्रमित हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। आखिर हम दुनिया से अलग नहीं हैं, इस दुनिया के स्वभाव, इसके प्रभाव से पृथक नहीं हैं।

कुछ लोग चैतन्य होते हैं, जग जाते हैं। मनुष्यत्व के इस फूल के गौरव को वे समझ जाते हैं। वे जान ही लेते हैं कि जीवन की सुवास को उपलब्ध करना है, तो जीवन को फूल की तरह खिला लेना जरूरी है। फूल ही न खिला, तो सुवास कहाँ से आयेगी? माना आप अपने जीवन के प्रति सजग हैं; जीवन का फूल दुर्गन्धित नहीं है, मगर यही पर्याप्त नहीं है। हमारे भीतर प्रभुता की सुवास होनी भी उतनी ही अहमियत रखती है। फूल अगर सुगन्धित नहीं है, तो वह शीश पर धारण करने के काबिल नहीं होगा। हां, तब फूल सौन्दर्य जरूर बरसायेगा। उस फूल को हम सौन्दर्य का प्रतीक जरूर कहेंगे; शिव का सामीप्य देने वाला संबोधन दे देंगे।

जिस फूल में सुगन्ध नहीं है, वह फूल कभी गले का हार नहीं हो सकता। यही फ्रक तो कागजी फूल और वास्तविक फूल में होता है; यही फ्रक एक जिंदा इन्सान और एक मुर्दे इन्सान में होता है। शिव में से अगर इकार हटा दो तो वह शव हो जाता है। और शव में अगर इकार जोड़ दो, तो वह इकार चाहे इंसानियत का हो या ईश्वरत्व का, वह शव, शिव हो जाता है। बेहतर यही है कि फूल सुवासित हो, जीवन सुगन्धित हो। उस सुवास को फैलाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह सुवास अपने आप फैलेगी। फूल कभी न्यौता नहीं देता कि तुम आओ मेरे पास और मेरी खुशबू, मेरे मधुबन के रस ले जाओ। फूल कोई सुवास फैलाने के लिये नहीं खिलता। फूल तो खिलता है, बस अपने आनन्द के लिए, अपनी मौज के लिए, फूल सुवासित होता है, क्योंकि उसकी सुवास ही उसके अस्तित्व का सही परिणाम है।

अगर फूल से जाकर कहो कि हम एक स्मारिका छपाना चाहते हैं, जिसमें तुम्हारी आत्मकथा शामिल करने की इच्छा है। तुमने अपने जीवन में क्या-क्या किया है, सबका ब्यौरा दे दो, तो फूल कहेगा—मैं क्या ब्यौरा दूँ। मैंने तो कुछ किया ही नहीं। मैं तो अपने आप में स्वतः हो रहा हूँ। मेरा होना ही मेरी सुवास है। इस सुवास को जन-जन तक पहुँचाने का श्रम भी मैंने नहीं किया। लोग मेरे सामीप्य में आये, पल भर को बैठे, सुवासित हुए और चल दिये। मैंने किया नहीं, मुझ से हो गया। यही बात तो कृष्ण समझाना चाहते हैं, हृदयंगम कराना चाहते हैं कि तुमसे हो जाये, तुम करो नहीं। मैं करता हूँ, मैंने किया, मेरे करने से होता है—ऐसा सोचना अज्ञान है और ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अज्ञानी होता है। मेरे से हो रहा है, मेरे द्वारा हो रहा है, मेरे द्वारा ऐसा होना है, प्रकृति मेरे द्वारा ऐसा करवाना चाहती है, इसलिये ऐसा हो रहा है—यह सोच, यह कर्मयोग एक समर्पण है। अपने कर्तव्य-कर्मों को भगवान के श्रीचरणों में अर्पित करना है।

निश्चित तौर पर कृष्ण हम सब लोगों को ज्ञानयोग देकर एक ज्ञानी, एक कर्मयोगी के रूप में देखना चाहते हैं। जिस तरह महावीर चाहते हैं कि हर व्यक्ति मुक्त हो, स्वतंत्र हो; हर व्यक्ति अपने जीवन को प्रेम, शांति, आनन्द और माधुर्य से पूर्ण करे, यही बात श्रीकृष्ण चाहते हैं। शब्दों में फ्रक भले ही पड़ जाये, पर वह जो लक्ष्य है, उसमें कहीं कोई फ्रक नहीं है। जो सुख आपको महावीर देंगे, वही सुख श्रीकृष्ण दे जायेंगे। समझ चाहिये, वह ज्ञान चाहिये, जो समस्त आबद्ध कर्मों को जलाकर भस्म कर दे।—‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन।’

भटकाव समझ के अभाव के कारण है। समझ ही आँख है। मनुष्य की तीसरी आँख। आँख बन्द यानी फिर भटकाव चालू। आँख खुली, कि मार्ग हाथ लगा।

मैंने सुना है : यहीं का एक मुसलमान व्यक्ति है। आज से पचास साल पहले जब छापेखाने में उर्दू की किताबों को छापने के लिए लोहे और जस्ते के अक्षर नहीं हुआ करते थे, तो लिपिकार ही उर्दू की किताबों को लिखते थे। जब वह व्यक्ति भारत में था, तो उसे तीस रुपये मासिक मेहनताना मिलता था। उसके पाकिस्तानी मित्रों ने दरख्वास्त भिजवाई कि अगर तुम पाकिस्तान आ जाओ, तो तुम्हें वहाँ से कई गुना ज्यादा मेहनताना मिलेगा और दूसरी सुविधाएँ मिलेंगी सो अलग। लोभ और लोलुपता के कारण उसने पाकिस्तान जाने का मानस बना ही

लिया । उसने शाम को अपने पिता से पूछा कि अब्बाजान, इस तरह से दोस्तों का खत आया है । क्या मैं चला जाऊं ? पिता ने कहा—बेटे, मैं कल सुबह इसका जवाब दूंगा । अगली सुबह जब वह खाना खाने लगा, तो पिता ने कहा—बेटे, तू जा भले ही, लेकिन जाने से पहले एक सवाल का जवाब देना जा । मैं तुमसे इतना पूछना चाहता हूँ कि तुम्हें पाकिस्तान में यहाँ से कई गुना ज्यादा पैसे मिलेंगे । क्या यहाँ तीस रुपये देने वाले खुदा में और वहाँ तीन हजार रुपये देने वाले खुदा में कोई फ़र्क है ?

पिता का यह प्रश्न सुनकर बेटे ने कंधे से थैला उतारकर रख दिया । उस आदमी ने बताया कि आज उसके पास सौ-सौ आदमी काम कर रहे हैं । अल्लाह सब जगह एक ही है, क्यों भागमभाग मचा रहे हो । जो भगवान वहाँ तुम्हारा पेट भरेगा, वह यहाँ भी भर देगा । वह सबको उसके भाग्य का देता है । चाहे कृष्ण हो, राम हो या रहीम हो—सब एक ही रूप हैं, सब एक ही बात कह रहे हैं । परमात्मा का हर स्वरूप हम सब लोगों को मुक्त देखना चाहता है । वह स्वरूप ऐसा प्रेम देना चाहता है, जिसे हम देहातीत होकर जी सकें । ऐसी शान्ति, जिसे आप धन और जायदाद से ऊपर उठकर जी सकें; ऐसा माधुर्य, जिसका आप पति-पत्नी के प्रेम से ऊपर उठकर रसास्वादन कर सकें; ऐसा आनन्द, जो केवल आपके हृदय के अंतर्-तारों से झंकृत और निनादित हो, हमें वह परमात्मा भेंट करना चाहता है । आप पा लो, तो आपका सौभाग्य और न भी मिल पाये तो दीपक तो जलेगा, फूल तो सुवासित होगा । गीता और आगम, पिटक और सूत्र, ऋचाएँ और मंत्र तब भी बरकरार रहेंगे । आदमी जब तक इन सूत्रों को, इन श्लोकों को अपने जीवन में समाचरित करता रहेगा, तब तक ये जीवित रहेंगे और पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे । इसी में इनकी सार्थकता निहित है ।

गीता के सूत्र जीवन के सूत्र बनें, तो ही गीता जीवन का गीत बन पायेगी, अपनी सार्थकता को सौ टंच सिद्ध कर पाएगी । गीता युद्ध की प्रेरणा देकर भी, मानवता को मोक्ष की ही प्रेरणा देती है । विषादग्रस्त अर्जुन को बोध देने की जो शुरुआत होती है, वह नपुंसकता के त्याग से है, श्रम और सृजन की नींव रोपने से है, पर गीता की पूर्णाहुति तो मोक्ष-संन्यास में ही है । आज का सूत्र है

यदृच्छालाभ संतुष्टौ, द्वन्द्व्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥

—जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत हो गया है, ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला व्यक्ति कर्म करते हुए भी उसमें नहीं बंधता ।

गीता का यह सूत्र हमारे जीवन के विकास के लिए, मुक्ति के माधुर्य के लिए स्वर्णिम सूत्र है । आदमी कर्म करते हुए भी कर्मों में नहीं बंधता । बड़ी कीमिया बात है । कर्म में अकर्म की दृष्टि दी गयी है । एक कर्म होता है शरीर से, दूसरा होता है मन से । मन से तुम मुक्त हो गये, तो शरीर से होने वाला कर्म, कर्म की संज्ञा में ही नहीं आता । कर्म मन का परिणाम है । मन से मुक्त हुआ व्यक्ति कर्म से मुक्त ही होता है । समत्व में स्थित व्यक्ति स्थितप्रज्ञ होता है । अनासक्त भाव से, कर्तव्य-कर्मों को परमात्मा के चरणों में अर्पण करके जीने वाला भगवान को प्रिय होता है, वही भक्त और वही ज्ञानी होता है । परमात्मा के ज्ञान में स्थिति ही कर्म-मुक्ति का सरल तरीका है । आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि सम्यक् दृष्टा जीव चाहे चेतन द्रव्यों का सेवन करे या अचेतन द्रव्यों का, उसके द्वारा कर्मों का बंधन नहीं होता । उसके द्वारा कर्म निर्जरित और जर्जरित ही होते हैं । यही तो मुक्ति का रहस्यभरा सूत्र है, यही मुक्ति को अपने आप में जीने का मार्ग है । वह मुक्ति, मुक्ति ही क्या, जिसे हम शरीर को छोड़ने के बाद उपलब्ध करें । सही मुक्ति तो वह है जिसे देह में रखते हुए भी हम जी सकें । उस मुक्ति को जीने के लिए कर्म करते हुए भी कर्मों का बन्धन न हो, व्यक्ति बन्धन-मुक्त और निर्ग्रन्थ रहे, इसके लिए कुछ बातें सुझाई गई हैं । इन बातों को हम मुक्ति के सूत्र समझें ।

मुक्ति के इन सूत्रों को जरथुस्त्र ने कहा—मैं मनुष्यों के लिए चलता हूँ, मनुष्यों को टुकड़ों के बीच छिन्न-भिन्न और बिखरे हुए पाना मेरे लिए नया अनुभव है । और जब मेरी आँख वर्तमान से अतीत में भागती है सदा उसे टुकड़ों में बंटे अंग तो मिलते हैं लेकिन मनुष्य नहीं । पृथ्वी का वर्तमान और अतीत अफसोस ! मेरे मित्रों वही मेरा सर्वाधिक असह्य बोझ है और मैं नहीं जानता कि जीना कैसे ? यदि मैं उसका दृष्टा न होता जिसे आना ही है ।

एक दृष्टा, एक आकांक्षी एक सजग, स्वयं एक भविष्य की ओर भविष्य तक का एक सेतु । यही मेरी समूची कला और लक्ष्य है । एक में पिरोना और उस सब को साथ लाना जो टुकड़ा है, पहेली है ।

जरथुस्र का मानना रहा कि प्रकृति के अलावा कोई धर्म नहीं, जब तुम्हें प्यास लगती है तो जानते हो कि तुम्हें पानी की जरूरत है। जब तुम्हें भूख लगती है तो जानते हो भोजन की जरूरत है। प्रकृति के अलावा अन्य कोई मार्गदर्शक नहीं है। आकांक्षा को जरूरी मानते हुए उन्होंने चेतना को तीन स्तरों में बाँटा। ऊँट जो कि एक गुलाम की चेतना है, जो कि लादा जाना चाहता है। शेर शक्ति की आकांक्षा है। तीसरा है शिशु। शिशु की सरलता ही सर्वोच्च है। यही एक मात्र वस्तु है जो तुम्हें धार्मिक बनाती है। आकांक्षा का अंतिम काम है स्वयं का अतिक्रमण किया जाना। बुद्ध जिसे 'डिजायरलेसनेस' कहते हैं। जरथुस्र इसे 'विललेसनेस' कहते हैं, आकांक्षा-रहितता कहते हैं। कृष्ण इसे कामना-मुक्ति कहते हैं, निष्काम होना कहते हैं।

गीता में कृष्ण ने कहा—मुझे जानने का प्रयत्न करो। अगर मेरा चिन्तन नहीं कर सकते तो योगाभ्यास करो। यदि तुम्हें अनुकूल नहीं पड़ता तो अपने सारे कर्मों को मुझे अर्पित करके मेरी सेवा का प्रयत्न करो। यदि यह भी कठिन दिखे तो अपने कर्तव्य का पालन करो, किन्तु परिणाम की लालसा मत रखो और न ही फल की आकांक्षा रखो। निःसंदेह, कर्म की अपेक्षा ज्ञान उत्तम है, ध्यान ज्ञान से उत्तम है, कर्मफल का त्याग ध्यान से उत्तम है, कर्मफल के त्याग से शांति होती है। यह मन की शांति का सूत्र है।

पहली बात कही है कि जो व्यक्ति बिना इच्छा के, अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा सन्तुष्ट रहता है, वह बन्धन से मुक्त रहता है। जो अप्राप्त की कामना नहीं करता और प्राप्त में तृप्त रहता है, वह आदमी सदा सुखी रहता है। उसे कोई इच्छा नहीं, कोई कामना नहीं, कोई तड़फन नहीं, कोई भटकाव नहीं। वह जानता है कि आसमान के छोर की अनंतता की तरह इच्छाओं की भी कोई सीमा नहीं है। इच्छा का अन्त तो वहीं है, जहाँ व्यक्ति जो जैसा है, जिस रूप में है, उसमें मस्त रहे, न चिन्ता, न फ़िक्र। आज की तारीख में परमात्मा ने जैसा जीना हमारे लिए लिखा है, हम उसमें तृप्त, संतुष्ट और मस्त हैं, यही तो मुक्ति को जीना हुआ।

एक तो मनुष्य की इच्छाएँ होती हैं और दूसरी होती है मनुष्य की इच्छा-शक्ति। इच्छाएँ मनुष्य को भटकाव देती हैं, जबकि इच्छा-शक्ति मनुष्य को विकास देती है। इच्छाएँ अनंत हुई जा रही हैं और इच्छा-शक्ति को दफ़न किया जा रहा है। अगर हम अपनी इच्छाओं को इच्छा-शक्ति में बदल दें, तो वह

हमारे जीवन-विकास में चमत्कार साबित हो सकती है। इच्छा का शास्त्र इतना ही है कि जो प्राप्त है, उसमें तृप्ति नहीं है और जो प्राप्त नहीं है, उसे पाने की चाह है। कुछ और पाऊं, कहीं और जाऊं, किसी और को उपलब्ध करूँ—इसी का नाम इच्छा है। श्रीकृष्ण यह कहना चाहते हैं कि तुम इच्छाओं के झमेले में मत पड़ो, क्योंकि इच्छाओं के मकड़जाल में प्रवेश करके कोई भी व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर प्रस्थान ही नहीं कर सकता। कितना अच्छा होता आज भी कल्पवृक्ष होते। मनुष्य को इच्छाओं के दलदल से नहीं जूझना पड़ता। काश, मनुष्य को इच्छा का, आशा का कैसर न होता। मनुष्य सुखी रहता, शान्त रहता, आत्मतृप्त रहता।

भगवान बुद्ध के जीवन से जुड़ी घटनाओं में से एक घटना है। कहते हैं एक युवक सौदागर के रूप में बैलगाड़ी पर माल को लादे हुए जा रहा था। सामने नदी आती है। वह बैलगाड़ी को एक तरफ खड़ी कर नहाने के लिए नदी में उतर जाता है। स्नान करते-करते उसके मन में कई कल्पनाएँ उभरती हैं, इच्छाएँ जगती हैं। वह सोचता है कि आज मेरे पास एक बैलगाड़ी है, पर कल को मेरा व्यापार फैलेगा। मेरे पास सुख-समृद्धि होगी, मैं बहुतेरी बैलगाड़ियों का मालिक होऊंगा। तब मेरे तीन-तीन रानियाँ होंगी। वह इसी तरह कल्पनाएँ कर रहा था, अपने मन में इन्द्रधनुष गढ़ रहा था, तब नदी से कुछ ही दूरी पर शिष्यों के साथ बैठे भगवान बुद्ध उस युवक के मन को पढ़ रहे थे।

बुद्ध एकाएक मुस्कुरा पड़े। बुद्ध के शिष्य ने कारण पूछा तो वे टाल गये, लेकिन शिष्यों के आग्रह पर उन्होंने कहा कि मुझे हंसी इस बात पर आ गई कि नदी किनारे जो युवक नहा रहा है, वह नहाते-नहाते कल्पनाओं के कितने ही इन्द्रधनुष बुन रहा है, लेकिन वह यह नहीं जानता कि सात दिन बाद ही वह इस धरती से उठ जायेगा। आनन्द ! तुम जाओ और उसे समझाओ, उसे जानकारी दो। शायद कुछ बोध जगे।

आनन्द युवक के पास पहुँचता है और उसे जब बताता है, तो उसके सारे इन्द्रधनुष गायब हो जाते हैं। वह राग-रंग सब कुछ भूल जाता है, मन के सारे सपने एक ही क्षण में बिखर जाते हैं। वह रोने लगा और रोते-रोते ही नीचे गिर पड़ा। आनन्द ने उसे उठाया और बुद्ध के चरणों में ले गया। बुद्ध ने उसे संबोधित का मार्ग सुझाया। मृत्यु से घिरे व्यक्ति के लिए सात दिन तो बहुत होते हैं। जब सातवाँ दिन आया, तो मौत अपनी तैयारियाँ अंजाम देने लगी। वह आधा रास्ता

ही तय कर पाई कि वह निर्वाण को उपलब्ध हो गया । उस आत्मा के सारे सपने अब जीवन के वे सत्य बन चुके थे, जिन सत्यों का संबंध सपनों से नहीं होता । मृत्यु हमेशा सपनों की होती है, सत्य की कभी मृत्यु नहीं होती । व्यक्ति सत्य को उपलब्ध हो जाता है, मृत्यु से पहले निर्वाण की लौ सुलग उठती है । ज्योति परम ज्योति को आत्मसात कर लेती है ।

मृत्यु सब छीन ही लेती है । मनुष्य के हाथ में, केवल हाथ है । शेष सब जैसा होना है, होता रहेगा । फिर तुम व्यर्थ की इच्छाएँ और चिन्ताएँ पालकर स्वयं को क्यों स्पर्धा बना रहे हो, विचारों के उधेड़बुन में स्वयं को क्यों उलझा रहे हो । मेरे जाने, जो प्राप्त हुआ है, उसमें अगर व्यक्ति सन्तुष्ट हो जाये, प्राप्त का संतोषपूर्वक उपयोग करे, तो यह प्रथम सूत्र सार्थक रूप ले लेगा ।

दूसरा सूत्र होगा कि आदमी ईर्ष्या में न फंसे । मिटा ही डालो अपनी ईर्ष्या को, बुझा ही दो इसकी चिता को । बड़ा विकृत होता है ईर्ष्या की आग का धुआं । दम ही घोट डालता है । ईर्ष्या में जकड़कर तुम जीवन को माधुर्य नहीं दे पाओगे, जीवन को केवल एक प्रतिस्पर्धा बना जाओगे । अगर किसी का जीवन प्रतिस्पर्धा बन गया, तो वह जीवन, जीवन नहीं एक गलाघोट संघर्ष मात्र होगा । हम अपने मौलिक विकास में विश्वास रखें, कृष्ण के इसी सूत्र को आधार बनाकर मैं यह दूसरा सूत्र देना चाहूंगा कि तुम अपने मौलिक विकास में विश्वास करो । किसी से ईर्ष्या या किसी से जलकर आगे बढ़ने की इच्छा मत रखो । कोई बढ़ रहा है, तो बढ़े । इससे मुझे क्या । हमारा जितना मौलिक विकास हुआ, हम उसमें तृप्त हैं । हमें कोई जलन न हो, न पीड़ा सताये ।

जीवन को प्रतिस्पर्धा मत बनाइये । जीवन का श्रेय आपके निजी और मौलिक विकास में है । विकास चाहे आंशिक ही क्यों न हो, पर होना चाहिये अपने पाँवों के बल पर । औरों से सहयोग लो, पर औरों को पछाड़ने की भावना अन्तरमन का वैमनस्य और दारिद्र्य है । औरों की टांग खींचने के चक्कर में, तुम उसके भी अवरोधक बने और स्वयं को भी प्रगति की राहों से जोड़ न पाये ।

एक पुरानी कथा तो सुनी ही होगी कि एक भक्त ने भगवान की आराधना की । भगवान ने उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसे वरदान मांगने को कहा । उसने भगवान से वरदान मांगा कि भगवान, जो मैं चाहूँ वह हो जाये । भगवान

आदमी के मन को जानते हैं। मनुष्य किस चालाकी से अंगुली पकड़ते-पकड़ते पूरा हाथ ही पकड़ लेता है, भगवान भी वरदान देते-देते यह बात समझ गये होंगे। सो भगवान ने कहा—ठीक है तुम जो चाहोगे वही मिल जायेगा, पर उससे दुगुना तुम्हारे पड़ोसी को भी मिल जायेगा। भक्त ने सिर पीटते हुए कहा—भगवान, मेरी आराधना व्यर्थ गई। अभी कौन-सा मैं भूखे मर रहा हूँ। मैंने तो पड़ोसी से आगे बढ़ने के लिये ही तो यह प्रार्थना, यह आराधना की थी। उसका ईश्यालु मन शान्त नहीं हुआ। वह खुद आगे न बढ़ सका, तो क्या, चलो पड़ोसी को तो पीछे धकेलें। उसने भगवान से प्रार्थना की कि मेरे घर के आगे एक कुआँ खुद जाये, उसी समय पड़ोसी के घर के आगे दो कुएँ खुद गये। उसने कहा—मेरी एक आंख फूट जाये। स्वाभाविक है पड़ोसी की दो-दो आँखें जाएंगी। पहले से कुआँ और ऊपर से अंधा।

मनुष्य अगर ईर्ष्या में पड़ेगा, तो नुकसान दोनों को पहुँचेगा। अगर मनुष्य विकास में विश्वास करेगा तो वह स्वयं तो विकास करेगा ही, औरों को भी विकास करने का पूरा-पूरा मौका देगा। तुम औरों से आगे बढ़ो, लेकिन यह ख्याल रहे कि इससे किसी को नुकसान न पहुँचे। तुम औरों को आगे बढ़ाने में 'त्याग' करो, उनके सहकारी बनो। इसलिए दूसरा सूत्र होगा—ईर्ष्या नहीं, अपने मौलिक विकास में विश्वास करो।

तीसरा सूत्र है—जो हर्ष, शोक आदि द्वंद्वों से सर्वथा अतीत हो गया है ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला व्यक्ति कर्मयोगी है। कोई पूछे कि योग क्या है? श्रीकृष्ण ने गीता में योग किसे कहा है? तो जवाब होगा—'समत्वं योग उच्यते।' समत्व ही योग है। वह समत्व यही है कि व्यक्ति हर्ष एवं शोक दोनों ही परिस्थितियों में अपने आपको मौन और तटस्थ रखे। वह व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्म के बंधन में नहीं बंधता। परिस्थितियाँ तो बदलेंगी; समय तो अपनी करवट बदलेगा। न अनुकूल परिस्थितियाँ हमेशा रही हैं और न प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही हमेशा टिकी हैं। सही तौर पर अपने जीवन को समायोजित, संतुलित, सुखी एवं समृद्ध रखने के लिए जीवन में यह तीसरा सूत्र आवश्यक है कि परिस्थितियाँ चाहे कैसी भी रहें, व्यक्ति हर परिस्थिति में सम रहे, शांत रहे, प्रसन्न रहे।

यदि हम परिस्थितियों के प्रति सम न रहे तो अनुकूलताएँ घमंड को जन्म

देंगी । फिर आदमी, आदमी की ही उपेक्षा करेगा । मान लो तुम अनुकूल स्थिति में हो, समृद्ध हो और कोई जरूरतमंद तुम्हारे द्वार पर आये और तुम उसे खाली हाथ लौटा देते हो, तो इससे तुम्हारी कीर्ति में श्रीवृद्धि होने वाली नहीं है । यदि तुम्हारे जीवन में प्रतिकूलताएँ हैं तो भगवान या भाग्य को मत कोसिये । प्रभु ने जितना दिया है, उसी में संतुष्ट रहिये और उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट कीजिए कि आपको इतना दिया । दोनों ही परिस्थितियों में अपने आपको मस्त रखो । सम और असम हर परिस्थिति में मन की प्रसन्नता बनाये रखना जीवन की सम्यक् तपस्या है ।

अन्तिम चरण के रूप में यह सूत्र स्वीकार करो कि जो होता है, अच्छे के लिये होता है, तो आज नहीं तो कल उसका सुखद परिणाम हमारे सामने होगा । जैसे मेहंदी लगाई जाती है और मेहंदी लगाने के बाद उसका सुर्ख रंग उभरता है, ऐसे ही सुकून, ऐसे ही सुख हम सब लोगों को मिलेगा । आज कुछ बातें आप लोगों को निवेदन की हैं । जीवन में इनको ध्यान में लाएं । इनके अनुसार अगर जी सको, तो कृष्ण के ये सूत्र सार्थक हो जायेंगे । श्रीकृष्ण की गीता हम सबकी गीता हो जाएगी ।



अनासक्ति का विज्ञान

सारा जगत एक कारागार है और सभी इस कारागार में कैद हैं। जगत के इस कारागार का कोई विकल्प मनुष्य की अन्तर्-आत्मा में आज प्रतिष्ठित नहीं है। ऐसा कौन आदमी है, जो यह अस्वीकार कर सके कि मैं कारागार से मुक्त नहीं हूँ। हम कारागार में कैद हैं—केवल इस बात के लिए आंसू दुलकाने से कुछ नहीं होगा। इस कारागार से मुक्त होने के लिये हमें कुछ पुख्ता इंतजाम करने होंगे। कुछ लोग तो ऐसे हैं, जिन्हें इस बात का बोध है कि वे कारागार में कैद हैं। वे इससे मुक्त होने के लिए प्रयास भी करते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो कारागार में कैद हैं और इसकी उन्हें पीड़ा भी है, लेकिन इससे मुक्त होने का कोई प्रयास नहीं है। तीसरी किस्म के लोग वे हैं, जिन्हें इस बात का अहसास ही नहीं कि वे कारागार में हैं।

उनके लिए कारागार मानो अपना घर है। जो अपनी मुक्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं, वे बाहर से भी जागृत हैं और भीतर से भी उनकी चेतना जगी हुई है। जिनको आपने कारागार में होने की केवल पीड़ा है, वे बाहर से जागृत भले ही हो गये हों, लेकिन भीतर से वे मूर्च्छित हैं। जिन्हें न तो बोध है कि उनके पाँवों में जंजीरें हैं और न ही उन जंजीरों से मुक्त होने का अभियान है, वे बाहर से भी मूर्च्छित हैं और भीतर से भी संमूर्च्छित हैं।

जीवन के कारागार में कैद तो सारे ही लोग हैं, किन्तु अपनी मुक्ति के लिए कोई साहसिक अभियान छेड़ सको, तो हाथों-पांवों में पड़ी सघन जंजीरें टूट सकती हैं, बेड़ियाँ खुल सकती हैं। ये बेड़ियाँ, ये जंजीरें जन्म-जन्मांतर से हमारे हाथ-पांवों में पड़ी हुई हैं। ये बेड़ियाँ जितनी बाहर की हैं, उससे कहीं ज्यादा भीतर की हैं। दृश्य हों तो दिखाई भी दे जायें, ये अदृश्य बेड़ियाँ हैं। इनकी पीड़ा और भार सघन है, पर आदत पड़ गई है इन्हें ढोने की। ये बेड़ियाँ और जंजीरें अब तो इतनी सुखद लगने लग गई हैं कि जंजीरें, जंजीरें लगती ही नहीं हैं। सोने की चेन-सा चैन और सुकून ये जंजीरें देती हैं। अब तो इन जंजीरों के बगैर जीना भी बहुत बोज़ लग रहा है। ये जंजीरें तो खोलनी ही होंगी, आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में। ये जंजीरें खुलें, तो ही मुक्ति का आस्वादन संभव हो सकेगा।

ये जंजीरें काम-क्रोध की, वैर-विरोध की हैं, अपराध-आक्रोश की हैं। अगर कोई सच्चे दिल से यह चाहता है कि उसे क्रोध न आये, तो उसके लिए पहला चरण होगा कि वह यह स्वीकार करे कि उसके पाँव में क्रोध की जंजीरें पड़ी हैं। जब तक इस बात को स्वीकार करोगे, तब तक क्रोध से निवारण का इंतजाम कैसे करोगे? क्रोध का कारण कैसे दूँढोगे? अगर इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हो कि तुम बंधे हुए हो, तो तुम अगले चरण के रूप में यह जानने का प्रयास करो कि मैं किससे बंधा हूँ?

किसी ने मुझसे पूछा कि मोक्ष की विधि क्या है? मैंने कहा, मोक्ष की विधि तो बाद में दूँढना, पहले यह दूँढो कि तुम किससे बंधे हुए हो? तुमको किसने बांध रखा है? जिस दिन तुमने बंधन को समझ लिया, उसी दिन जीवन में मोक्ष की पहली किरण उतर आएगी। जब तक अपने बंधनों को न समझे, तब तक मोक्ष-निर्वाण-परमात्मा—ये सब बातें केवल बातें ही रह जायेंगी। केवल बातें कर लेने भर से या धर्म के नारे लगा लेने भर से आचरण क्रियान्वित नहीं हो जाता। बंधन ही न समझे, तो मोक्ष कैसे उपलब्ध होगा? बंधन की समझ में ही मोक्ष निहित है।

क्या सच्चे तौर पर हमारे मन में बंधनों से मुक्त होने की पिपासा, मुक्त होने की तड़फन, पीड़ा या कसक है? या केवल संतों के मुख से सुनते आये हो कि तुम बंधे हुए हो और मुक्ति का प्रयास करो। संतों के मुख का सत्संग

निष्प्रभावी हो जाता है अगर हमारे जीवन का मंगल-कलश ही औंधा रखा है। जीवन तो एक बहती हुई नदिया है। यदि ज़िंदगी को परिवर्तित करना चाहते हो, तो मजबूत हौसले की जरूरत है, हिम्मत करनी होगी। सर्वप्रथम तो यह कीजिए कि जो घड़ा औंधा पड़ा है, उसे सीधा करो, तो समझ का नीर उसमें उतरेगा। समझ में गहराई आएगी। हृदय के द्वार खोलो, तो भीतर के सागर में पैठ सकोगे।

इस बात की मूल्यवत्ता नहीं होती कि आप कितने साल का जीवन जी चुके हैं, मूल्य इस बात का है कि आप कितने गहरे जाकर जीवन को जी रहे हैं। जीवन में जितनी गहराई होगी, जीवन उतना ही विराट, उतना ही ऊंचा होगा। जीवन में लम्बाई नहीं, गहराई चाहिये। पहले अपने बंधनों को समझो। बंधनों को समझोगे, तो गीता के ये सूत्र हमारा मार्ग प्रशस्त कर पायेंगे। हमारे लिए मुक्ति के द्वार उद्घाटित कर पाएंगे।

केवल तोते की तरह मुक्ति-मुक्ति चिल्लाने से किसी को मुक्ति मिलने वाली नहीं है। केवल निर्वाण के नाम का लड्डू या दीपक चढ़ा लेने भर से निर्वाण होता नहीं है। राम-नाम की चदरिया ओढ़ लेने भर से कोई व्यक्ति मर्यादा-पुरुषोत्तम राम नहीं हो जाता और श्रीराधा-कृष्ण कह लेने भर से कोई कर्मयोगी श्रीकृष्ण नहीं हो जाता है। तो क्या मनुष्य की मुक्ति का मार्ग यही है कि महावीर की तरह व्यक्ति नग्न रहे और वर्षों तक जंगलों में तपस्या करे? क्या बुद्ध की तरह गृह-त्याग कर बुद्धत्व की साधना करे? अगर इतना-सा ही मार्ग है, तो सारे लोग जंगलों में चले जाएंगे। तब जंगल, जंगल नहीं रहेंगे, सारे जंगल शहर हो जायेंगे। परिवर्तन कहाँ होना चाहिये? रूपान्तरण किस क्षेत्र में होना चाहिये? यह बात मुद्दे की है। स्थान और रूप-रूपाय बदलने से कुछ अन्तर भले ही पड़ता हो, पर मूल परिवर्तन के लिए हमें मूल मार्ग की ओर बढ़ना होगा, मूल स्रोत की ओर उन्मुख होना होगा। इसी रूपान्तरण के लिए मैं पहली बात कहूँगा कि हम यह समझें कि हमारे बंधन क्या हैं? क्या हमारे बंधन आज के ही बंधन हैं या अतीत के संबंध भी उनसे जुड़े हैं? मुक्ति बाद में, मोक्ष बाद में, पहला प्रयास तो बंधनों को, काराओं को, समझने का होना चाहिये।

बंधनों से मुक्त होने के लिए गीता में दो मार्ग सुझाये गये हैं—पहला मार्ग है संन्यास का और दूसरा मार्ग है कर्मयोग का। कृष्ण दोनों मार्गों पर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। कर्मयोग का मार्ग संन्यास से काफ़ी सुगम, काफ़ी सुविधापूर्ण

है। कर्मयोग का सीधा-सा अर्थ है कि कार्य करते हुए जीओ। जीने के दो ही पहलू हैं—गृहस्थ या संन्यास। पूरी तरह गृहस्थ में रच-बस जाना भी व्यक्ति के लिये घातक है और जब तक व्यक्ति गृहस्थ के भाव से मुक्त न हो जाये, तब तक उसका संन्यासी बनना भी उसके लिए घातक है। एक गृहस्थ व्यक्ति भी मुक्त हो सकता है और एक संन्यासी व्यक्ति भी मुक्ति को उपलब्ध कर सकता है। एक संन्यासी व्यक्ति संन्यास को लेकर बंधनों को और प्रगाढ़ भी कर सकता है।

व्यक्ति की मुक्ति का संबंध गृहस्थ या संन्यास से नहीं है, क्योंकि कुछ गृहस्थ मैंने ऐसे देखे हैं, जो गृहस्थ में होते हुए भी संन्यासी हैं। आपने 'रामचरितमानस' या 'रामायण' का गुणगान पढ़ा-सुना है, लेकिन मैंने भरत के जीवन का भी उतनी ही सूक्ष्मता से अवलोकन किया है। कोई व्यक्ति अगर राम होकर मुक्त हो सकता है, तो मेरी समझ से वह भरत होकर भी मुक्त हो सकता है। वन में जाकर व्यक्ति वनवासी बने, यह साधारण बात है। राजमहल में रहकर व्यक्ति वनवासी का जीवन जीये, मैं इसी को गृहस्थ-संत कहता हूँ। मैंने जीवन के सारे पहलुओं का जो निष्कर्ष समझा है, उसके अनुसार व्यक्ति न तो बहुत जल्दी संन्यासी होने की चेष्टा करे और न संसार के कीचड़ में जाकर धंसे। व्यक्ति के लिए एक ही सूत्र होगा कि वह गृहस्थ-संत बने।

एक बात ध्यान रखें कि अनुभव आदत को बनाती है। आदमी आदत में जीता है, होश में नहीं जीता। एक बार आदत बननी शुरू हो जाए तो बननी शुरू हो जाती है। बीज को जमीन में मत डालो तो अंकुर नहीं निकलेगा। एक बार बीज को डाल दो तो अंकुर निकलता जाता है और दरख्त बन जाता है। बीज को जमीन में मत डालो, रखा रहने दो तो अंकुर नहीं निकलता। एक दफा अनुभव से गुजरो तो बीज जमीन पकड़ लेता है और आदत का अंकुर बढ़ना शुरू हो जाता है। फिर वह बढ़ता जाता है। यही कारण है कि महावीर ने बच्चों को भी दीक्षा का मार्ग दिया। अब तो मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं कि सात साल के बाद आदमी में बदलाहट मुश्किल हो जाती है। डी.एच.लारेंस ने 'सब्सिट्यूट मदर' पर काफी प्रयोग किये। जैसे—बतख का बच्चा हो, तो बतख ही सबसे पहले उसे मिलती है। मुर्गी का बच्चा हो तो मुर्गी ही सबसे पहले उसे मिलती है। लारेंस

ने कोशिश की परिपूरक माताओं की। उसने बताया कि यदि बच्चे का पहला अनुभव उसकी माता नहीं है, उसकी पहली आदत उसकी माँ नहीं है, तो उसकी माँ बाद में उसके पास हो तो उसकी आदत नहीं बनती। इसलिए जिस अनुभव को छोड़ना हो उससे न गुजरना ही ठीक है, लेकिन जिसे जीवन में जीना है, अनुभव करना है, उससे गुजरना ही बेहतर है। इसलिए गृहस्थ और साधुत्व दोनों के अनुभव में उतरना जरूरी है तभी समझ में आयेगा—मोक्ष का अर्थ है जहाँ शुद्ध है चेतना, शरीर से मुक्त।

आदमी संसार में रहे। संसार में रहना बुरा नहीं है। संसार में रचना-बसना बुरा है। न तो संन्यास बुरा है, न गृहस्थ ही बुरा है। क्या अच्छा है और क्या बुरा है, इसके मापदंड अलग हैं। अगर आत्मरमण के भाव बने हुए हैं, तो व्यक्ति पतलून में अपनी मुक्ति का इंतजाम कर सकता है, बड़े आराम से, बड़ी सहजता से। नहीं तो चाहे जितने जटाजूट बढ़ा लो, भीतर के तमस की मृत्यु हुए बगैर धर्म जीवित नहीं हो सकता। चाहे कर्म-संन्यास हो या कर्मयोग—दोनों ही कल्याणकर हैं, स्वस्तिकर हैं। पर जो कर्मयोगी 'न काहू से दोस्ती न काहू से वैर' के सिद्धान्त पर चलता है, वह फिर चाहे गृहस्थ ही क्यों न हो, संन्यासी ही है। गीता कहती है कि राग-द्वेष जैसे द्वन्द्वों से मुक्त आदमी संसार-बन्धन से मुक्त हो ही जाता है। योग चाहे ज्ञानयोग हो या कर्मयोग, रास्ते भले ही भिन्न लगते हों, पर मंजिल पर सारे रास्ते एक हो जाते हैं। मंजिल तक पहुँचना है, फिर चाहे वह किसी भी रास्ते से पहुँच जायें। यह तो तुम अपने आपको पड़तालो कि तुम्हें कौन-सा मार्ग ज्यादा माफिक खाता है। जो मार्ग अनुकूल लगे चरैवेति-चरैवेति, उसी पर चल पड़ो। उसी को आत्मसात् कर लो। बस, हमारी चेतना सदा हमारे साथ रहे, इसमें चूक नहीं होनी चाहिये।

गृहस्थ का मार्ग सरल है, संन्यास दुरूह है। हर किसी को न तो संन्यासी होने की प्रेरणा दी जानी चाहिये और न ही हर कोई बन भी सकता है। संन्यास को उसकी अखंडता से निभाना कठिन है। तुम गृहस्थ में भी अपनी मुक्ति के सूत्र तलाश सकते हो, कीचड़ में भी कमल खिला सकते हो। आखिर हमने कैक्टस में भी फूलों को खिलते हुए देखा है। महावीर कहते हैं मुनि तो सिद्ध होते ही हैं, गृहस्थ भी हो सकते हैं। महावीर ने सिद्धों के भेद किये हैं—मुनिलिंग सिद्ध, गृहीलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध। सिद्धत्व की सुवास सबके लिए है। बस,

मुक्ति के प्रबन्ध होने चाहिये, लक्ष्य और गंतव्य मोक्ष होना चाहिये । गीता का आज का जो सूत्र है, वह हमारे लिए यह प्रेरणा लेकर आया है कि व्यक्ति किस तरह से अपने बंधन से मुक्त हो । वह किस तरह निष्पाप जीवन जीये । सूत्र है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

—जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह जल में कमल-पत्र की भांति पाप से लिप्त नहीं होता ।

वह व्यक्ति निष्पाप रहता है, जो कमल की पंखुड़ियों की तरह जल से निर्लिप्त रहता है । संसार में रहकर भी जो व्यक्ति संन्यासी की तरह जीवन जीता है, उस व्यक्ति का जीवन निष्पाप होता है । वह व्यक्ति पाप करता है, तो कर्म के द्वारा उसका प्रक्षालन होता है । वह कर्म इसीलिए करता है कि उसके पाप की शुद्धि हो सके । वह अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करता है ।

जब तक व्यक्ति संसार में रहता है, कोई बुरा नहीं । जिस क्षण व्यक्ति के अन्तर्हृदय में संसार आकर बस जाता है, उसी दिन सब गुड़-गोबर हो जाता है । तुममें अगर राग-द्वेष नहीं है, अगर आसक्ति नहीं है, अगर परमात्मा के प्रति पूरी तरह समर्पण का भाव है, तो कौन कहेगा कि तुम गृहस्थ हो । तब दुनिया का कोई धर्मशास्त्र ऐसा नहीं है, जो आपको संसारी कह सके । अगर संन्यास ले लिया और गृहस्थ-भाव में ही रहे-बसे रहे, तो कोई भी धर्मशास्त्र ऐसा नहीं है, जो आपको संन्यासी सिद्ध कर सके ।

आदमी ने संन्यास का संबंध बाहर से लगा लिया है, जबकि गृहस्थ का संबंध इससे जोड़ दिया है कि उस व्यक्ति के कितने बच्चे हैं ? और संन्यासी वह जिसके संतान न हुई, जो अविवाहित है । गृहस्थ और संन्यास की इतनी छोटी और संकुचित परिभाषा नहीं है । संन्यासी वह है, जिसका मन शान्त है, स्थिर है । जिसका मन तो टिका हुआ है, पर जिसके पाँव चलते हैं, वह संन्यासी है । गृहस्थ वह है, जिसके पाँव तो रुके हुए हैं; पर मन अस्थिर रहता है । इस दृष्टि से एक संन्यासी भी गृहस्थ हो सकता है और एक गृहस्थ भी संन्यासी हो सकता है ।

मैंने देखा कि जब मैं मद्रास में समुद्री किनारे से गुजर रहा था, तो उस समय कुछ मछुआरे नौका पर सवार हो रहे थे । मेरे साथ चलने वाले लोग आपस में

कह रहे थे कि इन लोगों को भी कितना पाप लगता होगा, कितनी हिंसा होती है, लेकिन मैंने देखा कि जब वे मछुआरे अपनी नौका पर चढ़ रहे थे, तो उन्होंने तीन बार नौका को छुआ और आसमान की ओर नज़रें उठाईं। उन्होंने ईश्वर का स्मरण किया और मछलियों को पकड़ने के लिए नौका पर चढ़ गये। मैं सोचने लगा कि जिनको लोग हिंसक कहते हैं, वे भी कितने धार्मिक हैं। उन लोगों के मन में भी परमात्मा के प्रति कितनी आस्था है। हम केवल मनुष्य की बाहर की वृत्ति और प्रवृत्ति को देखकर उसके जीवन, उसके व्यक्तित्व का क्षण भर में आकलन कर लेते हैं। हमारा यह आकलन, हमारे ये निष्कर्ष सत्य के करीब नहीं होते हैं। इसीलिए गीता कहती है कि मनुष्य को जीवन ऐसे जीना है, जैसे एक धाय या नर्स होती है। जब किसी महिला के प्रसूति होती है और वह महिला बच्चे को अपना दूध नहीं पिला पाती, तो वह धाय अपना दूध उस बच्चे को पिलाती है, लेकिन अस्पताल से घर आ जाने पर भी वह धाय क्या पूछने आयेगी कि आपका मुन्ना कैसा है? जब तक महिला अस्पताल में थी, उस धाय ने अपना कर्तव्य निभाया, कर्म किया, लेकिन जब वह चली तो निर्लिप्तता!

जीवन में निर्लिप्तता हो। जन्म हो, तो भी निर्लिप्तता, मृत्यु हो तो भी शोक-मुक्त। जीवन तो केवल कुछ तत्त्वों का संयोग है। जब वे तत्त्व बिखर जाते हैं तो आदमी बिखर जाता है, उसका जीवन बिखर जाता है। इसी को मृत्यु नाम दे दिया जाता है। आदमी अगर इस मर्म को समझ ले तो आंसू ही नहीं आयेंगे और अगर न समझा, तो वह उसी आसक्ति से, उसी राग-द्वेष के कारण उसके पीछे रोयेगा, आंसू ढुलकायेगा। मरा कुछ भी नहीं है। कुछ तत्त्वों का जो संयोग हुआ था, वह संयोग विगलित हो गया, बिखर गया।

आसक्त व्यक्ति कभी पाप से मुक्त नहीं हो सकता, इसीलिए कृष्ण कहते हैं कि तुम आसक्ति का त्याग करके संसार में रहो। आसक्त व्यक्ति का संसार अनंत होता है। उसका संसार ऐसे ही बढ़ता जाता है जैसे सरोवर में आप एक ही कंकड़ फेंक दें, तो सारा जल तरंगित हो जाता है, केवल एक कंकड़ से। अनासक्त व्यक्ति का संसार छोटा होता है, और वह भी 'न' के बराबर। उसका पारिवारिक दृष्टिकोण अपने घर तक सीमित नहीं रहता। उसका दृष्टिकोण, उसका प्रेम, उसका माधुर्य विस्तार ले लेता है, वह समष्टिगत हो जाता है। अपने-पराये के भेद उसके लिए धराशायी हो जाते हैं।

व्यक्ति में जैसे-जैसे अनासक्ति का भाव प्रखर होता है, वैसे-वैसे परिवार का भाव छूटता जाता है और सारी वसुधा में परमात्मा के दर्शन का भाव प्रगाढ़ होता जाता है। कल ही कोई सज्जन मेरे पास आये और पूछने लगे कि संत लोग कहते हैं कि परमात्मा के दर्शन इस प्रकार होते हैं, तो क्या उन्होंने परमात्मा के दर्शन कर लिये हैं? गीता को संदर्भित करते हुए मेरा यही कहना है तुम हर आत्मा में परमात्मा को देखो। जो व्यक्ति हर आत्मा में उस परमात्मा की छवि देखता है, वही सही तौर पर परम श्रेय को उपलब्ध हो पाता है।

पंथ या संप्रदाय, जिन्हें हम 'धर्म' कहते हैं, कभी किसी व्यक्ति की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं करते हैं। वे तो हमेशा व्यक्ति को सांप्रदायिक ही बनायेंगे। उन मत-मतांतरों ने तो व्यक्ति को बांधा ही है। उसके बंधनों को प्रगाढ़ ही किया है। अगर व्यक्ति को कोई मुक्त करती है, तो वह उसकी सच्ची धार्मिकता ही है। मुझसे अगर पूछें कि धर्म का संबंध किससे है, तो मैं कहूँगा कि धर्म उस अंधकार की मृत्यु है, जिसे हमने अपने भीतर बटोर रखा है। तमस की मृत्यु और प्रकाश के जन्म का नाम धर्म है।

वस्तु के प्रति, व्यक्ति के प्रति, 'मत' और 'धर्म' के प्रति एक निरपेक्षता चाहिये, एक मौन और एक पुलक-भाव चाहिये। मैं पत्नी, या बच्चों को छोड़ने की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं तो केवल उनसे ऊपर उठने की बात करता हूँ। आपने उनके साथ जो सपने संजो रखे हैं, उनसे मुक्त होने की बात कह रहा हूँ। अगर तुम उन सपनों से मुक्त हो रहे हो, तो मुक्ति हमारे करीब आयेगी।

गीता के सूत्रों की जीवंतता मैंने स्वयं अनुभव की है और इसकी प्राणवंतता दूसरों के जीवन में भी पाई है, इसलिए यह जो बात कही गई है कि आसक्ति का त्याग करो और संसार में रहो, वाजिब है। पर प्रश्न है आसक्ति छोड़ें कैसे? आसक्तियों को हम काटें कैसे? क्या इसका भी कोई मार्ग है? आसक्ति त्याज्य है, यह बात तो ठीक है, लेकिन अनासक्ति के फूल कैसे खिलें? यही सूत्र है जो आसक्ति के त्याग की बात कहता है और अनासक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करता है। यह सूत्र कहता कि सब कर्मों को परमात्मा में अर्पित करते हुए कर्म करना ही आसक्ति से मुक्त होने का सबसे सरल और सुगम तरीका है।

कोई भी कृत्य हम यह समझकर करें कि वह कृत्य हम परमात्मा के लिए

कर रहे हैं। अगर भूख भी लगती है, तो यह मत सोचो कि भूख हमें लगती है। भूख किसी और को ही लगती है, जो हमारे शरीर में उतरकर आया है और वह भूख के रूप में प्रकट हो रहा है। भोजन करो तो यह भाव मन में बनाये रखो कि मैं भोजन नहीं कर रहा हूँ, उस भगवान को भोग चढ़ा रहा हूँ। जैसे ही भोजन करने बैठो, बैठते ही परमात्मा का स्मरण करो और कहो कि प्रभु ! स्वीकार करो। 'मैं' का तो भाव ही नहीं रखें। तब वह भोजन ही भोग बनेगा। अगर तुम जो भोजन कर रहे हो, उसे अन्य लोगों में बांटकर खाओ, तो यह भोजन मन्दिर के प्रसाद से भी बढ़कर होगा।

मैंने बचपन में कबीर की एक पंक्ति पढ़ी थी—'खाऊँ-पीऊँ सो सेवा, उटूँ बैटूँ सो परिक्रमा'। कबीर कहते हैं कि मैं जो कुछ भी खाता-पीता हूँ प्रभु, वह तुम्हारी सेवा है और जो मैं चलता-फिरता हूँ, वह तुम्हारी परिक्रमा है, क्योंकि तुम तो हर ठौर हो, हर जगह हो। हमारी प्रार्थना भी जीवंत हो जाये, अगर हमारा कृत्य ही हमारा अर्चन बन जाये। अगर आप अपना हर कृत्य भगवान को अर्पित करते हैं, तो निश्चित तौर पर आपसे पाप नहीं होगा। पाप-मुक्ति का राज है अकर्तृत्व, अनासक्ति।

मैं मन्दिर में जाऊँ तो भी मन्दिर में हूँ और अगर न जाऊँ तो अपने आपको मन्दिर में ही पाता हूँ। ऐसा नहीं कि मन्दिर ही मेरे लिए पवित्रतम स्थान है, वरन् जिस स्थान को लोग गंदे-से-गंदा कहेंगे, वह स्थान भी मेरे लिए पवित्र होगा। भगवान तो भावना के मंदिर में साकार रहते हैं।

मुझ याद है कि एक यहूदी व्यक्ति को कैद की सजा हुई। उसने भले ही अपराध किया होगा, लेकिन वह भगवान का बड़ा भक्त था। वह यही कहता कि जहाँ मैं हूँ, वहीं ईश्वर है। उसे जेल में एक बहुत ही बदबूदार और गंदी कोठरी नसीब हुई। एक बार जेलर वहाँ पहुँचा और उसने पूछा—अब तुम्हारा परमात्मा कहाँ है? कैदी ने कहा—परमात्मा तो यहीं, इसी कोठरी में, इसी गंदगी में मेरे साथ है। उस परमात्मा का कहाँ तक बखान करूँ, जो मेरे लिये इस गंदगी में भी महक उत्पन्न कर रहा है।

हमारा कृत्य इतना पवित्र हो कि हमारे खुले प्रांगण और बंद कमरे में कोई फ़र्क न रहे। हमारी दृष्टि इतनी पारदर्शी हो कि बाहर और भीतर में कोई भेद न

हो । बाहर में चंगे हैं, तो भीतर भी वैसी ही मौज, वैसा ही आनन्द । गीता कहती है कि अगर तुम अपना हर कृत्य भगवान को अर्पित कर अनासक्त होकर जीते हो, तो पाप छूटेंगे और जीवन निष्पाप होता चला जायेगा । तब पाप हमसे न हो पायेगा ।

जिस परमात्मा के अस्तित्व के बारे में सन्देह प्रकट किया जाता है, उसे मैंने देखा है, अपनी आँखों में, औरों की आँखों में । कोई अगर परमात्मा को देखना चाहता है, तो अपनी आँखें बंद करे और उन बंद आँखों में परमात्मा को देखे । फिर भी न दिखाई दे, तो एक बार मेरे तक आये और मेरी बंद आँखों के भीतर अपनी आँखें बंद कर उस परमात्मा की छवि को निहारे । उसकी आभा, उसका प्रमोद, उसकी शांति, उसका पुलक-भाव अभिभूत करेगा, रोमांचित करेगा । वही तो है जो सबके भीतर प्यास जगाता है, मुझसे लोगों को जोड़ता है । लोग मुझ से नहीं, उस परमात्मा से जुड़ते हैं । आखिर हम सभी उसी के पर्याय हैं । न वह हम से अलग, न हम उससे जुदा । परमात्मा अस्तित्व का पर्याय है ।

कहते हैं : एक राजा था, उसकी एक लड़की थी, लड़की बहुत आस्तिक थी, उसका पूरा समय ईश्वर की आराधना में गुजरता था । उसे कुछ और सुझाई ही नहीं देता सिवाय इसके कि वह पूजा करे, सिवाय इसके कि वह मंदिरों में रहे । राजा को चिन्ता हुई कि इसका विवाह किससे किया जाए । राजा ने खोज शुरू की । एक दिन एक मंदिर के बाहर एक व्यक्ति बैठा दिखा । उससे राजा के लोगों ने पूछा, कहाँ रहते हो । उसने कहा—जहाँ प्रभु रखे । क्या खाते हो ? जो प्रभु खिलाये । राजा के लोगों को लगा कि यह उपयुक्त पात्र है । इससे लड़की का विवाह हो जाये तो ठीक रहेगा । राजा से मिलवाया गया । राजा ने उनका विवाह तय कर दिया । विवाह के बाद वह ब्राह्मण राजकुमारी को लेकर एक दरख्त के नीचे गया । दरख्त की कोटर में एक रोटी का टुकड़ा रखा था । राजकुमारी ने रोटी का टुकड़ा देखा और वह रोने लगी । ब्राह्मण युवक राजकुमारी को समझाने लगा—देखो, मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि मेरे साथ रहना असंभव है मगर तुम नहीं मानी । उसने कहा—नहीं, मैं इसलिए नहीं रो रही हूँ कि अभाव ज्यादा है, बल्कि इसलिए रो रही हूँ कि मैंने सुना था कि तुम्हारा प्रभु में असीम-अटल विश्वास है, पर रोटी का टुकड़ा रखकर तुमने कल के इंतजाम की चेष्टा की, जो इस बात का गवाह है कि तुम्हारा विश्वास अधूरा है । कल का इंतजाम तो उसे

करना है, जब कि वह तुम्हीं करने लग गये । जब हम अपनी व्यवस्था खुद करने लग जाएंगे, तो परमात्मा हमारी चिंता छोड़ देता है ।

अच्छा होगा आसक्ति से मुक्त होने के लिए हम अपने हर कृत्य को परमात्मा को अर्पित करें । सुबह स्नान करें, तो भी इस भाव से कि ईश्वर को नहला रहा हूँ । तब शिवलिंग पर जल चढ़ाने से अधिक आनन्द आयेगा । अगर आप व्यापार करें, तो बड़े प्रेम से करें, पर यह भाव बनाये रखें कि यह व्यवसाय, व्यवसाय नहीं, परमात्मा की अर्चना का केन्द्र है । भगवान को भोग चढ़ाने के लिए मुझे इंतजाम करना है, इस भाव से कमाओ । केवल आसक्ति में उलझे रहे, तो जिन्दगी भर पैसा कमा लोगे, मगर वह पैसा अन्तर-सुख का आधार नहीं बन पायेगा । पैसा उपयोग के लिए है, जमा करने के लिए नहीं है और उपयोग इसलिए कि जीवन के लिए साधन जरूरी है ।

सबसे मिलो, प्रेमपूर्वक मिलो । प्रेम ही तुम्हारी श्रद्धा बन जाये; प्रेम ही तुम्हारी भक्ति और आशीष बन जाये, इतना प्रेम उंडेलो । देखो तो सही जीवन कितना सुनहरा बनता है । तब लगेगा कि हमारे लिये कोई बंधन, बंधन नहीं है; कोई भी संबंध आसक्ति नहीं है । हमारे लिए सारा अस्तित्व परमात्मा का पर्याय बनेगा; हमारा हर कृत्य एक पूजा होगी; हमारे हर कृत्य में एक अर्चना, एक प्रसन्नता, एक संपन्नता का भाव होगा । जीवन निष्पाप बनाये रखने के लिए, पाप से मुक्त होने के लिए संसार में ऐसे जीओ कि जैसे कमल जल में रहता है, फिर भी निर्लिप्त बना रहता है । दूसरा सुझाव यह है कि आसक्ति के लिए हम अपना हर कृत्य परमात्मा के लिये संपादित करें । अपनी ओर से यही एक महान अर्चना होगी और यह अर्चना हमारे स्वयं के लिए, हमारी अपनी मुक्ति और हमारे परमात्म-स्वरूप को उपलब्ध करने के लिये होगी । कृष्ण का यही कर्म संन्यासयोग है ।



निज से मंगल मैत्री

मनुष्य का सत्य सर्वोपरि है, संसार के सारे सत्यों में सबसे अनेरा सत्य । सत्य के नाम पर अन्य जितनी भी स्थापनाएँ हुई हैं, उन सब का संबंध मनुष्य के साथ है । स्वर्ग की अगर संरचना हुई है, तो वह भी मनुष्य की देन है और नरक की अवधारणा है, तो वह भी मनुष्य का ही प्रतिदान है ।

परमात्मा तक भी मनुष्य की ही पराकाष्ठा का नाम है । हाँ, अगर सृष्टि को परमात्मा का कर्तृत्व समझें, तो मनुष्य इस कर्तृत्व की श्रेष्ठतम कृति है । मनुष्य के अन्तःकरण में ही देवत्व, पशुत्व और प्रभुत्व तक के बसेरे हैं । मनुष्य का कोई अपवाद नहीं है, वह सब अपवादों का अपवाद है । जीवन के उतार-चढ़ाव, सारे मूल्य, यथार्थ और सारे आदर्श मनुष्य से संबद्ध हैं । मनुष्य को जितनी ज्यादा गरिमा दी जा सके, दी जानी चाहिये । जब एक मनुष्य, मनुष्य की ही बात करता है, तो एक मनुष्य के लिए मनुष्य से बढ़कर और कोई भी आदर्श नहीं हो सकता । हम अपने अतीत में चाहे देवत्व के दीप से अभिमंडित रहे हों या नरक की कारगुजारियों से गुजरते रहे हों, हम अपने अतीत की चर्चा नहीं करेंगे । हमारा वर्तमान मनुष्यत्व का है । हमारे लिए यह काफी है । हमारा अतीत और भविष्य, चाहे वह देवत्व का हो, पशुत्व का या प्रभुत्व का, उसमें सच्चाइयाँ कम, सत्य के नाम पर कल्पनाओं के चित्र कहीं ज्यादा खींचे गये हैं ।

साबार ऊपर मानुष सत्य,
ताहार ऊपर नाहीं ।

मनुष्य का सत्य सबसे ऊपर है । ताहार ऊपर नाहीं । उससे बड़ा सत्य और नहीं । हम मनुष्य हैं, हमारे लिए यह गौरव की बात है । भले ही पहले सतयुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग रहे हों, लेकिन हम अपने युग को हीन और दरिद्र नहीं कह सकते । हम जिस युग में पैदा हुए हैं, हमारे लिए तो वही सबसे सुन्दर, सबसे सही और सबसे ज्यादा समायोजित होने वाला युग है । हम अपने युग को कलियुग कहकर समय की उपेक्षा नहीं करेंगे । हम वर्तमान के द्रष्टा हैं । अपने वर्तमान को हम समय का निकृष्ट रूप नहीं कह सकते । कलयुगी व्यक्ति तो वह कहलाता है, जो सोया हुआ है, मूर्च्छित है । वह व्यक्ति हमेशा सतयुगी ही कहलायेगा, जिसकी चेतना में जागरण का शंखनाद हो चुका है । सुषुप्त चेतना ही कलयुगी है और जागृत-चेतना ही सतयुगी का पर्याय है ।

हम मनुष्य हैं, हमारे लिए इससे बड़ी और गौरव की बात क्या होगी । जिन धर्मशास्त्रों की हम पूजा करते हैं, वे धर्मशास्त्र कहते हैं लाखों-लाख जीव-योनियाँ हैं और मनुष्य उन जीव-योनियों में एक योनि है । यह वह जीव-योनि है, जिसके सामने सारी जीव-योनियाँ निर्मूल्य हो जाती हैं । यदि एक मनुष्य, मनुष्य होकर अपने आप में गौरवान्वित नहीं होता, तो मैं नहीं जानता कि उस मनुष्य को मनुष्य कहा जाए । मनुष्य, मनुष्य है, यही उसके लिए काफ़ी है । मनुष्यत्व में मनुष्य की आत्मा समाविष्ट है । मनुष्य स्वयं अपना कर्णधार है । अपने देवत्व का भी वही आधार है और अपने जहन्नुम का भी वही सूत्रधार है । मनुष्य के एक ओर जन्त है, दूसरी ओर नरक है । मुस्कुराता मनुष्य जन्त है, आग उगलता मनुष्य नरक है । धरती पर आज जैसा भी तुम्हें रूप देखने को मिलता है, वह सब मनुष्य की ही कृति है । अगर अच्छा देखने को मिलता है, तो भी और बुरा-बदरूप देखने को मिलता है, तो भी; दोनों का श्रेय मनुष्य को ही है । मन्दिर मनुष्य के अन्तरमन में रहने वाली प्रभुता का प्रतिबिम्ब है । वहीं जानवर उसके मन में रहने वाली पशुता का साकार रूप है । मनुष्य ही आधार है, अपने हास-विकास का । हर रूप उसी का प्रतिबिम्ब है ।

जीवन के दो ढंग होते हैं—एक तो वैसे ही बहता चला जाए, नतीजा कुछ भी न निकले, पहुँचना कहीं न हो, कोई मंजिल न मिले । और एक जीवन किसी

लक्ष्य, किसी गहरे प्रयोजन, किसी गहरी प्रार्थना के धागे में पिरोया हो। ज्यादातर लोगों का जीवन समय का एक ढेर है। उसमें कोई संगति नहीं है, उसमें कोई रेखाबद्ध विकास नहीं है।

मनुष्य ही अपना मित्र होता है और मनुष्य ही अपना शत्रु। अब तक हमने मित्रता और शत्रुता के चिर-परिचित मापदंड स्थापित किये हैं, लेकिन गीता हमारे लिए वह मार्ग प्रशस्त कर रही है और यह समझ दे रही है कि मनुष्य के लिए मनुष्य से बढ़कर और कोई मित्र नहीं होता और न शत्रु होता है। भाई से बढ़कर कोई अपना नहीं और भाई से बढ़कर कोई पराया नहीं। भाई अगर अपना बना रहे, तो उस भाई के आगे स्वर्ग भी झुकेगा और भाई पराया हो जाये, तो घर और परिवार के लिए कोई नरक नहीं होगा। मनुष्य ही मनुष्य का मित्र है।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ।

मनुष्य आप ही अपना मित्र है, आप ही अपना शत्रु है। कोई अन्य उसका मित्र या शत्रु नहीं है। मनुष्य अपना मित्र सदा उसे बनाता है, जिसे वह अपने स्तर का समझता है। मनुष्य कभी पशु-पक्षियों से या ईंट-गारे के बने मकान से दोस्ती नहीं कर सकता। मनुष्य ही धरती पर वह प्राणी है, जिससे मैत्री स्थापित कर सकते हो। अगर मैत्री मंगल-मैत्री बन जाये, तो वही मंगल-मैत्री मनुष्य के लिए धर्म का विशुद्ध अनुष्ठान हो जाता है।

मनुष्य जहाँ-जहाँ मित्रता स्थापित करना चाहता है, वहाँ-वहाँ शत्रुता के बीज भी आरोपित होते रहते हैं। देखने में यह आता है कि जहाँ-जहाँ मित्रता होती है, अंततः वहाँ शत्रुता आ ही जाती है। मित्रता के मायने हुए दो व्यक्तियों के बीच वह संबंध कि जिसके बीच कहीं कोई स्वार्थ न हो, जिसके बीच छल-प्रपंच और प्रवंचना न हो। जब मित्रता के बीच छल-प्रपंच आ जाता है, तो मित्रता शत्रुता में परिणित हो जाती है। एक मित्र तुम्हारी निंदा भी कर दे, तो उसकी निंदा में तुम्हारे सुधार का प्रयास होता है और अगर एक शत्रु तुम्हारी तारीफों के पुल ही बांधता रहे, तो उसमें भी एक व्यंग्य निहित होता है। शत्रु की प्रशंसा से भी सावधान रहो और मित्र द्वारा की गई निंदा की चिन्ता मत करो। मित्र हर हाल में तुम्हारा उत्थान चाहता है, तुम्हें कभी भी दरिद्र और गिरा हुआ नहीं देखना चाहता। अगर कृष्ण को यह पता ही न चले कि सुदामा इतनी दीन-हीन हालत में जी रहा है, तो बात

अलग है, पर पता चल जाये तो कृष्ण, सुदामा को भी वही सुख, वही समृद्धि और वही सौजन्य प्रदान करना चाहेंगे, जिसे वे स्वयं जीते हैं ।

मैंने मित्रों के बीच ऐसी शत्रुता पनपती देखी है कि कल्पना नहीं की जा सकती । कल तक जो मित्र एक-दूसरे के बगैर रह नहीं सकते थे, वे आज परस्पर मुँह देखना भी पसंद नहीं करते हैं । ऐसा करके मनुष्य स्वयं के साथ ही नाइंसाफी करता है । वह स्वयं के अन्तर्-देवत्व को पतित करता है । यह सारा जगत तो एक अन्तर्सम्बन्ध है । जैसे तालाब के ठहरे पानी में एक कंकरी फेंकी जाये, तो सारा तालाब आन्दोलित होता है; जैसे मकड़ी के जाले का एक तार हिलाया जाये, तो सारा जाल प्रभावित हो जाता है, वैसे ही जब हम अपनी ओर से किसी के प्रति कोई शत्रुता का भाव रखते हैं, तो सारे विश्व में यह भावना प्रसारित होती है । विश्व-मैत्री की मंगल भावना लिये मित्रता का विस्तार करो, शत्रुता का शमन करो ।

कहते हैं कि श्रीलंका के सम्राट ने महान् सम्राट अशोक को मैत्री स्थापित करने के लिए बहुत सारे मूल्यवान उपहार भेजे । अशोक यह विचार करने लगे कि मैं अपनी ओर से श्रीलंका के सम्राट को ऐसी क्या चीज भेजूँ कि जो भौतिकता से परे हो । तब सम्राट अशोक ने उस पेड़ की एक डाल तुड़वाकर, अपने पोते महेन्द्र के साथ भिजवाई, जिस पेड़ के नीचे बुद्ध को संबोधि उपलब्ध हुई थी । श्रीलंका का सम्राट इस अनोखे उपहार के रहस्य को तत्काल नहीं जान पाया । उसने वह डाल अपने राज-उद्यान में आरोपित कर दी । वह पेड़ की डाली बहुत मूल्यवान निकली । जैसे मनुष्य मनुष्य से वार्तालाप करता है, वैसे ही पत्तों ने पत्तों से बातें की, फूलों ने फूलों से बातें की और एक दूसरे से संवेदना आगे बढ़ती गई । पत्तों में रहने वाली बुद्धत्व की आभा, वह मंगल-मैत्री की भावना पत्तों से पत्तों में ही स्थानान्तरित होती गई और बौद्ध धर्म भारत से श्रीलंका, श्रीलंका से जापान और फिर सारे संसार में फैल गया ।

मित्रता अगर दोगे, तो मित्रता ही प्रसारित होगी । शत्रुता अगर दोगे, तो शत्रुता प्रतिध्वनित होकर तुम पर ही बरसेगी । गीतों को गुनगुनाओगे; तो वापस गीत ही सुनने को मिलेंगे और गालियाँ दोगे, तो गालियाँ ही वापस तुम्हारी झोली में आने वाली हैं । आप अगर यह सोचें कि एक सास बहू की उपेक्षा करते हुए भी बहू सास का सम्मान करे, तो यह संभव नहीं है । सास तो आचरण के द्वारा

बहू को जीना सिखाए। सास इस तरह से जिये कि बहू उसका सम्मान करने के लिए, उसको आदर-अदब देने के लिए विवश हो जाये। भाई के प्रति इस तरह से त्याग करो कि तुम्हारा भाई परमात्मा को बाद में चाहे, पहले तुम्हें पसन्द करे। जीना हमें आना चाहिये। जीवन के साथ जैसी परिस्थितियाँ मिली हैं, उन परिस्थितियों को हम न भी बदल पायें, लेकिन उन परिस्थितियों के प्रति हमारी जो उद्वेलनता होती है, जो संवेदनशीलता होती है, उनको तो हम अनुद्वेलित कर सकते हैं, शान्त कर सकते हैं, मौन और तटस्थ कर सकते हैं।

सत्प्रवृत्तियों में स्थित मनुष्य ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्तियों में स्थित मनुष्य ही अपना शत्रु है। अगर सन्मार्ग पर चल रहे हो, तो तुम्हीं तुम्हारे मित्र हो और विपरीत मार्ग पर अग्रसर हो, तो तुमसे बढ़कर तुम्हारा और कोई शत्रु नहीं है। तुम्हीं अपने मित्र, तुम्हीं अपने शत्रु। यह कितना बड़ा चमत्कार है कि औरों को मित्र बनाने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी, अगर तुम्हीं अपने मित्र हो जाओ। निज से मैत्री हो। औरों से प्रेम करना तो बाद में सीखो, पहले तो अपने आप से प्रेम करो। जो अपने आप से प्रेम नहीं कर पाया, वह औरों से कैसे प्रेम कर पायेगा? तब प्रेम न होगा, केवल बातों का स्थानान्तरण होगा। तुम अपना दुखड़ा पड़ोसी को सुनाओगे, पड़ोसी अपनी व्यथा किसी और को सुनायेगा और यह क्रम चलता रहेगा। दुःख आगे से आगे विस्तार लेता जाएगा। विस्तार तो हो सुखों का।

मनुष्य का अभ्युत्थान स्वर्ग है, पतन नरक है। मन में मित्रता स्वर्ग है, मन में शत्रुता, राग-द्वेष नरक है। घड़ी में स्वर्ग, घड़ी में नरक। पल में मुस्कान, पल में तकरार। स्वर्ग कब नरक में बदल जाये, कहा नहीं जा सकता। मनुष्य न जाने कितनी बार स्वर्ग में जाता है और न जाने कितनी बार अपने आपको नरक में धकेलता है। मैं देखता हूँ कि मन्दिरों में नरक के नक्शे टंगे रहते हैं और उन नक्शों में यह दिखाया जाता है कि आग लगी है और मनुष्य उसमें जल रहा है। यह आग क्रोध की आग है। जिस क्षण क्रोध की तरंग पैदा हो जाये, मेहरबानी करके अपने आपको टटोलिये, वही नरक की आग आप में जलती हुई मिलेगी, सुलगती हुई दिखाई देगी। मुझे बताइये क्या नरक की आग इससे भी भयंकर होती है? नरक को तो हम खुद जी रहे हैं। घर में हर तरह की परिस्थिति बनती है। चार बर्तन घर में हैं तो उनमें टकराहट तो होगी ही। समझ चाहिये, गृहशान्ति चाहिये। तब क्रोध की आग में जलने की क्या जरूरत। अपने आपको टिन का

बर्तन मत बनाइये कि क्षणिक आग भी गर्म कर डाले । क्रोध की आग, काम की आग, कामना की आग, कितनी तरह की आग है, जो जला रही है हमें । कृपया अपने आप को आग से बचाइये, स्वयं से ही मंगल-मैत्री स्थापित कीजिये ।

अगर स्वर्ग को जीना है, तो शान्ति, प्रेम और मैत्री को जीना होगा । स्थापित कीजिए स्वयं से मैत्री । नरक की आग से बचना है, तो शत्रुता की आग को भगाओ । अपने क्रोध, विकार और जीवन की क्षुद्रताओं से मुक्त होने का प्रयास करो । तुम मन्दिर-मस्जिद जाकर पुण्य तो कमा लेते हो, लेकिन काम-क्रोध की वृत्ति कहाँ छूटी ? विकार-अहंकार कहाँ छूटे ? न नाम कमाने की चेष्टा ही गई, न धन की लोलुपता लुप्त हुई । काम-क्रोध का पाप जारी है । भटकाव जारी है, निश्चित तौर पर मनुष्य का भटकाव जारी है । गीता हमें भटकाव से ऊपर उठना सिखाती है, सबसे प्रेम करना सिखाती है । और सिखाती है कि तुम अपने मनुष्यत्व पर गौरवान्वित होओ । जीवन के उत्सव में बांसुरी के सुर फूटने दो ।

एक महायानी कथा है । एक बौद्ध भिक्षु संन्यासी किसी गाँव से गुजर रहा था । संन्यास एक नई तरह का सौंदर्य दे जाता है । ऐसा सौंदर्य जो जगत का सौंदर्य नहीं है । वह एक तरह की गरिमा दे जाता है जो इस संसार में अजनबी है । तो वह संन्यासी गुजर रहा था एक रास्ते से अपनी मस्ती में झूमता हुआ । एक वेश्या ने उसे देखा । उसने बड़े सुन्दर लोग देखे थे । सम्राट और धनपति देखे थे । वे उसके दरवाजे पर पंक्ति में खड़े रहते थे, लेकिन वह वेश्या उस संन्यासी पर मुग्ध हो गई । पहली बार उसके हृदय में प्रेम उठा । वह भागी और फिर संन्यासी का हाथ पकड़ लिया, उसने कहा—आओ मेरे घर और आज मेरे घर मेहमान रहो । भिक्षु ने कहा आऊँगा जरूर, पर जब जरूरत होगी तब आऊँगा । अभी तुम जवान हो । तुम्हारे कीर्तिगान मैंने भी सुने हैं । धन्यवाद कि तुमने घर आने का निमंत्रण दिया । अभी तो मैं किसी यात्रा पर हूँ; लेकिन जिस दिन जरूरत होगी, तुम भरोसा रखना, मैं आ जाऊँगा ।

वेश्या को बड़ी पीड़ा हुई, यह चोट बहुत गहरी थी, अपमानजनक थी । उससे पहले उसने कभी किसी को निमंत्रण नहीं दिया था । पहला ही निमंत्रण असफल रहा । उसने अपने द्वार से कई बार लोगों को लौटाया था, लेकिन आज वह पहली बार किसी और के द्वार से खाली लौटी थी । बात आई गई हो गयी,

घाव की तरह बात मन में चुभती रही ।

कहते हैं सपनों में कभी-कभी भिक्षु आया करता था । जब-तब उसे भिक्षु की याद पकड़ लेती । ऐसे कई वर्ष बीत गये । उसे कोढ़ हो गया । उसका शरीर गलने लगा । लोगों ने उसे गाँव से बाहर रख दिया । एक दिन वह गाँव से बाहर प्यास से तड़प रही थी । तृप्त गर्मी के बीच वह पानी के लिए आवाज लगा रही थी । जिसने उम्र भर सोने के पात्रों में पानी पीया हो उसे कोई मिट्टी के सकोरे में पानी देने को तैयार नहीं था । तभी उसने देखा किसी का हाथ उसके माथे पर आया । उसने पानी पीया फिर पूछा कि तुम कौन हो । भिक्षु ने कहा—मैं आ गया हूँ । तीस वर्ष पहले तुमने मुझे बुलाया था, तब मेरी कोई जरूरत न थी, मगर आज मैं ही तुम्हें पहचान सकता हूँ । तुम्हारे हड्डी-माँस-मज्जा से मेरा नाता नहीं है । तुम्हारी आत्मा को मैं पहचानता हूँ । तुम्हारे प्रेम का निवेदन मेरे पास है । तुम अपनी रुग्ण काया मुझे सौंप दो । कहते हैं वह वेश्या उस रात जिस आनन्द और शांति से मृत्यु को प्राप्त हुई वैसा सौभाग्य कभी-कभी किसी-किसी को मिलता है ।

तुम धूल की भी निन्दा मत करो । खाक के बराबर कोई चीज नहीं है । धूल बड़ी अनूठी है । जब तुम जिन्दा हो तो तुम्हारे पैर के नीचे और जब मर जाते हो तो तुम्हारे ऊपर छा जाती है । मगर हमारी दिक्कत यह है कि हम जानकर भी अनजान रहते हैं ।

इब्राहीम की फकीर होने से पहले की कहानी बड़ी अद्भुत है । इब्राहीम सम्राट था एक दिन वह अपने सिंहासन पर बैठा था, उसके दरवाजे पर एक फकीर झगड़ा करने लगा । वह दरबान से कह रहा था कि मुझे रास्ता दो, जाने दो अन्दर, मुझे रोकने वाला कौन है । मुझे इस सराय में आज की रात विश्राम करने दो । आज की रात मैं इसी सराय में रुकूँगा ।

झगड़ा बढ़ा । पहरेदार ने फकीर से कहा कि वह सराय नहीं है राजा का महल है । उसने कहा, तुम्हें पता नहीं, यह सराय है । पहरेदार भी कभी माने हैं ? उसने कहा कि मैं यहीं नौकरी करता हूँ । मुझे पक्का मालूम है कि वह राजा का महल है । यह हुज्जत इब्राहीम तक पहुँची । इब्राहीम ने पूछा, माजरा क्या है । पहरेदार ने कहा कि यह कोई पागल है, महल को सराय बता रहा है । उसने इब्राहीम से कहा अच्छा यह बताओ कुछ साल पहले जो यहाँ बैठते थे, कहाँ गए ।

इब्राहीम ने कहा कि वह मेरे अब्बा थे । उसने कहा तब मैं आया था । उससे बीस बरस पहले भी मैं आया था, तब कोई और बैठते थे । उसने कहा कि वह मेरे अब्बा के अब्बा थे । फकीर ने कहा कि तुम्हें पक्का मालूम है कि अगली बार मैं जब आऊँगा तब तुम्हीं मिलोगे ? इब्राहीम में बोध जगा । उसने कहा कि अब आप यहाँ रुकें, मैं चलता हूँ ।

यह बोध का प्रश्न है जिसे जो देंगे वही लौटकर आता है उसी की अनुगूँज सुनाई देती है ।

गीता का आज का जो सूत्र है, वह हमें अपने आप से जुड़ने की सलाह देता है । यही सूत्र हमें अपने भीतर पल रही उच्छृंखलताओं का त्याग करने की, अपने भीतर बह रहे चेतना के विशृंखल प्रवाह को रोकने की, अपने ही भीतर के मनुष्य के अन्तःकरण की शुद्धि की प्रेरणा दे रहा है । स्वयं से मैत्री और प्रेम करके ही, हम स्वयं की शान्ति और शुद्धि का प्रयास कर सकते हैं । स्वयं से लगाव हुए बगैर अन्तःकरण की विशुद्धि के प्रयास रंग नहीं लाते । इस बात को खास ध्यान में लें ।

सूत्र है—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

—चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए, मन को एकाग्र करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास कीजिये ।

गीता ने जो योग-प्रणाली अंगीकार की है वह मानसिक प्रशिक्षण के साधन के रूप में स्वीकार की गई है । योग-साधना निर्देश देती है कि हम अपने को परिवर्तनशील व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर असाधारण प्रवृत्ति में ला सकते हैं । योग-साधना के तीन अनिवार्य उपाय हैं ।

पहला है मन, शरीर और इन्द्रियों को पवित्र रखना ।

दूसरा है एकाग्रता यानी इन्द्रियों की ओर दौड़ने वाले विचारों को स्थिर करना ।

और तीसरा है यथार्थ सत्ता तक पहुँचने के बाद उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना ।

कबीर ने अपनी भाषा को संध्या-भाषा कहा । संध्या का मतलब है धुंधला क्षण, दो स्थिति के बीच में । कबीर कहते हैं न हम सोए हुए बोल रहे हैं, न हम जागते हुए । हम बिल्कुल 'बोर्डरलैंड' से बोल रहे हैं । यह 'बोर्डरलैंड' ही योग है । क्योंकि स्थिति और गति दोनों के लिए शरीर अनिवार्य है । शरीर के बिना न स्थिति हो सकती है, न गति । योग, स्थिति से गति और गति में स्थिति की यात्रा है । और इन दोनों में कोई टकराव भी नहीं है जैसे एक कमरे में संगीत भरा हुआ है और प्रकाश भी भरा हुआ है । प्रकाश की कोई तरंग संगीत की तरंग से टकराती नहीं है । ऐसा नहीं है कि संगीत की तरंग के लिए प्रकाश की तरंग को जगह खाली करनी पड़े, या प्रकाश की तरंग के लिए संगीत की तरंग को चले जाना पड़े । योग ऊर्जा के वर्तुल का प्रयोग है । विद्युत की भाषा में कहें तो विचारों का जो कोलाहल है, वह ऊर्जा के वर्तुल के न बनने की वजह से है । वर्तुल के बनते ही विचारों का कोलाहल समाप्त हो जाता है । तिब्बती मंदिर में घंटा नहीं रखते, लेकिन मंदिरों में घंटी होती है । अजंता का एक बौद्ध चैत्य है उसमें लगे पत्थर ठीक उतनी ही ध्वनि को तीव्रता से लौटा सकते हैं जितनी तीव्रता से तबला लौटाता है । आप तबले पर चोट करें वैसे ही पत्थर पर चोट करें आवाज एक-सी होती है । इसका कारण क्या है ? इसका कारण वही वर्तुल है ।

तिब्बती सर्वधातुओं का बना एक बर्तन रखते हैं, घड़े की तरह । उसमें एक लकड़ी का डंडा होता है । घुमाने के लिए । उसे सात बार घुमाकर चोट करते हैं । सात बार घुमाने पर और चोट करने पर 'मणिपद्मेहूँ', की ध्वनि निकलती है । और ध्वनि विद्युत का छोटा रूप है । 'साउण्ड इज द बेस' । इलेक्ट्रिसिटी बेस नहीं है । योग और कृष्ण का योग भी ध्वनि को आधार मानता है । इसलिए पश्चिम के लोगों ने जब भारत के मंदिर देखे तो वे उन्हें 'अनहाईजेनिक' लगे थे । लेकिन आज कोई नहीं कहता है कि मंदिर 'अनहाईजेनिक' है । महावीर ने भी इस आर्किटेक्चर को समझा था ।

सन् 1828 में दक्षिण के एक छोटे परिवार में रामानुजम का जन्म हुआ था । बिना किसी विशेष शिक्षा के रामानुजम की गणित की शिक्षा अद्भुत थी । जो

लोग गणित जानते हैं उनका मानना है कि वह मैट्रिक भी पास नहीं था। एक छोटे से दफ्तर में क्लर्क करता था। अचानक खबर फैलने लगी कि इस लिपिक की गणित की कुशलता अद्भुत है। किसी ने रामानुजम को सुझाव दिया कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के गणितज्ञ प्रो. हार्डी को लिखो। उसने हार्डी को चिट्ठी तो नहीं लिखी, लेकिन गणित के डेढ़ सौ प्रमेय बनाकर भेज दिये। हार्डी चकित था। उसने उसे कैम्ब्रिज बुलवाया। हार्डी खुद को रामानुजम के सामने बच्चा समझने लगा। बड़ी कठिनाई खड़ी हो गई कि जिस सवाल को हल करने में बड़े से बड़े गणितज्ञ को छह घंटे लगते थे, रामानुजम उसे छह मिनट से भी कम समय में हल कर देता था। रामानुजम को टी.बी. हो गई थी। वह छत्तीस साल की उम्र में मर गया। वह अस्पताल में था। उसे देखने हार्डी अपने मित्रों के साथ गया। रामानुजम ने खिड़की से हार्डी की कार का नम्बर देखा और उसे कहा आपकी कार का नंबर बड़ा चमत्कारी है। उसने चार विशेषताएँ बताईं। रामानुजम के मरने के बाद हार्डी छह महीने में केवल तीन विशेषता सिद्ध कर पाया और एक हार्डी के मरने के बावीस साल बाद सिद्ध हो पाई।

अमेरिका में 1945 में एडमर्ग कायसी की मौत हुई। मरने से पहले वह कौमा में चला गया। उसकी बेहोशी इतनी सघन थी कि डाक्टरों ने आशा छोड़ दी। डाक्टरों ने कहा कि इसका दिमाग डिसइंटसीग्रेट हो रहा है, विखण्डित हो रहा है। लेकिन अचानक कायसी की आवाज लौट आई और उसने कहा कि मेरी रीढ़ में पीछे चोट लगी है। इसी के कारण मैं बेहोश हूँ। अगर छह घंटे में मुझे ठीक नहीं किया गया तो मैं बच नहीं पाऊँगा, उसने कुछेक दवाइयों के नाम बताए। जिसके बारे में कायसी ने कभी पढ़ा भी नहीं होगा। इसे महावीर ने प्रतिक्रमण कहा है। एक होता है आक्रमण जो बाहर होता है। किसी पर होता है। एक होता है 'प्रतिक्रमण'। आक्रमण का विरुद्धार्थी अनाक्रमण नहीं होता, 'प्रतिक्रमण' होता है। इसका अर्थ होता है भीतर लौटना। योग भीतर लौटने का कौशल है। वैज्ञानिक कहते हैं 'रैपिड आई मूमेंट'। पुतली की अगति गहन निद्रा है। योग कहता है गहरी सुषुप्ति में हम वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ समाधि होती है। फर्क इतना होता है कि सुषुप्ति का पता नहीं चलता, समाधि का पता चलता है। कृष्ण का योग एक विशिष्ट किस्म की खोज है रेजोनेंस की दिशा में भी, प्रतिध्वनि की

दिशा में भी और संवेदनशीलता की दिशा में भी । इसलिए आज्ञाचक्र पर चंदन का इस्तेमाल होता है । बीस हजार साल में योग निरन्तर यह बात कहता रहा है कि आज्ञाचक्र के साथ जुड़ा मस्तिष्क जो बंद पड़ा है उसे सक्रिय किए बिना संसार के पार जाना संभव नहीं । महावीर ने इसे अमिधा कहा था, जिसे अब टेलिपेथी कहा जा रहा है ।

गीता का सार ही योग है, चाहे वह योग संन्यास-योग हो या कर्मयोग । गीता को योग से अलग नहीं किया जा सकता । तुम भी स्वयं को योग से अलग नहीं कर सकते । कृष्ण का तो हर किसी को सम्बोधन ही योगी का है । उनके लिए एक संन्यासी ही योगी नहीं है, एक श्रमिक भी योगी ही है । वह कर्मयोगी है । योग का सीधा-सा मायना होता है—जुड़ना । चाहे तुम कर्म से जुड़ोगे, तो भी योग से ही जुड़ रहे हो और संन्यास से जुड़ रहे हो, तो भी योग से ही जुड़ रहे हो । जब भी मनुष्य योग से जुड़ेगा, तब-तब वह अपने आप से ही जुड़ेगा । अपने आपसे जुड़ना वास्तव में अपने आप से ही मंगल-मैत्री स्थापित करना है । जो आदमी अपने आप से नहीं जुड़ पाया, वह अपना ही शत्रु हुआ, अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी चलाई । औरों से जुड़ते रहे, खुद से अजनबी बने रहे तो क्या मतलब । योग तो गीता की मूल पूंजी और कुंजी है, यही गीता की प्रेरणा और संदेश है । गीता की वास्तविकता योग में निहित है ।

तुम चाहे जितने लोगों से जुड़ जाओ, पर गीता से न जुड़े तो जुड़कर भी न जुड़ पाये । गीता से जुड़कर भी अपने आप से न जुड़ पाये, तो किसी से भी जुड़ना नहीं हुआ । स्वयं से जुड़ना ही योग है । जो अपने आपका स्वामी है, वही योगी है । जब मैं यह बात कह रहा हूँ कि योग से जुड़ो, तो मैं यह नहीं कहता कि संसार से भाग जाओ, गुफा में चले जाओ । मैं किसी को समाज से विमुख नहीं करता, न किसी को श्रम और कर्म से विमुख करता हूँ । समाज का मायना इतना-सा ही है कि कुछ लोग आपस में मिल-जुलकर रहते हैं, वह समाज है । चाहे वह समाज गृहस्थियों का हो या संन्यासियों का हो, समाज तो समाज है । समाज से कोई मुक्त नहीं है । संघ भी एक समाज ही है, शब्द का पर्याय भर बदला है । मैं श्रम से आपको मुँह मोड़ने की बात नहीं कहूँगा, क्योंकि श्रम करना तो जरूरी है । दिन भर निठल्ले बैठे रहना अध्यात्म की कतई सीख नहीं है, यह धर्म की नसीहत थोड़े ही है । अजी, कुछ कर्म करो, श्रम करो, स्वाश्रित जीवन जीओ ।

श्रम-विमुख नहीं होना है, जब मैं यह कह रहा हूँ, तो मैं यह भी कहता हूँ कि कहीं ऐसा न हो कि हम अपनी मूल चेतना से संबंध तोड़ बैठें। दिन भर श्रम करो अपने जीवन के संचालन के लिए और जैसे ही सांझ ढलती है तुम अपने आपको चारों ओर से समेट लो, ठीक वैसे ही जैसे सांझ होते ही सूरज अपनी रश्मियों को समेट लेता है। कोई अगर मुझसे पूछे कि आप सूर्यास्त होते ही मौन क्यों ले लेते हैं? तो इसका सीधा-सा उत्तर, छोटा-सा रहस्य इतना ही है कि दिन दुनिया को दिया, रात अपने लिये जीयेंगे। दिन में तो हर कोई जागा हुआ है। दिन में तुम जागे हुए लोगों के साथ जागृत रहो, पर रात को निद्रा में भी समाधिस्थ बनो। सांझ होने पर चेतना की रश्मियाँ स्वयं में लौटने को आतुर होने लगती हैं। संध्या का मतलब ही है सम्यक् ध्यान। सांझ होने पर ध्यान में उतर आओ। संसार से मौन हो जाओ, घर में आत्मस्थ। एक मौन अपने अंतरंग में उतरने दो। महावीर प्रेरणा देते हैं प्रतिक्रमण की। लौटा लाओ अपने आपको चारों ओर से। अपनी मूल चेतना को अपने मूल स्रोतों की ओर ले आओ। हमारी चेतना दिनभर जिन-जिन के साथ रागमूलक, द्वेषमूलक, प्रेममूलक या वैरमूलक संबंधों को स्थापित करती रही है, उन सबसे अपनी चेतना को लौटा लाओ। तुम्हारे द्वारा भीतर के घर में लौट आने का नाम ही योग है, ध्यान है।

कृष्ण कहते हैं कि चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अभ्यास करो। बिल्कुल सीधी सादी-सी विधि बताई है कि योग करो, योग का अभ्यास करो। योग क्यों किया जाये? तो जवाब होगा कि अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग किया जाये। अगर चित्त विकृत अथवा उद्विग्न दिखाई देता है, तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जो प्रयास होगा, उसी प्रयास का नाम योग होगा। अगर लगता है कि हमारा अन्तःकरण बिल्कुल साफ़-सुथरा, निर्मल है, कोई क्रोध नहीं, कोई अहंकार या विकार नहीं, अन्तरमन शान्त-सौम्य है तो आपको योग की कोई जरूरत नहीं है। तब आपका मार्ग बिल्कुल साफ़-सुथरा, उज्ज्वल है। आप रोशनी को लेकर उत्पन्न हुए हैं और रोशनी को लेकर ही आगे बढ़ रहे हैं। सिंह बनकर पैदा हुए और सिंह बनकर ही जी रहे हैं। आप योगी हैं, शुकदेव हैं। इसके विपरीत यदि ऐसा लगता है कि जीवन में सघन तमस है, तो बहुत अच्छा होगा कि योग करें, क्योंकि बिना योग के अन्तःकरण की शुद्धि संभव ही नहीं है। अन्तःकरण की शुद्धि का नाम

ही योग है ।

अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कृष्ण दो अनिवार्य सूत्र देते हैं—‘अपने चित्त और इन्द्रियों को वश में करके तथा मन को एकाग्र करके, यानी मन, चित्त और इन्द्रियों पर आत्म-नियंत्रण बरकरार हो । चित्त, इन्द्रियाँ व शरीर—इन सबका सम्बन्ध जगत के साथ है, जबकि अन्तःकरण का संबंध व्यक्ति के निजत्व के साथ है । आँख बाहर खुलती है, इसलिए बाहर का सौंदर्य ही देख पाती है; कान बाहर खुलते हैं, इसलिए बाहर की ध्वनि ही ग्रहण कर पाते हैं; नाक के छिद्र बाहर हैं, इसलिए बाहर की सुगन्ध-दुर्गन्ध ही महसूस कर पाते हैं; जीभ स्वाद लेती है, लेकिन स्वाद बाहर का है और त्वचा स्पर्श की संवेदना लेती है, लेकिन बाहर से । भीतर के मल-मूत्र की दुर्गन्ध नाक थोड़े ही ग्रहण करता है । जीभ से नीचे उतरते ही पदार्थ के स्वाद-अस्वाद का ज्ञान नहीं हो सकता । आँखें बाहर का सौन्दर्य देखती हैं, लेकिन इनकी पहुँच न तो भीतरी सौन्दर्य तक है और न भीतर की कालिख, कलुषता तक है । इन्द्रियाँ वहाँ इसलिए नहीं पहुँच पातीं, क्योंकि सारी इन्द्रियों का संबंध बाहर से है और मनुष्य के भीतर बैठा हुआ मनुष्य अतीन्द्रिय होता है । इन्द्रियों के द्वारा तो हम विषयों को ग्रहण करते हैं, वस्तु में रहने वाले भाव को ग्रहण करते हैं । इन्द्रियों के द्वारा हम स्वयं को उपलब्ध नहीं कर पाते । यह तभी संभव है जब हम अपनी इन्द्रियों को वश में कर लें, अतीन्द्रिय हो जाएँ । इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय दोनों के बीच रहने वाले आकर्षण से हम ऊपर उठ जायें ।

व्यक्ति का चित्त उद्विग्न बना हुआ है, तो वह कभी क्रोधित होगा, कभी कामोत्तेजित और कभी लोलुप होगा । चित्त मनुष्य का कभी शान्त नहीं रहता । कृष्ण युद्ध की प्रेरणा देते हैं । वह युद्ध इसी चित्त के साथ ही तो करना है । अन्तर-युद्ध, आत्म-जितेन्द्रियता गीता की वास्तविक पृष्ठभूमि है । मनुष्य का चित्त ही तो वह उपद्रव मचाता है, जो भूतलोक का कोई शैतान भी नहीं मचाता होगा । और सबको तो वश में कर भी लिया जाये, मगर इस मन को वश में करना टेढ़ी खीर है । मन का कोई भी मार्ग न आत्मा तक पहुँचता है, न परमात्मा तक । मन का हर मार्ग मनुष्य को संसार की ओर ही ले जाता है । मन का मार्ग संसार को प्रशस्त करता है और मन को मिटाने का मार्ग हमेशा निर्वाण की राह दिखाता है । मन तो कहेगा, ऐसा करो; ऐसा करने से सुख मिलेगा, पर जितनी बार मन के कहे

में बहे, उतनी ही बार सुख के नाम पर दुःख ही मिला। फूल खोजने गये, हाथ में कांटा ही लगा।

मन की भी अपनी पीड़ा है। माना, मन स्वयं एक कांटा है, एक कैक्टस है, लेकिन हर एक कैक्टस में भी इच्छा होती है कि वह भी एक दिन फूल बने। कैक्टस भी फूल होना चाहता है। हम अपने मन को केवल बाहर की ओर फेंकते हैं। नतीजा यह निकलता है कि मन कैक्टस का कैक्टस ही बना रह जाता है। अगर हम अपने मन को अपने अन्तःकरण से जोड़ें, तो मन के कांटे भी मन्दिर के फूल हो जायेंगे। जो मन मनुष्य को भटकाता है, वह मन एकाग्र हो जाये तो इसकी प्रचण्ड ऊर्जा मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में, अस्तित्व-बोध में, परमात्म-प्राप्ति में सबसे बड़ी सहकारी और मंगलमित्र साबित हो सकती है। मन तो अनन्त ऊर्जा का पुंज है। जो मन हमारे द्वारा क्रोध करवा सकता है, जो मन हमसे बड़े-से-बड़ा काम और पाप करवा सकता है, अगर वह सम्यक् दिशा थाम ले, सम्यक् मार्ग को स्वीकार कर ले, तो वह स्वयं पुण्य रूप बनकर, परमात्मा के साक्षात्कार में सबसे बड़ी भूमिका निभा सकता है। जीवन की हर उपलब्धि को वह आत्मसात कर सकता है। मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्यत्व की गरिमा प्रदान कर सकता है।

गीता कहती है कि तुम मन को एकाग्र करने के लिए अपने नासाग्र पर दृष्टि को केन्द्रित करो। यही बात महावीर, बुद्ध और पतंजलि कहते हैं। जब भी अपने मन को स्थिर करना हो, तो नासाग्र पर अपने चित्त को स्थिर करो, मन टिकेगा। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते'—अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन अंततः निग्रहित हो ही जाता है। जब व्यक्ति का मन शान्त होता है, चित्त और इन्द्रियाँ मौन धारण कर लेती हैं, तो अन्तःकरण शान्त, परिमार्जित, निर्मल, परिसंस्कारित, प्रक्षालित होने लगता है। तब व्यक्ति के भीतर परमानंद की पराकाष्ठा की शान्ति उतरने लगती है। उस शान्ति को पाने के बाद कोई शान्ति शेष नहीं रहती। तब हर अशांति उससे निर्लिप्त रहती है। अशांति के वातावरण तो फिर भी बनते हैं, मगर वे वातावरण उसे अशान्त नहीं कर पाते। क्योंकि उसका मनुष्यत्व आम मनुष्यों से ऊपर उठ चुका होता है, वह किसी और जगत् का हो जाता है।

सामान्यतया भौतिकता का आकर्षण जबरदस्त है। शरीर स्वयं

भूत-पदार्थों का ही परिणाम है। शरीर के भूत पदार्थ या उसके परमाणु अपने आप ही सक्रिय हो जाते हैं, जब उन्हें शरीरगत परमाणुओं का दूर से या नजदीक से साहचर्य मिलता है। देखने से, मिलने से या स्पर्श से शरीर के परमाणु प्रभावित होते ही हैं। चित्त और मन तक उस प्रभावकता की संवेदना पहुँचती है और इस तरह मनुष्य बहिर्योगी और बहिर्मुखी हो जाता है। मन और इन्द्रियों के धर्म से, कोरी बातें करके मुक्त नहीं हुआ जा सकता। उसके लिए एक सतत जागरूकता चाहिये, योग का अभ्यास चाहिये, जीवन के हर उतार-चढ़ाव के प्रति एक सहिष्णुता और मौन चाहिए। गीता भी अभ्यास पर जोर देती है। वैराग्य उसकी दूसरी अपेक्षा है। पतंजलि भी योग की सिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य पर जोर देते हैं। अभ्यास के मायने हैं—करने में अकर्मण्य मत बनो, रोज करो। वैराग्य के मायने हैं—सबके प्रति मन में मौन होना। मूर्च्छा और आसक्ति की पथरीली जमीन से हटना ही वैराग्य है। वैराग्य को हम सादगी कह सकते हैं। व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष अथवा स्थान-विशेष से आसक्ति नहीं।

योग के लिए अभ्यास जरूरी है, सतत जागरूकता जरूरी है। शुरुआती दौर में तो योग स्वयं एक अभ्यास ही होता है, पर बाद में अभ्यास से व्यक्ति ऊपर उठ जाता है। तब सतत जागरूकता ही बचती है। पहले तो प्रयासपूर्वक परमात्मा का ध्यान लगाया जाता है, बाद में अनायास ही, ध्यान में नहीं बैठे हैं, तब भी भगवान का ध्यानयोग तो रहता ही है। यह तुरीय अवस्था है, एकीभाव हुए योग की अवस्था है।

आप योग के लिए बैठें, तो कुछ बातों का ध्यान रखें। पहली बात यह कि जहाँ ध्यानयोग करें, वह स्थान शान्त और स्वच्छ हो। वहाँ किटाणु, गंदगी या दुर्गन्ध न रहे। झाड़-पोंछकर, स्वच्छ निर्मल कर लो।

दूसरी बात यह कि नंगे फर्श पर योग मत करो, क्योंकि पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण तुम्हारे आन्तरिक ऊर्ध्वारोहण में अवरोधक बनेगा। इसलिए आसन का उपयोग करें। आसन भी कुछ मोटा हो और वह भी नरम। सीधे काठ या पत्थर पर बैठ गये, तो पैरों के अकड़ने का, सो जाने का, या दुःखने का डर रहता है। आसन मोटा और नरम होना चाहिये, ताकि आराम से योग के लिए बैठ सको। सफेद ऊनी आसन का उपयोग किया जा सकता है।

तीसरी बात यह ध्यान रखें कि योग के लिए किस आसन, मुद्रा या स्थिति में बैठना, इस पर कोई बहुत ज्यादा जोर न दें। जो स्थिति आपको उपयुक्त, अनुकूल लगे, वही ठीक। वैसे सिद्धासन, जो कि सुखासन और पद्मासन के बीच का आसन है, ठीक है। कमर को स्वतः सीधी रखता है यह।

चौथी बात यह ध्यान में रखें कि ध्यान में शरीर सीधा रखें, झुकी कमर और झुकी गर्दन न बैठें, सहज सीधे रहें, पर अकड़कर भी न बैठें। स्थिर होकर बैठें, और शरीर-भाव से स्वयं को ऊपर उठा दें। नासाग्र पर चित्त को केन्द्रित करते हुए ध्यानयोग की शुरुआत करें। मन को शान्त होने दें। जब तक मन शान्त नहीं होगा, तब तक व्यक्ति आत्मा को परमात्मा से एकलय कर नहीं सकेगा।

अन्तिम, पाँचवीं बात यह भी कह दूँ कि खाने-पीने, और सोने-जगने में अतिरेक का होना बाधा पहुँचाता है। ठूस-ठूस कर मत खाओ-पीओ। इससे नींद, आलस्य और प्रमाद को बढ़ावा मिलेगा। और फिर अन्नजल का सर्वथा त्यागकर उपवास-पर-उपवास भी मत करते चले जाओ। इससे इन्द्रियाँ, प्राण और मन की शक्ति का ह्रास होता है, दोनों ही स्थितियों में स्थिरतापूर्वक बैठने में बाधा लगेगी और मन में तन्मयता की बजाय सुस्ती आएगी। पेट का आधा भाग अन्न के लिए, एक चौथाई जल के लिए और शेष एक चौथाई सांस आने-जाने के लिए, ऐसा सुझाव है। भोजन की सात्विकता और शुद्धता पर ध्यान दिया जाना चाहिये। सोने-जगने में भी लापरवाही न बरतें।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।

दुःखों का नाश करने वाला ध्यान-योग तो संयमित भोजन और भ्रमण करने वाले का, कर्मों में उपयुक्त प्रयत्न करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

जरूरत से ज्यादा सोना तमोगुण को बढ़ावा देगा, वहीं जरूरत से ज्यादा जगना उल्टा शारीरिक थकावट का कारण बनेगा। उचित मात्रा में नींद ली जाये, ताकि थकावट दूर हो और शरीर में स्फूर्ति और ताज़गी आए।

ध्यान में लगे हुए मनुष्य की अन्तर-स्थिति शान्त-सौम्य रहती है, उसका

चित्त वैसे ही शान्त अडिग रहता है जैसे बगैर हवा में रखे दीये की लौ की होती है। प्रकाशवान और स्थिर। पूरी तन्मयता, उत्साह और निष्ठा के साथ योग का अभ्यास करें और धैर्यपूर्वक भगवत् भाव में, भगवत् स्वरूप में स्वयं को लगा दें। अन्तर-ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए व्यक्ति को ही वह आनन्द प्राप्त होता है, जो बादल की बूंदों की तरह खंड-खंड न हो, पहाड़ी झरने की तरह अनलहक, अनवरत हो।

‘उद्धरेत् आत्म अनात्मानम् ।’ अपना उद्धार स्वयं करो। जो स्वयं के उद्धार में लग गया, उसने स्वयं से मंगल-मैत्री कर ली। मनुष्य अपना शत्रु है यदि वह आत्मकल्याण के लिए समर्पित नहीं है। निज से मंगल-मैत्री स्थापित करना ही योग का ध्येय है, यही योग की भूमिका और उपसंहार है।



मुझमें है भगवान

हमारा जीवन हमारे लिए प्रकृति और परमात्मा की एक महान् सौगात है। धरती पर कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जिसे परमात्मा और प्रकृति की देन से वंचित रखा जा सके। भगवान का नूर और प्रकृति का प्राण धरती के हर ठौर, हर डगर, हर नगर में है। जहाँ-जहाँ जीवन है, वहाँ-वहाँ चेतना है और जहाँ-जहाँ चेतना है, वहाँ-वहाँ परमात्मा का वास है। जीवन का आधार प्रकृति है, तो जीवन का विकास परमात्मा है। हम स्वयं को परमात्मा से अलग नहीं कर सकते। परमात्मा तो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जैसे पानी से मछली को अलग नहीं किया जा सकता, सूरज से उसकी किरणों को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, वैसे ही जीवन से परमात्मा को अलग करने का मतलब ही होता है कि जीवन का अब कोई अस्तित्व ही नहीं रहा।

ऐसी कोई ठौर भी तो नहीं है, जहाँ हम परमात्मा के नूर को नहीं देख सकें। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ हम परमात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार कर सकें। मनुष्य में देखो, तो उसमें परमात्मा है; अगर जानवरों में देखो, तो उनकी चेतना में भी परमात्मा का रूप है, कीट-पतंगों में भी परमात्मा है। अगर पक्षियों की आवाज सुनो, तो उसमें भी वेदों की ऋचाएँ और कुरआन की आयतें सुनने

को मिल जायेंगी । अगर इन फूलों और पत्तों को निहारो और इनसे प्यार करो तो इन पत्तों और फूलों में भी परमात्मा के शास्त्र स्पष्टतया लिखे हुए मिल जायेंगे । ऐसा कोई भी केन्द्र, स्थान या परिधि नहीं, जिसे हम परमात्मा से अलग रख सकें । वह सब जगह है । सारी जगह उसके कारण है । चूंकि परमात्मा को हम अपने से अलग नहीं कर सकते, परमात्मा हमसे अलग नहीं हो सकता, इसीलिए परमात्मा को ढूंढने की जरूरत नहीं है । परमात्मा को ढूंढने के लिए निकलने वाले लोग परमात्मा को उपलब्ध नहीं हो पाये । ढूंढा तो उसे जाता है जो वस्तु हो और जो कहीं खो जाये । मेरी प्रेरणा ढूंढने के लिए नहीं है और न कहीं खोजने के लिए है ।

लोग आते हैं और पूछते हैं कि क्या आपने परमात्मा को पा लिया है ? मुझे उनका प्रश्न ही बेतुका लगता है । वे तो इस तरह से पूछ रहे हैं, जैसे मैं जन्म-जन्मान्तर से परमात्मा से बिछुड़ा हूँ और मैंने आखिर लंबी तलाश के बाद परमात्मा को पा ही लिया । परमात्मा तो प्राप्त ही है और प्राप्त की फिर-फिर प्राप्त करने की कोई जरूरत नहीं होती । पाने के लिए प्रयास तो तब हो, जब वह अप्राप्त हो । वो तो वैसे ही है, जैसे हमारी जेब में सौ रुपये का नोट पड़ा है और हमें मालूम है कि सौ का नोट पड़ा है । तब हम सोचते हैं कि इससे क्या-क्या खरीदा जाये । अगर नोट खो जाये तो उसे ढूंढा जाये, पर उसे ढूंढने की व्यर्थ में मेहनत क्यों की जाये, जिससे हम जीवित हैं । उस परमात्मा को सुबह-शाम दीपदान करना कहाँ तक उचित है, जिस परमात्मा से हमारे स्वयं का जीवन प्रकाशित है । उस परमात्मा के मन्दिर में जाकर क्यों घंटनाद किया जाये, जिसके कारण हम स्वयं जागृत और जीवित हैं । भगवान सोया नहीं है कि तुम उसे घंटे बजा-बजाकर जगाओ । वह तो अपने स्वरूप में स्थित है ।

सूरज हर पल आसमान में केन्द्रित है । जब हम रात के आलम में सो जाते हैं, तब भी सूरज कहीं-न-कहीं तो अपनी रश्मियाँ बिखेरता ही है । ऐसे ही हमारा परमात्मा, हमारा खुदा हम सब लोगों में केन्द्रित है, हमारी अपनी व्यक्तिगत चेतना में वह परमात्मा-चेतन अधिष्ठित है । इसीलिए कहता हूँ कि उसे ढूंढने की जरूरत नहीं है; लेकिन क्या करें लोगों की आदत ही ढूंढने की पड़ गई है । अपनी रोशनी में न ढूंढ पाये तो पड़ोसी की रोशनी में ढूंढेंगे, मगर ढूंढेंगे जरूर । मनुष्य दसों

दिशाओं में दूँड लेगा, मगर उसका ध्यान ग्यारहवीं दिशा की ओर नहीं जाता, जो स्वयं उसी को इंगित करती है। अगर ऐसा हो जाये तो भी बात बन जाये। अपनी दिशा की ओर उन्मुख बनो, अपने आप से थोड़ा प्यार करो। तुम वह ग्यारहवीं दिशा हो, तुम्हारा अन्तःकरण ही वह अद्भुत दिशा है।

मीरा कहती है—बसो मेरे नैनन में नंदलाल। आओ मेरे प्रभु, मेरी आंखों में सदा-सदा के लिए वास करो। चाहे तुम बाहर छिपे हो या भीतर, मेरी आंखों में नृत्य करो। तुम्हारा निवास, तुम्हारा मन्दिर तो मेरी आंखें ही बन जायें। 'महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे' हे महावीर स्वामी, आप मेरे नयन-पथगामी हों, मेरे इन नयनों के पथ से मेरे भीतर आएं। प्रार्थना चाहे बाहर की करो या भीतर की, परमात्मा सब ओर हो। आकाश की तरह सर्वत्र है। वह तुममें है, तुम उसमें हो। तुम ही परमात्मा को नहीं पुकारते, वह भी तुम्हें पुकारता है। परमात्मा हमें पुकार रहा है, अपनी ओर आने के लिए, लेकिन न तुम्हारा स्वर उस तक पहुँच पाता है और न उसका स्वर तुम सुन पाते हो। इसलिए नहीं सुन पाते, क्योंकि बीच में बहुत बड़ा शोरगुल है। हमारे ही मन का शोरगुल, हमारी ही वृत्तियों का तूफान, हमारे ही विचारों का दुष्क्र। मन ही जब तक शान्त नहीं होता, तो भीतर के मन्दिरों की आवाज़ तुम तक कैसे पहुँचेगी? मन जब मौन हो, विसर्जित और शान्त-शून्य हो तो उसका स्वर, उसकी खुमारी, उसकी शान्ति और उसका आनन्द स्वतः उमड़ता है। ठीक वैसे ही जैसे झरने के रास्ते में आ रही चट्टान हट जाये और उसका कलकल निनाद करता हुआ जल-सोता बह पड़े।

मन शान्त हो, तो उस तक पहुँच बने। मन का सरोवर शान्त हो, तो उसकी झलक देखने को मिले। तुम्हारा पात्र ही जब तक छेद वाला है, तब तक कुएं में से पानी कैसे निकाल पाओगे? कुआं तो पानी देने को तैयार है, मगर हमारा पात्र ही छिद्रयुक्त है, तो क्या किया जा सकता है। जब तक छेद न भरे, तब तक कुछ भी होने वाला नहीं है। कुएं के जल का आकंठ पान करना है, तो मन के छिद्रों को भरना होगा; तरंगों को चुप करना होगा, शोरगुल से मुक्त होना होगा। मन का शोर अगर शान्त नहीं होता है, तो परमात्मा आपके पास होते हुए भी नहीं होता है। तभी तो कृष्ण कहते हैं मैं सबके लिए हूँ, फिर भी नहीं हूँ। इसलिए दूँडना परमात्मा को नहीं है, दूँडना तो उन आंखों को है, जो उस परमात्मा को पहचान सकें। खोलना तो उन आंखों को है, जो आंखें खुलकर अपनी अन्तरदृष्टि और

दिव्यदृष्टि से अपने जीवन के दिव्यत्व को उपलब्ध कर सकें, उसे पहचान सकें ।

पहली बात मैं यह कहूंगा कि परमात्मा हम सबके साथ है, हमारे पास है । वह इतना करीब है, जितना और कोई नहीं हो सकता । दूसरी बात मैं यह कहना चाहूंगा कि परमात्मा हर नाम और आकार से मुक्त है । नाम तो सारे पंडितों ने दिये हैं । अब दशरथ के घर राम पैदा हो गये और किसी पंडित ने उनका नामकरण 'राम' कर दिया और हम राम-राम जपते रहे । लोग तो भगवान से भी मज़ाक कर लेते हैं । वे तो अपने बेटे का नाम भी राम रख लेते हैं । चलो इस बहाने ही सही राम नाम तो हो ही जायेगा । जिस परमात्मा ने परम ज्योति को उपलब्ध कर लिया, जिसने अपना भौतिक शरीर भी यहाँ नीचे छोड़ दिया, उसके लिए नाम के क्या मायने । नाम तो सारे आरोपित हैं, स्थापित हैं । नाम से अगर परमात्मा को मुक्त कर दिया जाये, तो संसार भर में भगवानों के नाम से जो वाद-विवाद, जो झगड़े होते हैं, वे निपट ही जायें । लोग जितने ज्यादा भगवानों के नाम पर लड़ते हैं, उतने अपने अधिकारों के लिए नहीं लड़ते । अगर एक आवाज़ गूँज जाये कि इस्लाम खतरे में है या हिन्दूत्व खतरे में है, तो अफ़रा-तफ़री मच जाये, चारों ओर कत्ले-आम के हालात हो जायें । तुम तो परमात्मा को भजो, उस परमात्मा को जो तुम्हारे भीतर है । परमात्मा तो नाम-रहित है, नाम से मुक्त है ।

परमात्मा का कोई आकार नहीं होता । वह निराकार होता है, हम सारे उसके ही तो आकार हैं । हर आकार में वह है । उसकी ज्योति में कोई फ़र्क नहीं होता । हां, दीयों में फ़र्क हो सकता है । कोई सोने का दीया, कोई चांदी का, कोई माटी का; कोई बुद्ध के नाम का, कोई महावीर के नाम का, तो कोई राम के नाम का । परमात्मा तो निराकार है, इसलिए कोई भी व्यक्ति उसके आकार को पकड़ नहीं सकता । उसे तो केवल जाना ही जा सकता है, जीया ही जा सकता है । तुम जागो, जानो और जीयो, इतना-सा ही मार्ग है, यही पथ है । यह पथ ही समस्त पंथों का सार है ।

कोई अगर मुझसे पूछे कि गीता का सार क्या है, तो मैं कहूंगा कि भुला दो हर आकार को, हर रूप, हर भेद को, हर रंग को, भुला दो हर संग्रह, हर आसक्ति, हर द्वेष को । अपनी ही ज्योति में उस परम ज्योति को देखकर विनीत बने । उसी में अपने आपको समर्पित करने का प्रयास करो । मिटे, तो मिलन होगा । बूंद अगर सागर में डूबने को तैयार हो, तो ही वह सागर हो सकती है । जब हम ही

मिटने को तैयार नहीं होते हैं, जब तक बूंद अपना अस्तित्व खोने को तैयार नहीं है, मन अपने आपको विसर्जित करने को प्रस्तुत हीं है, तो बूंद, बूंद ही रहेगी। खुदी मिटे तो खुदा प्रगट होवे। गीता तो एक ही संदेश देती है कि मिटाओ अपने आपको, समर्पित करो। मैं को मिटा दो, कर्ता-भाव को मिटा दो। तुम तो ऐसे बन जाओ, नदिया में कोई तिनका बहता है। नदिया की धार जिस तरफ ले जाना चाहे, ले जाए।

परमात्मा के प्रति समर्पित होने का भाव यही है कि छोड़ दिया, तुमने अपने सामर्थ्य को। वो जैसे हमारी नौका को खेना चाहता है; हम वैसे ही चले जा रहे हैं। उसकी हवाएँ हमें जहाँ पहुँचाना चाहे, हम वहाँ पहुँच रहे हैं। हमारा अपना प्रयत्न कुछ नहीं है—‘अब सौंप दिया इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में।’ यह तो एक ‘अर्घ्य’ के रूप में हमारा जीवन समर्पित हो चुका है। तुम इसे जिधर ले जाना चाहो, यह नैया उधर ही चल पड़ेगी। उसके नाम पर जुट जाना, मर मिट जाना। हम उस पर मरेंगे, वह हम पर मरेगा। दो ‘एक’ हो जाएंगे। पहले बूंद सागर में गिरी, फिर सागर बूंद में आ समाया।

मुझे याद है, एक संत स्वाश्रित जीवन जीने के लिए सब्जी और फल बेचा करते थे। बड़ा शान्त प्रकृति का संत था। लोग उसके साथ हंसी-ठट्टा कर जाते, मज़ाक कर जाते, मगर वो मुस्कराता और चुप रहता। इतना ही नहीं, लोग सब्जी तो ले जाते, पर उसके बदले में खोटे सिक्के दे जाते। जब उसके हाथ में खोटे सिक्के आते, तो वह उन्हें पहचान जाता। वह आकाश की ओर देखता, मुस्कराता और उन्हें अपनी झोली में डाल लेता। इस तरह उसके पास बहुत सारे खोटे सिक्के इकट्ठे हो गये।

वह संत बूढ़ा हुआ और मरने के करीब आ पहुँचा। उसने झोली में से खोटे सिक्के निकाले और आकाश की ओर उछाल दिये और भगवान से प्रार्थना करने लगा कि भगवान मेरे प्राणांत का समय आ गया है। मैं अपने शरीर को विसर्जित कर रहा हूँ, लेकिन ज़िंदगी में पहली बार मैं तुम्हें अरदास करूँगा कि भगवान, मैंने ज़िंदगी भर खोटे सिक्के स्वीकार किये हैं; किसी को भी इंकार नहीं किया है। अब मैं तुम्हारे पास आ रहा हूँ। मैं भी एक खोटा सिक्का हूँ, मुझे भी खुशी-खुशी स्वीकार करना। कहते हैं कि मरने से पहले संत के भीतर एक नृत्य उमड़ा। वह उन्हीं सिक्कों पर निढाल होकर गिर पड़ा। जो महामूल्य था, वह

महामूल्यवान उपलब्ध हो गया । जिसका विसर्जन होना था, वह चीज विसर्जित हो गई और जिसका सृजन होना था, वह चीज सृजित हो गई । माटी, माटी पर गिर पड़ी, मूल्य, मूल्य को उपलब्ध हो गया ।

सच में परमात्मा बहुत स्वीकार करता है । उसका लाड़-प्यार, उसका वात्सल्य दिन-रात जितना बरसता है, उतना ही उसकी अपूर्व मस्ती, अपूर्व भाव, अपूर्व आनंद । समर्पण चाहिए, मिटने और मिटाने का साहस चाहिये । केवल सुख में ही नहीं, भयंकर महापीड़ा में भी उसका स्मरण जारी रहे । परमात्मा को लोग इसलिए याद करते हैं, ताकि वह हमारी फैक्ट्री और मिल में जो घाटे लग रहे हैं, उनकी पूर्ति कर दे या जो लोग तुम्हारी बदनामी करते हैं, उनका मुंह बंद कर दे । जो लोग तुम्हारी स्तुति करते हैं, वे और ज्यादा स्तुति करें, प्रशंसा करें । जबकि हम परमात्मा को इसलिए याद करें कि जैसे ही गलत मार्ग पर कदम उठे, हमारे जीवन में नैतिक सम्बल, नैतिक बल और आत्मबल उपलब्ध हो जाये, जिससे हम अपने आपको गलत मार्ग पर बढ़ने से रोक सकें, इसलिए हम भगवान को याद करें ।

विपदाओं से रक्षा करने के लिए प्रार्थना ले कर भगवान के द्वार पर जाने की बजाय उससे यह वरदान चाहो कि विपदाओं से घबराएं नहीं । दुःखों से व्यथित हृदय को सांत्वना देने की भिक्षा मांगने की बजाय दुःखों पर विजय पाने का आशीष चाहो । मुझे बचा लें, यह प्रार्थना लेकर उसके दर पे जाने की बजाय संकटों के सागर में तैरते रहने की शक्ति मांगो । सुख भरे क्षणों में तो उसके प्रति नतमस्तक रहें ही, किन्तु दुःख भरी रातों में, जब ये दुनिया उपहास करने लगे, तो भी अडिग रहने का वरदान मांगो ।

भगवान से मांगना ही है तो वह मांगो जिससे परवश न होना पड़े । स्वस्थ जीवन और स्वस्थ मृत्यु की प्रार्थना करो । शेष तो तुम्हारी अन्तरात्मा तुम्हें जैसा करने के लिए मंगल प्रेरणा दे रही है, उसे स्वीकार कर लो ।

अन्तरात्मा की आवाज रोज़-ब-रोज़ व्यक्ति को सावधान करती है । जो अन्तर आत्मा की आवाज़ को सुनकर अपना जीवन संचालित करता है, उसका हर मार्ग सहज मार्ग होता है । जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को ठुकरा देता है, उसका मार्ग, उसका जीवन तनावग्रस्त, संत्रासग्रस्त, विपदाओं से घिरा हुआ

रहता है। इसलिए अच्छा होगा कि तुम उसके आनन्द को जीओ। कुछ उसकी पुकार भी सुनो कि वह हमें क्या कहना चाहता है; वह हमें किस तरह से जीवित रखना चाहता है। हमें क्या-क्या प्रेरणा दे रहा है। यह पुकार भी सुनो। उसकी पुकार सुनने वाले कम होते हैं, अपना ही रोना रोने वाले लोग ज्यादा होते हैं। चूंकि अपना रोना रोने वाले अधिक होते हैं, इसलिए तत्त्वतः उसे सही तौर पर जान नहीं पाते, उसे उपलब्ध नहीं कर पाते। गीता का सूत्र है—

मनुष्याणाम् सहस्रेषु, कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां, कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

कृष्ण कहते हैं कि हजारों मनुष्यों में से कोई एक ही मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है। यत्न करने वालों में भी कोई एक ही होता है, जो मेरे पारायण होकर मुझको तत्त्वतः जानता है, मुझे उपलब्ध करता है।

कृष्ण सबको परमात्म-शरण की प्रेरणा देते हैं, लेकिन वे इस बात को जानते हैं कि इस महाभारत के प्रांगण में अर्जुन तो कोई एक ही है। अर्जुन तो कभी-कभी ही जन्म लेता है। महावीर के लाखों-लाख शिष्य रहे होंगे, लेकिन उन लाखों में गौतम-गणधर कोई एकाध ही रहा होगा। शिष्यों की जमात, अनुयायियों की तादाद तो बहुत बढ़ जाती है, लेकिन अर्जुन कोई-एक ही होता है। एक अर्जुन ही काफ़ी होता है गीता को जन्म देने के लिए, एक आनंद ही काफ़ी होता है बौद्ध धर्म को प्रसारित करने के लिए, एक हनुमान ही पर्याप्त है राम में रमने के लिए, एक मोहम्मद ही अपने समस्त पैग़म्बरों का प्रतिनिधित्व कर लेंगे और अल्लाह को करोड़ों-करोड़ों लोगों तक पहुंचा ही देंगे। समूह काम नहीं करता, काम अकेला करता है। अकेला, अकेला होकर भी अपने आप में एक संस्था होता है। जब एक अकेला व्यक्ति संस्था, समूह और समाज का पर्याय हो जाता है, तो एक हुजूम, एक समूह उसका अनुसरण करने को तैयार रहता है।

अपने लिए तो हर कोई जीता है, पर जो व्यक्ति जगत के लिए जीता है, वह मानवता का मसीहा हो जाता है। वही जगत का पोषक बनता है।

भजते तो परमात्मा को लाखों-लाख, हज़ारों-हज़ार लोग हैं, मगर कितने लोग ऐसे हैं, जिनका हृदय मंदिर बना हुआ है? जिन्होंने अपने अहंकार को आंखों के पानी में डुबाया है। जिनके शीश उसकी चरण-धूलि तक झुके हैं। आखिर

हममें से कितनों ने अपने जीवन के कार्यों में उसकी इच्छा पूरी की है। भगवान तो हर किसी हृदय की ओट में खड़े हैं। उनसे अपनी चरम शान्ति की प्रार्थना करो, अपने हृदय को, जीवन को उसकी उज्ज्वलता से भरने का आह्वान, अनुरोध करो।

मनुष्य की वासनाओं का कोई अन्त नहीं, हजार बार बुझाने की कोशिश हुई होगी, उसकी आग का अन्त नहीं। हमारे करुण रुदन की कोई सीमा नहीं। लालसाओं की थाह नहीं। मायाजाल बड़ा गहरा है। हर कोई इसे जीत सके, इससे मुक्त हो सके, ऐसा लगता नहीं। प्रभु से वह बल चाहो, जिससे तुम माया-मुक्त हो सको।

कबीर कहते हैं कि तेरा जन एकाध है कोई। प्रभु, तेरा तो एकाध है। ये हजारों लोग तुम्हारे नहीं हैं। ये तुम्हारी अर्चना के लिए मंदिर-मस्जिद और गुरुद्वारे में नहीं जाते, ये तो फैक्ट्री के घाटे की पूर्ति के लिये प्रार्थना को लेकर जाते हैं। विपत्तियों से रक्षा हेतु पुकारते हैं, घर-गृहस्थी और मन के मकड़जाल में तुम्हें फांसते हैं। वो तो मुक्त है, सबका साक्षी है। उस परम स्वरूप को तुम्हारे इन प्रपंचों से कोई सरोकार नहीं। परमात्मा से परमात्मा की प्रार्थना करो। उससे उसी को चाहो। ये छिछली और छोटी-मोटी याचनाएँ व्यर्थ हैं। अपनी भुजाओं पर विश्वास रखो। भगवान ने तुम्हें बुद्धि दी है, तुम बुद्धि के द्वारा अपनी समस्याओं को सुलझा सकते हो। जो चीज अभी तक तुम्हें नहीं मिल पायी है, वह परमात्मा से मांगो। वह चीज होगी परमानंद की प्राप्ति, परमानंद की शान्ति, जीवन की मुक्ति। वह उससे मांगो।

जब महावीर निर्वाण, मोक्ष और परमात्मा के बारे में जनमानस को उद्बोधन दे रहे थे, तो एक ब्राह्मण उनके पास पहुँचा और कहने लगा कि भंते, आप निर्वाण, महामोक्ष और महापद की इतनी प्रेरणा दे रहे हैं। अगर ये सारे लोग मुक्त हो गये, तो जायेंगे कहाँ? वो सिद्धशिला या देवलोक कहाँ है, जहाँ जाकर ये मुक्त हो सकते हैं? क्या वहाँ भीड़ जमा नहीं होगी? महावीर मुस्कुराये और कहा—वत्स, तू जो बात कहता है, वह ठीक है। मैं तुम्हारे प्रश्न का जवाब कल दूंगा। मैं तुम्हें एक काम सौंपता हूँ। वह सोचने लगा कि ऐसा कौन-सा काम है, जो प्रभु मुझसे करवाना चाहते हैं। वह तो बड़ा ही प्रसन्न हुआ कि भगवान उसे कोई काम सौंप रहे हैं।

भगवान ने कहा—वत्स, तू जिस नगर में रहता है, वहाँ के सब नागरिकों से यह पूछ आ कि भगवान सभी की इच्छा पूर्ण करने वाले हैं, उनकी इच्छाएँ क्या हैं। भगवान का आदेश था, इसलिए दिनभर भटका। गली-गली भटका, घर-घर पहुंचा और एक लंबी-चौड़ी सूची बना लाया। भगवान ने कहा—जरा पढ़कर तो सुनाना। उसने पढ़कर सुनाया। किसी ने कुछ चाहा, किसी ने कुछ मांगा। हज़ारों लोगों की मांगों को सुनकर महावीर ने कहा—ब्राह्मण, अब तू मेरे एक प्रश्न का जवाब दे। तू हज़ारों लोगों के यहाँ जाकर आया, तूने सबकी इच्छाएँ, सबकी चाहतें सुनीं। क्या किसी ने यह कहा कि मुझे भगवान से उसकी भगवत्ता चाहिये? ऐसे विरले ही होते हैं, जो सही तौर पर उस निर्वाण के लिए, उस महापद के लिए, उस महामुक्ति के लिए प्रयास करते हैं और प्रयास करके उसे उपलब्ध हो जाते हैं। बाकी लोग तो बातें करते रह जाते हैं। माया की मदिरा में ही उलझे रह जाते हैं।

भगवान के घर को भगवान का घर ही बना रहने दो। उसे दुःखड़ा रोने का या आमदनी का जरिया मत बनाओ। कोई भी मंदिर आय का साधन नहीं होता। हर मंदिर एक समर्पण का, न्यौछावर का स्थान होता है, जहाँ व्यक्ति को अपने जीवन को, अपने भावों को समर्पित करना होता है, तुम मंदिर में जाकर दो फूल चढ़ा देते हो, नारियल चढ़ा देते हो या अठन्नी-चवन्नी चढ़ा देते हो, बलि चढ़ा देते हो। तुमने भक्ति के ये क्या-क्या रूप बना रखे हैं। किस धर्म में लिखा है कि चवन्नी चढ़ा देने से परमात्मा मिल जायेगा। अपने आपको समर्पित करो, अपने हृदय को समर्पित करो। हृदय का समर्पण ही उस तक पहुंचने का मार्ग है।

परमात्मा के बारे में बोला नहीं जा सकता। वह तो रस है, पीयो और मस्त हो जाओ। उसे तो मौन होकर केवल जिया जा सकता है। उसको तो मन की शान्ति के साथ अहोभाव में जीया जा सकता है। वो तो केवल नृत्य की, खुमारी की, मस्ती की, मौन मुस्कान की, भक्ति की चीज है। ऐसी चीज है, जिसका संबंध केवल अस्तित्व के साथ है। अस्तित्व मौन रहता है, इसलिए चाहे मैं जितना भी परमात्मा के बारे में बोल जाऊँ, फिर भी सूरज को दीया ही दिखाने जैसा होगा। परमात्मा के बारे में बोला नहीं जा सकता। उसे तो मौन मुस्कान में देखा जा सकता है, उसे मन की शान्ति के साथ केवल जीया जा सकता है।

वही व्यक्ति उस परमात्मा तक पहुंच सकता है, जो अपने मन को शान्त

करे या भक्ति से श्रृंगारित करे । अपने आपको पूरी तरह परमात्मा को समर्पित करे । जो अपने आपको मिटा डालने के लिये तैयार है । जो उसे अपने दबे होठ, टेढ़ी आँख, देख-समझ चुका है वह अपने जीवन के साथ उसे जी लेगा । वहाँ वाणी मौन हो जाती है, केवल आँखें बोलती हैं, हृदय की आँखें । इसलिए इन सब झंझटों को छोड़ो कि परमात्मा कहाँ है, परमात्मा को आपने देखा या नहीं, परमात्मा को दिखा सकते हैं या नहीं ? ये सब अर्थहीन बातें हैं । परमात्मा हम सबके साथ है, हमारे भीतर है । हर आँख का नूर है वह । अगर परमात्मा नहीं है, तो हम नहीं हैं । अन्तर्हृदय में, हृदय की श्रद्धा में परमात्मा का निवास है ।

पहले पहल तो बूंद को सागर में मिटना होता है, लेकिन एक क्षण वह आता है, जब सागर स्वयं ही बूंद में आकर समा जाता है । तब हम, हम नहीं रहते । कुछ और हो जाते हैं । दिखने में वही मनुष्य, वही इंसानी आकार, मगर जिसको जो होना होता है, वो वह ही हो जाता है । ठीक वैसे ही जैसे कोई लोहा पारस को छू जाये, तो वह लोहा सोने में तब्दील हो ही जाता है । जंग उतर जाता है, चमक लौट आती है और लोहा सोना हो जाता है । व्यक्तिगत चेतना के भीतर ईश्वरत्व के फूल खिल आते हैं, जिनकी सुवास, जिनका रस दिन-रात हमारी सांसों के साथ बहता है, हमारी धड़कन के साथ प्रफुल्लित रहता है । मैंने तो उसे ऐसे ही जाना है । सर्वत्र प्रभु को देखो, सबकी सेवा करो, सबसे प्रेम करो । यह प्रभु को अपने आप में और औरों के साथ जीने का सीधा-सरल तरीका है, मार्ग है ।

सभी ठौर प्रभु का मंदिर है
और घड़ी सब पूजा की है ।

तो फिर प्रतिदिन प्रतिछिन मेरे,
नवोत्सर्ग का एक पर्व हो ।
मेरे उठे हुए चरणों में,
नव आशा हो, दिव्य गर्व हो ।

एक-एक कामना अर्घ्य हो,
कर्म-कर्म मेरे तर्पण हो,
अधिक पूर्णतर औ' विशालतर,
दिन-प्रतिदिन मेरा अर्पण हो ।

जो सागर-सा शान्त, गगन-सा,
नीरव औ' निःशब्द गभिर हो,
जो भीतर से अति सक्रिय हो,
पर बाहर से मूक बधिर हो ।

जिसके पग की चाप-चाप पर,
और किसी का सुनियंत्रण हो,
और कर्म की श्वास-श्वास पर,
रूपांतर की लगी मुहर हो ।

डूब गया है मेरा सब कुछ
अविचल एक शान्ति-सागर में,
देख रही हैं आंखें तुमको
ही तुमको, चर और अचर में ।

जान गया हूँ मैं इस जग में,
इक तुम ही तुम तो जीते हो ।
इन सब रूपों-आकारों के
पीछे तुम-ही-तुम बसते हो ।

अपरिवर्तनीय उपस्थिति में
ही अपनी तुम बैठे-बैठे ।
अजस्र गति संचार किया करते हो,
अगिन रूप निर्माण किया करते हो ।

तुमसे ही तो है सब श्वास चल रहे,
शान्ति, शान्ति वह शान्ति धरा पर उतरे ।

यही है जानने जैसा, जीने जैसा, प्रार्थना करने जैसा । शान्ति, शान्ति वह
शान्ति धरा पर उतरे । मुस्कुराएं और शान्ति की प्रार्थना करें । घर-घर में शान्ति
के द्वार खुलें, यही अन्तःकामना ।



ॐ : मंत्रों की आत्मा

आज हमारे आत्म-संवाद गीता के आठवें अध्याय पर केन्द्रित होंगे। गीता की सार्थकता इसमें डूबकी लगाने से है। जब तक इन सूत्रों को हम अपने हृदय तक नहीं पहुंचने देंगे, तब तक ये सूत्र आत्मसात ही नहीं हो पाएंगे। जो डूबता है, वही पार लगता है और जो डूबने से कतराता है, वह डूब ही जाता है। डूबकर ही पाया जा सकता है। किनारे पर बैठे लोग गीता के सागर में उठने वाली तरंगों का आनंदभर ले सकते हैं। लेकिन वे सागरतल में रहने वाले अनमोल रत्नों और मोतियों तक नहीं पहुँच सकते। मेरी ओर से आप सब लोगों को इन सूत्रों में डूबने के लिए भाव-भरा आमंत्रण है।

गीता का सूत्र है 'ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म।' ओम् एक ऐसा अक्षर है, जो ब्रह्म स्वरूप है।

संपूर्ण ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का वाचक, संवाहक और ब्रह्म की पराध्वनि के रूप में ॐ सारे धर्म-शास्त्रों में प्रतिष्ठित है। ॐ वह पराशक्ति है, जो न केवल मंत्रों का सरताज है, वरन् कहा तो यह जाता है कि सारी सृष्टि इसी ॐ से व्युत्पन्न हुई है। हम सब लोग धन्य हैं यह सारा प्राणी-जगत धन्य है, जो ॐ से निष्पन्न हुआ है। उन लोगों की सांसों संगीत और सुरभि से भरी हुई हैं, जिनकी सांसों में ॐ

का सरगम है, जिनकी सांसों में ॐ की सुवास है। ॐ से हटकर न तो इस सृष्टि का अस्तित्व है, न सारे 'धर्मों'का अस्तित्व ही शेष रहता है। आखिर कोई भी 'धर्म'तो ऐसा नहीं है, जो अपने आपको ॐ से अलग कर सके। अगर धर्म ने अपने को ॐ से अलग कर लिया, तो धर्म की आत्मा ही मर गई; अगर अध्यात्म ने स्वयं को धर्म से विच्छिन्न कर लिया, तो अध्यात्म के प्राण वैसे ही तड़फने लगेंगे, जैसे कि बगैर पानी की मछली तड़फा करती है। ॐ ही सृष्टि का प्राण है। ॐ तो अध्यात्म की आत्मा है।

ॐ ही अध्यात्म का आदि है, ॐ ही मध्य है और यहीं अध्यात्म का अंत है। ॐ से धर्म और अध्यात्म की यात्रा प्रारम्भ होती है। ॐ मय होकर अध्यात्म की यात्रा आगे बढ़ती है और जब हमारी चेतना स्वयं ॐ मय हो जाती है, तो वहीं अध्यात्म का उपसंहार हो जाता है, वहीं अध्यात्म की मंजिल उपलब्ध हो जाती है। इसलिए ॐ तो हमारा प्राण है, हमारी शक्ति, हमारा मंत्र है। दुनिया के हर धर्म के मंत्रों को लेकर वाद-विवाद हो सकते हैं, लेकिन ॐ को तो हर धर्म ने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है।

चाहे गायत्री मंत्र लें, या सूर्य की उपासना करें, ॐ तो आयेगा। चाहे तो णमो अरिहंताणम् कहना हो, ॐ णमो अरिहंताणम् आयेगा, सारा जैनत्व ॐ में आकर समाविष्ट हो जायेगा। यदि हम बौद्ध धर्म तक पहुंचें, तो 'ॐ मणि पद्मे हुम्' में ॐ आ गया। सच तो यह है कि हुम् स्वयं ॐ का ही रूप है। यदि हम ठेठ विदेशों तक पहुंचें, तो बौद्धों का मशहूर मंत्र है—'ॐ ना मु म्यो हो रिं गे क्यो।' इसमें भी पहले ॐ आ गया। कोई भी मंत्र, मंत्र तभी बनता है, जब उस मंत्र के साथ ॐ का बीज आ जाता है। ॐ तो स्वयं ही बीज-मंत्र है। जैसे व्योम-बीज, वायु-बीज, पृथ्वीबीज गिने जाते हैं, ऐसे ही ॐ स्वयं बीजों-का-बीज है।

अच्छा होगा हम ॐ के, शरीर-रचना-विज्ञान को समझें, ॐ की 'एनाटॉमी' को जानें। माना कि ॐ अखंड है। जैसे ब्रह्म अखंड है, ऐसे ही ॐ भी अखंड है, उसको खंड-खंड नहीं किया जा सकता। फिर भी ॐ का अपना शरीर-विज्ञान है। जब हम ॐ का संधि-विच्छेद करते हैं, तो तीन अक्षर बनते हैं—अ+उ+म। इसका पहला अक्षर है—अ, फिर है—उ और अन्त में है—म। वेदों का प्रारंभ ॐ से ही होता है। संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि भी ॐ से ही शुरू होती है।

इसका पहला अक्षर अ है और व्यंजन-विभाग का अंतिम अक्षर-म है। जब हम 'अ' से 'म' तक पहुँचते हैं, तो सारा स्वर-तंत्र और सारा व्यंजन-तंत्र ही इसमें समाविष्ट हो जाता है।

भाषा में ॐ है। बगैर इसके कोई भी भाषा जीवित नहीं हो सकती। ॐ में तीन अक्षर हैं—A, U और M. क्या बगैर A के अंग्रेजी पैदा हो सकती है? इसलिए A तो प्राण है, उसी तरह जिस तरह शरीर का प्राण आत्मा होती है। कहा तो यह भी जाता है कि हिन्दू धर्म के आराध्य-तत्त्व—ब्रह्मा, विष्णु और महेश अ, उ और म ही हैं। अगर कोई व्यक्ति अ, उ और म का समन्वित अनुष्ठान करता है, तो वह इस बीज-मंत्र के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महेश के संपूर्ण गुणों और उसके स्वरूप का चिन्तन, मनन और अनुष्ठान का लाभ अर्जित कर लेता है। इसलिए ॐ हिन्दुत्व का प्राण है।

जैनत्व की परिभाषा कहती है कि जैन धर्म का सार या उसका आराधना केन्द्र पंच-परमेष्ठि है अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। जब महावीर से पूछा जाये कि भंते, हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का क्रमबद्ध स्मरण कर सकें। क्या आप सार में कुछ समझायेगे? तो महावीर कहेंगे—हां, तुम इन सबका प्रथम वर्ण लेकर भजो—असिआउसा। भगवान से पूछा जाये कि भंते, हम इसको भी सार रूप में, बीज रूप में कहना चाहें तो? तो महावीर कहेंगे कि ॐ ही पंच-परमेष्ठि का सार है।

भले ही इस्लाम अपने आपको ॐ से न जोड़े, पर मैं नहीं मानता कि वह इस बीज-मंत्र से मुक्त है। मेरी नज़र से इस्लाम बचेगा ही कहाँ, अगर उसकी सारी परम्पराओं से ॐ को हटा दिया जाये, क्योंकि ॐ का 'अ' अल्लाह का वाचक है, तो इसका 'म' मुहम्मद का परिचायक है। अल्लाह से लेकर मुहम्मद तक की पैगम्बर परम्परा में ॐ आकर समाविष्ट हो जाता है। जैन धर्म भी इससे अछूता कहाँ है। ॐ का 'अ' जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का और इसका 'म' अन्तिम तीर्थंकर महावीर का द्योतक है। इसलिए ॐ को हर धर्म के लिए बीज-मंत्र मानें, हर धर्म का सार मानें, अध्यात्म के अनुष्ठान का अमृत-पद स्वीकारें। यही ॐ की 'एनाटॉमी' है।

ॐ में तीन अक्षर हैं अर्थात् तीन के अंक पर आरूढ़ित है ॐ । तीन अंकों को लेकर ही उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन का प्रतिपादन है, तो महावीर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की व्याख्या देते हैं । बुद्ध प्रज्ञा, शील और समाधि के रूप में तीन मार्ग देते हैं । अगर इनको प्रकृति के साथ जोड़कर देखा जाये तो गंगा, यमुना और सरस्वती जैसी पावन नदियाँ और गुणों के साथ जोड़ा जाये तो सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में तीन गुणों का संयोजन हमारे समक्ष है । तीनों ही गुण आकर ॐ में समा जाते हैं । महावीर की त्रिपदी भी ॐ से सम्बद्ध है । उत्पाद, व्यय और धौव्य—यह त्रिपदी है । अनादि-अनन्तता का वाचक है यानी धौव्य का । उ उत्पाद का और म मरण का यानी व्यय का । ॐ का अ अनन्त का द्योतक है, ॐ का ऊ ऊर्ध्वारोहण का और ॐ का म मोक्ष का । इसलिए ॐ एक संपूर्ण रहस्यमयी विद्या है, एक संपूर्ण ध्वनि है । एक पराशक्ति, एक बीज-मंत्र है ।

जब हम ॐ की 'एनाटॉमी' को समझ रहे हैं कि ॐ का क्या विस्तार है, तो हम यह भी समझें कि ॐ का जप कैसे किया जाए ? प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में जप के तीन भेद दिये गये हैं—भाष्य, उपांशु और मानस । भाष्य जाप का वह प्रकार है, जिसमें हम मंत्र का उच्चारण करते हैं । उपांशु जाप का वह रूप कहलाता है, जिसमें हम बीज-मंत्र का मनन करते हैं । तब वह हमारा सोच बन जाता है । जप का तीसरा प्रकार है—मानस । मानस का अभिप्राय यह होता है कि जब कोई भी मंत्र हमारे रोम-रोम, हमारे संपूर्ण अस्तित्व में, भीतर के ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त हो जाता है तो वह मानस जाप कहलाता है । भाषा में भाषा का उच्चार है, बोलना है । उपांशु में सुनायी देता है, केवल होंठ चलते हैं । मानस का मतलब आप ध्यानस्थ बैठें, फिर आप में मंत्र विस्तृत और वितरित हो रहा है ।

अगर हम इसे भाषा-शास्त्र की दृष्टि से देखें, तो भाषा के चार चरण होते हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा ।

पहला चरण है—वैखरी । जब मंत्र का, भाषा का उच्चारण हो, तो वह वैखरी है । जब भाषा उच्चार्यमान हो रही है और होंठ बंद रहे अर्थात् उच्चारण अन्तर में जारी रहे, उसी को कहते हैं—मध्यमा । तीसरा चरण वह होता है, जब न तो उच्चारण होता है और न ही उसके बारे में कोई सोच चलता है । अगर हम उसके चित्र को, उस स्वर या व्यंजन को हम अपने भीतर देखते हैं, अपने ललाट में, अपनी

भृकुटि के मध्य में, वह अवस्था पश्यन्ति कहलाती है। दृष्टि को दिव्य दृष्टि बनाने के लिए यह पश्यन्ति का चरण है और चौथा चरण है—परा। जब न बोलना है, न सोचना है, न उसे देखना है, वरन् इन तीनों ही स्थितियों से ऊपर उठकर केवल अनुभूति में, केवल उसके परम स्वरूप में अपने आपको विलीन कर लेने का नाम ही परा है। वैखरी वाणी का स्थूल रूप है। मध्यमा में बोलते नहीं, सोचते हैं। भाषा का बहिर्वर्ती रूप वैखरी है और उसका अन्तर्वर्ती रूप मध्यमा है। पश्यन्ति देखना है। यह देहरी का दीप है, जबकि परा समाधि की स्थिति है। पश्यन्ति में भाषा से कुछ ऊपर उठकर भाषा को देखा जाता है। उसका उपयोग किया जाता है। परा तो दिव्य ध्वनि वाली स्थिति है, अनक्षर वाली स्थिति है। इस स्थिति में आने पर ॐ ब्रह्म के रूप में उद्भूत होता है। ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म। अपने यहां चैतन्य-ध्यान की, ओंकार-ध्यान की जो प्रक्रिया है, उसमें इन चारों बातों का ध्यान रखा गया है कि वैखरी भी हो, मध्यमा भी हो, पश्यन्ति भी हो और परा भी हो। ये जप के तरीके हुए, चरण हुए।

जब हम जप कर रहे हैं, तो यह भी समझें कि इस जप को करने का परिणाम क्या होगा? पहले चरण में तो हम समझें कि हम ॐ का जप अत्यन्त सहजता से कैसे करें? तो इसके लिए पहला चरण होगा ॐ का नाद अर्थात् ॐ का उद्घोष। इसका दूसरा चरण है कि ॐ का भौरे की तरह अपने में गुंजन करो। तीसरा चरण होगा कि अपने सांस की गति मंद से मंदतर करो। और जितनी सांस गहरी होती चली जाये, ॐ के स्मरण को भी उतना ही गहराते चले जाओ। इसका अगला चरण होगा कि दीर्घ सांस लो। दीर्घ सांस के साथ अपने शरीर में फैल रही प्राणवायु आक्सीजन के साथ अपने शरीर में ॐ को विस्तृत होने दो। चौथा चरण होगा—अन्तर्मन्थन। श्वास और ॐ दोनों का ऐसा घर्षण, ऐसा मंथन कि ऊर्जा का नवनीत पैदा हो ही आये और पांचवाँ चरण होगा परा का। केवल मौन, केवल आनन्द। जो ऊर्जा भीतर में निष्पन्न हो चुकी है, उस ऊर्जा की उष्णता का केवल अनुभव करो और उसका ऊर्ध्वारोहण होने दो। चैतन्य-बोध घटित हो लेने दो।

जब हम जप करेंगे, ध्यान और योग की प्रक्रिया के साथ प्राणायाम और ॐ को जोड़ेंगे, तो एक प्रतिफल घटित होगा। पहला प्रतिफल तो ओंकार के जप और ओंकार के ध्यान से यह घटित होगा कि मनुष्य की जन्म-जन्मान्तर से रहने वाली जो मूर्च्छा और आसक्ति है, उसको करारी चोट पहुंचेगी। सुनार और

लुहार—दोनों हथौड़ी व्यक्ति पर आकर गिरेगी, इसलिये ॐ के जाप का पहला परिणाम ही यह घटित होता है कि हमारे भीतर की मूर्च्छा टूटती है, हमारे भीतर यह समझ पैदा होती है कि हमारी मूल मूर्च्छा क्या है ? हमारी मूल आसक्ति क्या है ? हमारे मूल विकार और मूल कषाय तथा ग्रंथियाँ क्या हैं ? ॐ के जाप का दूसरा परिणाम यह होगा कि हमारे भीतर जो सोई हुई शक्तियाँ हैं, वे शक्तियाँ जाग्रत होती हैं, हमारी आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। ये बिलकुल व्यवहार में देखी गई चीजें हैं। हमारी सुषुप्त संभावनाएँ, हमारी अपनी सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत होती हैं इस ओंकार के जप-ध्यान द्वारा।

गीता कहती है—‘ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म’ अर्थात् ॐ ही एकमात्र अकेला अक्षर है, जो ब्रह्म का वाचक है। जब हम ॐ को अपने भीतर लेते हैं, तो ॐ के साथ सारे ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त परमात्मा को भी अपने भीतर ले रहे हैं। न केवल ब्रह्म को, न केवल परमात्मा को, वरन् ब्रह्म के द्वारा फैले इस सारे ब्रह्माण्ड को, सारे अस्तित्व को अपने अन्तःकरण में, अपनी आगोश में ले रहे हैं।

ॐ में एक और रहस्य निहित है कि ॐ में तीन बीज समाये हुए हैं। ॐ के ‘अ’ का संबंध पृथ्वी-बीज से बैठता है, ‘उ’ का संबंध बैठता है व्योम-बीज से, आकाश-बीज से और ॐ के ‘म’ का संबंध वायु-बीज से बैठता है, इसलिए यदि कोई व्यक्ति ॐ की यात्रा कर रहा है, तो वह भूमि से लेकर आकाश तक की यात्रा कर रहा है। ॐ अब तक मुक्त हो चुकी अनन्त आत्माओं का अपने भीतर आह्वान कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति ॐ की साधना कर रहा है, तो ‘अ’ के जरिये वह अनन्त तक विस्तार पा रहा है, ‘म’ से उसकी अंतिम मंजिल, उसकी मुक्ति बनती है, उसका मोक्ष बनता है।

ॐ कण-कण में परिव्याप्त है। उसकी सत्ता तो दिशा-दिशा में है, पाताल से लेकर अनन्त आकाश तक है। वह सुख में भी व्याप्त है और दुःख में भी व्याप्त है। जब मैं कह रहा हूँ कि वह आकाश तक व्याप्त है, तो अपने आप उसका संबंध जुड़ता है सुख से भी और दुःख से भी। आकाश का एक पर्यायवाची शब्द है—ख और ‘ख’, ख से ही दुःख जुड़ा है और ‘ख’ से ही सुख जुड़ा है। आकाश जब हमारे अनुकूल होता है, तो सुख बन जाता है और जब प्रतिकूल होता है, तो दुःख बन जाता है। मुक्ति जब हमारे अनुकूल बन जाती है तो वही मुक्ति ॐ बन जाती है और जब मुक्ति प्रतिकूल बन जाती है, तो वही मुक्ति ॐ से हटकर दुःख बन

जाती है। कहाँ-कहाँ जोड़ूँ ॐ को। मुझे तो लगता है कि मेरा रोम-रोम ही, सृष्टि का हर स्वर ही ॐ है, हर सांस में ॐ की सरगम है। 'ॐ शान्तिः' कहते ही सब कुछ शान्त हो जाता है।

गीता कहती है कि जो एकाक्षर ब्रह्म स्वरूप ॐ को उच्चारित करता हुआ, उसका चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। शरीर छूटता है, मगर शरीर छूटने से पहले ही उसकी विदेह-मुक्ति हो जायेगी, वह परम श्रेय को उपलब्ध हो जायेगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य, मनो हृदि निरुध्य च ।
 मूर्ध्न्यायात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥
 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
 यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

—सर्व इंद्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृदय में स्थिर करके, मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, परमात्मा सम्बन्धी योग-धारणा में स्थिर होकर जो पुरुष एक अक्षर रूप ब्रह्म ॐ का स्मरण और चिन्तन करते हुए शरीर को त्याग जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

अत्यन्त गहनतम सूत्र है यह। सूत्र में उतरकर ही सूत्र को जी सकोगे। इसीलिए मैंने शुरु में ही इस सूत्र के सागर में उतरने का आह्वान किया।

गीता दो तरह की मुक्ति का उद्घोष करती है—एक, जीवन-मुक्ति तथा दूसरी विदेह-मुक्ति। जीवन-मुक्ति तो वह है कि जब देह में रहते हुए ही जीवन में मुक्ति को जीया जाता है और दूसरी मुक्ति वह है जब व्यक्ति देह को छोड़कर देह से रहित होकर मुक्ति को उपलब्ध होता है। गीता कहती है कि जब व्यक्ति उस एकाक्षर ॐ का स्मरण करते हुए अपने शरीर का त्याग करता है, वह परम गति को, परम धाम को, परमात्म-स्वरूप को उपलब्ध होता है। इस तरह जीवन, जो मृत्यु की ओर बढ़ रहा है, उसे एक सार्थक आयाम दिया जा रहा है। पर यह बात तो हुई मरने की। हम मृत नहीं हैं, जीवित हैं। जीवित अवस्था में ही हम उस ॐ का आचमन करेंगे।

जीवित अवस्था में ही हम एकाक्षर ॐ का आचमन कर पाएँ, इसके लिए कृष्ण हमारे समक्ष कुछ शर्तें रख रहे हैं। पहली शर्त—इन्द्रियों के द्वारों को रोकना,

दूसरा चरण है—मन को हृदय-प्रदेश में स्थिर करना; तीसरा चरण है—फिर उस जीते हुए मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करना ।

पहला चरण है—सब इन्द्रियों के द्वारों को रोकना । इन्द्रियाँ तो सारी-की-सारी बाहर खुलती हैं और जैसे बंदर इस डाल से उस डाल पर और उस डाल से इस डाल पर उछलता-कूदता रहता है, ऐसे ही इन्द्रियाँ, ऐसे ही मन भी डोलता रहता है । जब तक तुम अपनी इन्द्रियों के द्वारों को न रोकोगे, अपनी इन्द्रियों पर अपना नियंत्रण न लाओगे, तो ये इन्द्रियाँ तुम्हें कहीं का न छोड़ेंगी, ये इन्द्रियाँ दिन-रात खाना चाहेंगी, दिन-रात बोलना चाहेंगी, इतनी बातें करने के बाद भी वो फिर-फिर बातें करने को लालायित रहेंगी । ये इन्द्रियाँ कभी कानों से संगीत सुनना चाहेंगी, कभी आँखों से रूप निहारना चाहेंगी, कभी सुखद स्पर्शों की संवेदना का अनुभव करना चाहेंगी । बाहर की ओर खुल रही इन इन्द्रियों के सारे द्वार बाहर खुलते हैं और बाहर की चीजों के साथ, बाहर के तत्त्वों के साथ जब हम इनका संबंध जोड़ेंगे, तो परमात्मा गोलमाल हो जायेगा । फिर वे सभी बाहर की चीजें ही हमारे लिए सब कुछ होंगी ।

हमारा जीवन ही जगत बनता है और जगत ही अगर उलट जाये, तो वही जीवन बन जाता है । अनियंत्रित इन्द्रियाँ और मन कभी भी ध्यान और योग का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकते, क्योंकि मन और इन्द्रियाँ अनियंत्रित होंगी, तो दिन-रात फ़ज़ीती करती रहेंगी, फ़ज़ीती के सिवा कुछ न कर पायेंगी । कृष्ण आपको इसी फ़ज़ीती, इसी अनर्गलता से बचाना चाहते हैं ।

दूसरा चरण है अपने हृदय-प्रदेश में उतरने का । यह बड़ी गंभीर बात है कि जो व्यक्ति अपने हृदय में उतर आता है, उस व्यक्ति का मन स्वतः ही शान्त होने लगता है । मन के द्वारा कोई भी व्यक्ति परमात्मा तक नहीं पहुँचता । परमात्मा का मार्ग तो हृदय का मार्ग है । परमात्मा का मार्ग तो सूर, तुलसी, मीरा, कबीर का मार्ग है । यह तो भक्ति का मार्ग है और भक्ति मन में नहीं बसती । मन में तो क्रोध, विकार, एषणा और न जाने कितनी छिछली चीजें रहती हैं । वह इरछा-तिरछा चलता रहता है । मन तो दिन-रात पाप में डूबा रहता है ।

मीरा ने कहा—

“ऊँची चढ़ि-चढ़ि पंथ निहारूँ” ।

यहाँ मीरा का मतलब छत पर खड़े होकर कृष्ण का रास्ता निहारना नहीं है। अगर शब्द से मीरा को पकड़ोगे तो खो जाओगे। शब्द से मीरा को नहीं पकड़ा जा सकता। वह किसी छत पर खड़े होकर रास्ता नहीं देख रही है। यह वही योग की बात है, यह सहस्रार की भाषा है, यह भक्ति की भाषा है।

मल्लूक ने गाया है—

दीनदयाल सुनि जब तै, तब तै हिय में ऐसी लगी है।
तेरो कहाये के जाऊँ कहां मैं, तेरे हित की पटि खेंच कसी है।
तेरोई एक भरोसो मल्लूक को, तेरे समान न दूजो जसी है।
ये हों मुरारी पुकार कहाँ, अब मेरी हँसी नहीं, तेरी हँसी है।

यह भक्ति का मार्ग है यानी केन्द्र में कोई और है, परिधि पर आप हैं। केन्द्र में कोई बैठा हो, तो परिधि होती है। इसी को प्रार्थना कहते हैं। यही वजह है कि जो भाषा को, साधना को, समाधि को नहीं साध पाए, उन्होंने पूजा के लिए नृत्य को गहरा अर्थ दिया। नृत्य की कुछ खूबियाँ भी हैं। नृत्य की पहली खूबी तो यह है कि नृत्य करते समय प्रतीति होती है आप शरीर नहीं हैं। नृत्य का जो मूवमेंट है वह शरीर से आपका साथ छुड़ा देता है। ईसाइयों के दो सम्प्रदाय हुए एक का नाम था क्वेकर्स; दूसरे संप्रदाय का नाम था शेकर्स। शेकर्स उस संप्रदाय का नाम था जो शरीर को पूजा के समय जोर से कंपकंपाते थे। इतनी जोर से कंपकंपाते थे कि शरीर पसीना-पसीना हो जाए। क्वेकिंग का अर्थ भी वही होता है। आधुनिक विज्ञान मानता है कि विद्युत पदार्थ की रचना का आखिरी हिस्सा है, लेकिन भारतीय मनीषी पदार्थ की अंतिम इकाई ध्वनि मानते रहे हैं। अब विज्ञान भी मानता है कि ध्वनि 'मोड आफ इलेक्ट्रोसिटी' है, यानी विद्युत का ही एक प्रकार है। यह सब हृदय-प्रदेश में उतरने के प्रयोग हैं। संत अगस्टीन से किसी ने पूछा कि तुम्हारी प्रार्थना क्या है, क्या है तुम्हारी पूजा? उसने कहा—“यस, माई लार्ड दिस इज माई वरशिप !”। स्मरण मात्र ही मेरी पूजा है। कोई भी जगत, कोई भी बात इस पूजा से खाली नहीं है। जब तक मन यहाँ तक नहीं पहुँचता, तब तक योग घटित नहीं होता।

तुम हृदय के स्वामी बनो और मन से मुक्त होओ। हृदय भावयोग है। मन पापलिप्त रहता है। पाप आदमी नहीं करता, पाप हमेशा मन करता है। आदमी

तो अपराध करता है। पाप के मायने हुए कि व्यक्ति मन में जो बुरे विचार कर रहा है, वह पाप है। अपराध के मायने हैं कि व्यक्ति मन में जो बुरे विचार कर रहा है, उनको अभिव्यक्ति देना अपराध है। अपराध, प्रकट हुआ पाप है और पाप छिपा हुआ अपराध है। पाप तो व्यक्ति दिन-रात करता है, पर अपराध दिन-रात नहीं करता। लोक-व्यवहार उसे अपराध करने से बचा देता है। पाप तो मन के परिणामों के साथ होता ही रहता है। इस दृष्टि से ऐसा कौन है, जिसने जीवन में पाप न किया हो, जो पापी न हो।

कहते हैं कि जीसस गांव के बाहर किसी पेड़ की छाया में बैठे थे कि इतने में ही देखा कि गाँव के सारे लोग एक महिला को पत्थरों से पीटते हुए चले आ रहे थे। महिला आगे-आगे दौड़ रही थी। वह महिला जीसस के पास आई और उसके चरणों में गिर गई। वह जीसस से प्रार्थना करने लगी कि प्रभु, मुझे बचाएँ। गाँव वाले भी महिला के पीछे-पीछे जीसस के पास पहुँचे। गाँव वालों ने कहा कि यह व्यभिचारिणी स्त्री है। इसने किसी के साथ अपना मुंह काला किया है। हम इसे पत्थरों से मार देना चाहते हैं। आप हमें अनुमति दें। लोगों के लिए तो यह जीसस की परीक्षा का विषय बन गया कि अगर जीसस यह कहते कि यह व्यभिचारिणी है, इसे पत्थरों से मार डालो, तो जीसस के दया और प्रेम का क्या होगा? और अगर वे इसे बचाते हैं तो वे अनैतिकता को बढ़ावा देंगे।

जीसस ने कहा—तुम लोग इसे पत्थर मारना चाहते हो मेरी ओर से तुम्हें कोई मनाही नहीं है। हर व्यक्ति इस नारी को पत्थर मार सकता है, लेकिन मेरा तुम लोगों से एक ही कहना है कि इस नारी को वही पत्थर मारे, जिसने अपने जीवन में—मन में भी कभी पाप नहीं किया हो।

कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो पूर्णतया पाक हो, जो पूरी तरह निष्पाप हो। पाप तो हो ही जाता है। चूंकि हमें तो महामार्ग पर आगे बढ़ना है, इसलिए श्री कृष्ण एक मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं कि अपने मन को अपने हृदय-प्रदेश में ले आओ, उलट ही डालो अपने मन को। मन अगर हृदय में आ गया, तो मन स्वतः ही शान्त हो जायेगा। पापी मन हृदय के पुण्य-प्रदेश में विसर्जित हो जाएगा। नाला गंगा में उतर जाये तो वह भी गंगा की संज्ञा पा जाता है, वह भी गंगोदक हो जाता है।

हृदय का अपना एक मार्ग होता है, अपना एक धरातल होता है। हृदय की

अपनी एक आँख होती है। मजनुं की वह आँख, जो हजारों के बीच अपनी लैला को ढूँढ ले। अगर संसार को भी पहचानना हो, तो मन की आँख से या दिमाग की आँख से नहीं, इसको हृदय की आँख से देखो, क्योंकि हृदय के पास अपनी एक आँख है। उसमें अपवित्रता नहीं है। अपवित्रता मन में होती है। तुम अगर मन से पहचानना शुरू करोगे, तो तर्क-वितर्क उठेंगे और अगर हृदय में उतरकर हृदय से पहचानना शुरू किया, तो जान ही जाओगे, पहंच ही जाओगे, पा ही लोगे।

परमात्मा का मार्ग हृदय का मार्ग है। देखने का मार्ग भी हृदय का ही मार्ग होता है, जिसे हम अन्तर्दृष्टि कहते हैं। जिसे महावीर सम्यक्त्व कहते हैं, उस सम्यक्त्व की इज़ाद मनुष्य के अपने हृदय में होती है। कुछ बनने या होने की चाह है, तो हृदयवान बनो। आत्मवान बनने से पहले हृदयवान बनना जरूरी है। अगर तुम हृदयवान न बने, तो तुम्हारा जीवन गुलाब के फूल की तरह न खिल पायेगा; तुम्हारे जीवन में सौहार्दता और सौम्यता नहीं आ पायेगी।

मन का प्रेम कलुषित होता है, विकृत होता है। मन का प्रेम अन्ततः जाकर शरीर के भाव में परिणित होता है। एक प्रेम हृदय का होता है, जिसका संबंध हृदय से हृदय का होता है। वहाँ कोई कुंठा, कोई अपावनता नहीं होती, इसीलिए तो हृदय वह स्थान है, जिसके लिए कबीर कहते हैं—“मैं तो तेरे पास रे”, जिसे श्री अरविंद ने चैत्य-पुरुष कहा है। जब हम अपने हृदय में आकर प्रेम को देखते हैं, शांति को देखते हैं, करुणा से अभिभूत होते हैं, तो भले ही कोई आकर हमें क्रॉस पर लटका दे, कोई अगर हमें ज़हर के प्याले थमा दे, फिर भी हमारे मुख से ये ही शब्द निकलेंगे कि हे ईश्वर ! ये लोग नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। प्रभु, इन्हें क्षमा कर।

अपनी ओर से सुखों को फैलाओ और दुनिया में जो पीड़ाएँ हैं, उनको अपने में ले लो। अब तक दुनिया ने केवल यही समझा है कि सेवा का तरीका एकमात्र यही है कि औषधालय चलाया जाये, कोई सेवा-केन्द्र स्थापित किया जाये। यह एक महान् सेवा होगी अगर व्यक्ति अपने अन्तःकरण में दुनिया के सारे सुखों की प्रार्थना करता हुआ सुखों को फैलाएगा और दुःखों को अपनी ओर आमंत्रित करेगा। जैसे ही तुम दुःखों को आमंत्रित करोगे, वे दुःख रूपान्तरित हो जायेंगे; वे तत्काल सुख में परिणित हो जाएंगे।

कितना अच्छा हो अगर सारी दुनिया अपने सुखों को एक-दूसरे को बाँटने में, सारे विश्व में परिव्याप्त करने के लिए लगा दे। यह कुर्बानी होगी। यह धर्म के लिए, मानवता के लिए, अखिल ब्रह्माण्ड के लिए कुर्बानी होगी। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि वह व्यक्ति परम गति को प्राप्त हो जाता है, जो शरीर को त्यागने से पहले अपने सारी इन्द्रियों को रोककर, अपने मन को हृदय-प्रदेश में स्थित करके, अपने प्राणों को अपने सहस्रार में केन्द्रित करता है। तब एक महाशून्य, महानृत्य, महाबोध घटित होता है। अस्तित्व अमृत बरसाता है।

जो ॐ के अनन्त रहस्यों में डूबकर परमात्मा के परम स्वरूप में स्थित हो जाता है, उस आदमी की मृत्यु से पहले काया ऐसे ही गिर जाती है, जैसे सांप के शरीर से केंचुली अलग होती है, जैसे वस्त्र के पुराने होने पर हम उसे नीचे रख देते हैं। ऐसे ही यह शरीर नीचे रख दिया जाता है। प्राण महाप्राण में समाविष्ट होने लगते हैं, आदमी मुक्त होता है। मृत्यु हो, उससे पहले वह मुक्ति को उपलब्ध हो जाता है। भगवान करे हम सब लोगों के लिए उस मुक्ति का, निर्वाण का महामार्ग प्रशस्त हो; वो कल्याण स्वरूप, वो भद्रस्वरूप हम सबको उपलब्ध हो। यात्रा अनन्त की ओर गतिमय हो।

आज इतना ही निवेदन करता हूँ। नमस्कार।



योगक्षेमं वहाम्यहम्

देवों की पूजा करने वाले देवत्व को प्राप्त होते हैं। पितरों की पूजा करने वाले पितरों को, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं। जो भगवद् स्वरूप का भजन-पूजन करते हैं, वे भगवान को, उसकी भगवत्ता को उपलब्ध करते हैं। कृष्ण को न कोई प्रिय है, न अप्रिय, जो उन्हें प्रेम से भजते हैं, वे उनमें हैं। वे कहते हैं वे मुझमें निमग्न हैं और मैं उनमें प्रकट हूँ। परमात्मा को सत्यतः न जानने के कारण ही लोग गिरते हैं, भटकते हैं, जीवन-जगत की अंधी गलियों में धक्के खाते हैं।

मनुष्य और परमात्मा के बीच आज एक दुराव हुआ है, अलगाव बढ़ा है। हार्दिक श्रद्धा कथरी में ढंक गई है, अर्थ और यश का बोलबाला सबके मुंह पर चढ़ आया है। अहंकार आसमान को छू रहा है।

जैसे-जैसे मनुष्य अपने पांवों पर खड़ा होना शुरू हुआ है, उसने परमपिता परमेश्वर से अपना नाता भी तोड़ा है। उसने बाहर के प्रकाश की चकाचौंध में भीतर के प्रकाश को भी अस्वीकार किया है। तमस का जैसे-जैसे प्रभाव बढ़ता गया है, प्रकाश की आत्मा स्वतः संकुचित होती हुई दिखाई देने लगी। यदि अंधकार से उभरकर इस सृष्टि में कहीं भी अपनी नजरें दौड़ाओ, तो हर जगह

प्रसन्नता और आनंद के झरने झरते हुए दिखाई देंगे। यदि एक छोटी-सी नज़र इन हरे-भरे वृक्षों पर डालो, तो ये वृक्ष कितने प्रमुदित, कितने प्रसन्न और कितने आनंदित दिखाई देते हैं। पानी मिला तब भी ठीक, न मिला तब भी कोई शिकवा-शिकायत नहीं। ये वृक्ष फिर भी हरे-भरे हैं। क्या इतनी ही खुशनुमा फ़िज़ा, आदमी के भीतर की दुनिया में है? हमारे जीवन में तो न जाने कितनी चिन्ताएँ, कितनी पीड़ाएँ, न जाने कितने दुःख भरे पड़े हैं। किसी नदिया, सरोवर या सागर में उठने वाली लहरों को देखो। लहरें जैसे आसमान को छू लेना चाहती हैं। उनमें एक अलग ही मौज, एक अलग ही आनंद उमड़ रहा है। क्या इंसान सागर की लहरों की तरह ही आनंदित है?

एक दंपति ने बताया कि उन्हें वैवाहिक जीवन जीते हुए तीस साल बीत गये हैं और इन तीस सालों में एक बार भी उनके बीच तू-तू मैं-मैं नहीं हुई है। कभी घर में आक्रोश का कोई वातावरण ही नहीं बना है। न ही कभी इस तरह का वातावरण बनने दिया कि जिससे घर का स्वर्ग हमारे ही हाथों नरक बन जाये। उस दम्पति का प्रतिप्रश्न है कि हम क्रोध किस बात पर करें, किस बात पर गुस्सा आये, किस बात पर लड़ाई लड़ें? अगर क्रोध करने से कोई मामला सुलझता हो, तो क्रोध किया जाये, पर क्रोध करने से कोई मामला सुलझता नहीं है। मामले हमेशा प्रेम, शांति और विवेक से ही सुलझते हैं।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारा अन्तर्मन क्रोध, कषाय और आक्रोश के कारण ही घर को नरक बना रहा है, हमारे जीवन से आनंद को छीन रहा है? लगता है कि मनुष्य अपने पांवों पर खड़ा तो हुआ है, पर जितना खड़ा हुआ है, उतना ही अपने मन और हृदय से टूटा भी है। उसका अपने मूल स्रोत के साथ संबंध टूटा है। मनुष्य ने परमात्मा के साथ अपने संबंधों और नातों को तोड़ दिया है। लोग भले ही शिकायत करें कि पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के कारण भारत की विचारधारा या भारत के दृष्टिकोण में बदलाव आया है या भौतिकवाद और नास्तिकता के कारण हमारे संबंध धर्म, मन्दिर और परमात्मा से टूटे हैं, मैं ऐसा नहीं मानता। अगर प्रकाश, प्रकाश है, तो प्रकाश के सामने संसार भर का अंधकार ही क्यों न आ जाये, वो अंधकार प्रकाश को अपनी आगोश में ही क्यों न ले ले, मगर प्रकाश का अस्तित्व मिट नहीं सकता। सारे संसार का तमस इकट्ठा हो जाये, फिर भी जलता हुआ चिराग, जलता रहेगा। अंधकार

आयेगा, शैतान आयेगा आदमी को अपनी गिरफ्त में लेने के लिए, मगर जब मनुष्य के पास प्रकाश की मौजूदगी है, अंधकार कुछ नहीं कर पायेगा। जिस दिन हमने प्रकाश को अपने से दूर करना शुरू कर दिया, उसी दिन से अंधकार सक्रिय हो जायेगा, शैतान अपनी बाहें फैला देगा। वह तो तैयार ही बैठा है कि किस तरह से मैं आदमी की नैतिकता को, इंसानियत को, उसके आदर-अदब-उसूलों को मटियामेट करूं।

ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति ने आकर हम लोगों को गुलाम बनाया है। आदमी गुलाम तभी बनता है, जब आदमी कमज़ोर होता है। गुलाम होने के कारण आदमी कमज़ोर नहीं होता, वरन् कमज़ोर होने के कारण आदमी गुलाम होता है। हमारे भीतर ऐसी कमियाँ और कमज़ोरियाँ रही हैं, जिनका फ़ायदा उन लोगों ने उठाया है, जिन लोगों का संबंध परमात्मा से नहीं, वरन् परमात्मा के नाम से पलने वाले स्वार्थों से है।

धर्म और भगवान के नाम पर कितने अधिक व्यवसाय हो गये हैं। मंदिरों तक का व्यवसायीकरण होने लग गया है। एक व्यक्ति श्रद्धापूर्वक परमात्मा के मन्दिर में जाये, दो फूल चढ़ाए और उनकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करके वापस लौट आये, यहां तक तो बात समझ में आती है, लेकिन मंदिरों में हमने पैसे को इकट्ठा करने के लिए बड़ी-बड़ी तिजोरियां रख दी हैं, भंडार बना दिये हैं, प्रसाद चढ़ाने के लिए चौकियां रख दी हैं। पुजारी का ध्यान पूजा करवाने में नहीं चढ़ावों में ज्यादा रहता है। किस व्यक्ति ने कितना चढ़ावा दिया है, उसी अनुपात में प्रसाद का बंटवारा होता है। हमने तो इतना व्यवसायीकरण कर दिया कि कई मंदिरों में तो प्रवेश के लिए भी टिकट लगता है, जैसे कोई फिल्म शो हो। भगवान के द्वार पर तो सारे ही भक्त हैं, कौन पहले, कौन पीछे। मगर हमने तो भगवान को खरीदना शुरू कर दिया है कि जो पच्चीस रुपये दे, वह मुफ्त वाले से पहले पहुंचेगा; पचास वाला पच्चीस रुपये वाले से पहले पहुंचेगा और जो सौ रुपये दे, वो पीछे से वहां पहुंचा दिया जायेगा।

धर्म-शास्त्र तो कहते हैं कि प्रेम के वश में भगवान होते हैं, लेकिन हमने ऐसा रूप बना दिया है कि अब लगता है कि पैसे के वश में भगवान हैं। कृपा करके परमात्मा की पंक्ति में सारे लोगों के लिए एक जैसा रूप जो होता है, वही रूप रहने दो, परमात्मा की नज़र में कोई भेद नहीं है, कौन अमीर-कौन गरीब।

परमात्मा तक कभी कोई पैसा नहीं पहुँचता, परमात्मा तक तो केवल तुम्हीं पहुँचते हो। तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा समर्पण और तुम्हारी भक्ति ही उस परमात्मा तक पहुँचती है।

रवीन्द्रनाथ ने एक बड़ी गहरी कविता लिखी है।

पुराना एक मंदिर था, उसमें एक युवा पुजारी गया। मंदिर में महंत थे। नये पुजारी को मंदिर में जगह मिल गई। मंदिर में ज्यादातर जगह ही होती है। रात हुई, नए पुजारी ने कहा कि मुझे लगता है द्वार पर कोई आया है। किसी ने पूछा तुम्हें कौन लगता है। उसने कहा—आता ही कौन है सिवाय परमात्मा के। महंत ने कहा, तुमने ईश्वर के आने की बात कही है, तो कुछ मीठा बनाया जाए। लोगों ने प्रसाद लिया और सो गए। थोड़ी ही देर बाद उस नये पुजारी ने कहा कि मुझे दरवाजे पर आहट हो रही है। महंत ने कहा कि रात्रि का तीसरा प्रहर है और तुम शोर मचा रहे हो, अब अगर तुमने कुछ कहा तो मंदिर के परकोटे के बाहर फिकवा देंगे। मुझे पचास वर्ष हो गये हैं, लेकिन आज तक कभी परमात्मा नहीं आया।

पुजारियों को सबसे अधिक भरोसा होता है। परमात्मा के न होने का। सुबह हुई मंदिर के कपाट खुले, लोगों ने देखा सीढ़ियों पर पैरों के निशान हैं, रथ के आने और जाने के निशानात हैं।

यही स्थिति आजकल मंदिरों की है। जीसस का बड़ा प्रसिद्ध वचन है। एक आदमी निकोडेमस जीसस के पास आया और उसने कहा कि मुझे आशीर्वाद दो कि मेरे धन में बढ़ोतरी हो, मेरी समृद्धि बढ़े, मेरे सौभाग्य में हजार गुनी गति हो। जीसस ने कहा—“सीक यी फर्स्ट किंगडम आफ गॉड, दैन ऑल एल्स शैल बी एडेड अन टू यू”। तू सिर्फ परमात्मा को खोज, शेष सब अपने आप आ जायेगा।

जिन्होंने एक बार संसार को आँख भरकर देख लिया है वह जान लेता है कि यह जाना हुआ भी बेकार है। कहते हैं कि एक बहरा और अन्धा आदमी रोजाना चर्च आता था बिना नागा। एक बार किसी ने उससे पूछ लिया कि भाई तुम यहाँ रोज क्यों आते हो। न तो तुम्हें सुनाई देता है, न तुम्हें दिखाई देता है। फादर क्या कह रहे हैं चर्च में, तुम्हें सुनाई नहीं देता। वहाँ क्या हो रहा है, तुम्हें

दिखाई नहीं देता। उसने यह बात कैसे कही होगी और उसने कैसी सुनी होगी। यह तो वे ही जानें। लेकिन कहानी कहती है कि उसने सुन लिया और कहा—मैं तो समझा था कि अंधा मैं ही हूँ लेकिन मुझे लगता है मुझसे गहरे अंधत्व में तुम हो।

यहाँ सुनने कौन आता है, यहाँ देखने कौन आता है; यहाँ तो सिर्फ दिखाने आते हैं।

अजीब किस्म की बहस है। समर्पण से और परमात्मा से बहुत कम लोगों का संबंध होता है।

एक नदी के किनारे दो फकीर थे, उनमें विवाद हो रहा था। एक फकीर कहता था कि कुछ भी रखना ठीक नहीं, एक भी पैसा पास में रखना उचित नहीं है। दूसरा फकीर कह रहा था कुछ-न-कुछ पास होना जरूरी है वरना मुश्किल में पड़ जाएंगे। बात होते-होते नदी के तट पर आ गये। अंधेरा होने को था। उन्होंने नाव वाले से पूछा—उस पार छोड़ दोगे? उसने कहा—एक रुपया लेंगे और पार करा देंगे। एक फकीर ने जेब से रुपया निकाला। उसे दे दिया। नाव में बैठे ही थे कि बहस फिर शुरू हो गई जिसने रुपया दिया था उसने कहा मैंने कहा था न कि कुछ-न-कुछ रखना जरूरी है। दूसरे फकीर ने कहा ये नाव वाला तुम्हें उस तरफ कुछ रखने की वजह से नहीं, बल्कि कुछ छोड़ने की वजह से ले जा रहा है।

ऐसी बहसों का कोई अंत नहीं।

हम लोगों ने परमात्मा को इतना महंगा बना डाला है कि परमात्म-स्वरूप की जो सरलता और ऋजुता है, पता नहीं वो कहां खो गई है। भगवान को हम इतना महंगा और इतना दुर्लभ क्यों बनाते हैं? कोई ऐसा थोड़े ही है कि भगवान किसी को कभी-कभार ही मिलता है। भगवान तो सर्वत्र है, सब जगह है। जहाँ याद करो, वहीं पर भगवान है। जहाँ उसकी पावनता को जीओ, वहीं उसका मन्दिर है। होता इसके विपरीत है। मनुष्य मन्दिर में भगवान को प्रतिष्ठित कर रहा है। वो क्या प्राण-प्रतिष्ठा देगा, जिसको स्वयं भगवान प्रतिष्ठा दे रहे हैं, जिसको प्राण स्वयं प्रकृति और परमात्मा की बदौलत प्राप्त है।

महंगाई बढ़ गई है। हमने परमात्मा के मार्ग पर भी महंगाई को बढ़ा दिया है। धर्म पैसे में आकर सिमटा दिया गया है। मानो बगैर पैसे के भगवान मिलता

ही न हो। भगवान कोई कैसे से मिले हैं? वे तो त्याग में वास करते हैं। वे बोली-चढ़ावे में कभी अपने प्राण आपूरित करते हैं? भगवान का बसेरा तो हृदय में है, हृदय की श्रद्धा में है। हृदय की आनन्दमयी सुवास का नाम ही भगवान है।

मैंने सुना है : कोई सम्राट शिकार खेलते हुए जंगल में भटक गया। घोड़ा दौड़ाते-दौड़ाते आखिर वह भूखा-प्यासा जंगल में किसी ठौर पर पहुँचा और देखा कि वहाँ एक छोटा-सा सरायखाना है। जोरों की भूख लगी हुई थी। उसने चार-पांच रोटियाँ जमकर खाईं। जब हिसाब चुकाने की बात आई तो सम्राट ने पूछा—मैंने भोजन किया है, इसके लिए कितना चुकाया जाये। सरायखाने के मालिक ने कहा कि सौ स्वर्ण मुद्राएँ। सम्राट चौंका कि चार-पांच रोटियाँ और सौ स्वर्ण मुद्राएँ। उसने पूछा कि क्या इस इलाके में अनाज पैदा नहीं होता या कम पैदा होता है? क्या यहाँ रोटियाँ नहीं मिलती? सराय के मालिक ने कहा—हुजूर, यहाँ रोटियाँ तो बहुत मिलती हैं, लेकिन सम्राट कभी-कभी ही मिलते हैं, इसलिये यह रोटियों का नहीं, सम्राट का मूल्य है। ऐसे ही जब कभी-कभार प्रतिष्ठा होती है, तो आदमी सोचता है कि यह प्रतिष्ठा रोज-ब-रोज थोड़ी ही होती है, जितनी आमदनी कर ली जाये उतनी ही अच्छी।

कृपया धर्म-क्षेत्र का व्यावसायीकरण मत कीजिये। परमात्मा का मार्ग सबके लिए है, वो सबके लिए समान है, क्या अमीर और क्या गरीब, परमात्मा का संबंध प्रेम और भाव के साथ है। परमात्मा कोई दुर्लभ तत्त्व नहीं है, कोई अलभ्य वस्तु नहीं है। परमात्मा हम सबके साथ है, हम सबके पास है। आंखों का, हृदय का दरवाजा खुला और उसकी रोशनी उभरी।

मैं तो तेरे पास में बंदे, मैं तो तेरे पास में।
 नहीं खाल में, नहीं पौछ में, ना हड्डी ना मांस में।
 ना मैं बकरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी गंडास में।
 मैं तो रहूँ सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में।
 खोजी होय तो तुरतै मिलि हौँ, पल भर की तलाश में।

कबीर कहते हैं मैं तो तुम्हारे पास हूँ। कोई उसे पाने लिए बकरे की बलि चढ़ाता है, कोई भेड़, श्रीफल और नैवेद्य चढ़ाता है, पर अपने आपको कौन चढ़ाता है? किसी पौधे में से फूल तोड़कर चढ़ा देना क्षणभर की बात है, पर अपने जीवन

में से तुम कौन-सी चीज अलग कर चढ़ाने को तैयार हो ? स्वयं को समर्पित कौन करता है । दो चार फूल, या जल-बेल पत्र चढ़ा देते हैं, पर स्वयं के कर्तृत्व-भाव को, अहं-भाव को कौन न्यौछावर करता है । हम भगवान के चरणों में स्वयं को लुटाते कहाँ है; हम तो लूटना चाहते हैं । जबकि यह वह मार्ग है, जहाँ लुटाना ही पड़ता है । पाना तो बहुत बाद में होता है, पहले तो खोना पड़ता है । बहुत कुछ पाने के लिए बहुत कुछ खोना पड़ता है । यहाँ चवन्नी चढ़ाने से काम नहीं चलता, यहां तो सर्वस्व चढ़ाने से काम बनता है । कुनकुने पानी से भाप नहीं बनती, भाप बनाने के लिए तो पानी को खौलाना ही होगा ।

परमात्मा को जीवन के साथ एकलय, एकरस, एकसूत्र बनाने के लिए सर्वस्व मिटना होता है । मिटना ही यहां पाना है । अगर बादल से बरसने वाली बूंद यह सोचती रहे कि सागर में जाकर मिल जाऊं, तो पूरी ही मिट जाऊंगी । तब वह अपने आपको बचा लेती है, लेकिन वह सागर नहीं पाती । बूंद को अगर सागर होता है, तो उसे सागर में मिलना होगा, मिटना होगा, पहले तो बूंद मिटती है सागर में और फिर सागर मिट जाता है बूंद में । पहले तो बूंद सागर में जाकर विलीन हो जाती है, फिर सागर ही बूंद में आकर निमज्जित हो जाता है । समाधि की शुरुआत बूंद का सागर में मिटना है और समाधि की पूर्णता सागर का बूंद में आकर ओत-प्रोत हो जाना है ।

आदमी जब अपने आपको पूरी तरह खो ही देता है, तो परमात्मा का प्रसाद कब, किस क्षण, किस रूप में आकर बरसेगा, कहा नहीं जा सकता । एक सेव को छीलते हुए भी परमात्मा का अनुग्रह, उसका ग्रेस हम पर आकर बरस जायेगा, रास्ते पर चलते हुए भी हम उसके अहोभाव से भर जायेंगे, एक ग्राहक से बात करते हुए हम पाएंगे कि जैसे हमारे हृदय में आनंद का कोई निर्झर फूट रहा है । परमात्मा हमसे दूर नहीं है, न कठिन है । वह बहुत ही सरल, बहुत ही सहज और बहुत ही करीब है । भगवान के जिन चरणों की सेवा लक्ष्मी करती है, उसी विष्णु भगवान को गोप बालाएँ अपने साथ गेंद खेलने का न्यौता दे ही देती हैं और भगवान स्वीकार कर ही लेते हैं । जिस भगवान की पूजा और अर्चना गणेश, महेश, दिनेश कर रहे हैं, उस भगवान को अहीर की छोरियां एक गिलास छाछ के लिए अपने आगे नृत्य करवा देती हैं ।

शेष, गणेश, महेश, दिनेश, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै ।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुवेद बतावै ।
नारद से शुक व्यास रटै, पचिहारै तउ पुनि पार न पावै,
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरी छछ पे नाच नचावै ॥

जिसकी महिमा इतनी अपरम्पार है, उस भगवान को अहीर की छोरियाँ छछिया भर छछ के लिए नाच नचाती हैं। सूर जैसे लोग तो भगवान की पिटाई भी करवानी पड़े, तो पिटाई भी करवा देते हैं। मां के सामने भगवान को रुलवा देते हैं, कान पकड़वा देते हैं और रोते-रोते कहलवा देते हैं—‘मैया, मैं नहीं माखन खायो ।’ यह भावों का खेल है, भक्त और भगवान का खेल है। यह तो मिटने का खेल है। तब भगवान चाहे जिस देवधाम में रहते हों, लेकिन मीरा जैसी भक्त अपने आंखों से आंसुओं की बूंदों को दुलकाते-दुलकाते गा ही पड़ती है—‘मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।’ वो तो उन्हें पति के रूप में वरण कर ही लेती है, अपना स्वामी मान ही लेती है। मीरा की तरह कोई मिटे, कोई बूंद सागर में जाकर मिले तो विष के प्याले अमृत क्यों न होंगे ? तब तो उसके पायल की एक झंकार को सुनने के लिए वृंदावन की कुंज-गलियों में क्यों न आयेंगे ? स्वतः आयेंगे ।

भक्ति करते हुए कभी क्या आंखों से दो आंसू दुलके हैं ? क्या मंदिर में जाकर यह भाव जगा कि हे प्रभु, मुझे अपने में स्वीकारो, तुम्हारे बगैर मैं जी नहीं सकता । जिस तरह पत्नी दो-तीन दिन के लिए पीहर चली जाये, तो जीना हराम हो जाता है, क्या वैसी ही तड़फन, वैसी ही पीड़ा तुम्हें मन्दिर में जाने पर सताती है ? पीड़ा पनपी नहीं, तो कैसे उसका मिलन होगा । यहां तो सब कुछ लुटाना पड़ता है, मकान और राजमहलों के भाव छोड़ देने पड़ते हैं । एकलयता होनी जरूरी है । खुद से ऊपर उठ जाना होता है । वही हो जाना होता है । तब कहीं जाकर भगवान साकार होकर अपने शंख को ध्रुव के होठों पर छूते हैं और कहते हैं कि तू प्रकाश से भर जा; तभी कोई श्री चैतन्य महाप्रभु अहो नृत्य करते हैं; तभी कोई मीरा नाचती है; तभी कोई तुलसी चंदन घिसते हैं और श्रीराम उनका तिलक करने ठेठ बैकुंठ से धरती पर पहुंचते हैं । यहां तो, मिटे तो मिलन हो ।

कहते हैं : सूरदास भगवान की भक्ति में निमग्न थे । अपने इकतारे पर संगीत के रस में डूबे भगवद् स्वरूप को गुनगुना रहे थे । तभी उस ओर से

श्रीराधाकृष्ण का गुजरना हुआ। राधाकृष्ण प्रत्यक्ष हुए, पर अंधा कैसे देखे। राधा ने वरदान मांगना चाहा, तो सूर ने कहा, मां ! तुम्हें जी-भर निहारने की इच्छा है। राधा मुस्करायी, वह समझ गयी कि सूर ने ऐसा कहकर उससे क्या मांगा है ? राधा के वरदान के कारण सूर को आंख मिल गयीं। अपनी आंखों से राधाकृष्ण को, उनके रासलीलामयी भगवद् स्वरूप को निहारकर सूर धन्य-धन्य हो उठे, कृत-कृत्य हो उठे, नृत्य कर उठे, उनकी आंखों से श्रद्धा, समर्पण और धन्यवाद के आंसू छलछला पड़े। सूर अपना आपा खो बैठा। कृष्ण प्रमुदित हो उठे। कहा, भक्त और क्या चाहते हो ? सूर बोले, प्रभु माँ ने जो आंखें दी हैं, वे आप वापस ले लें। मैं नहीं चाहता कि जिन आंखों से भगवत् स्वरूप को देखा है, उन आंखों से अब और किसी को देखूं। कृष्ण ने देखा कि सूर की बात सुनकर राधा का भी हृदय गद्गद् हो उठा। राधा ने कहा—योगक्षेमं वहाम्यहम्—तुम्हारे कुशल-क्षेम को मैं वहन करूंगी।

कितना गहरा भाव है। सूर की प्रार्थना कितनी निश्चल, निःस्वार्थ भरी है। भगवान तो सर्वत्र विहार कर रहे हैं, व्याप्त हैं, शक्ति हमारी पुकार में होनी चाहिये।

भगवान तो चारों ओर हैं, सर्वत्र हैं। हमने अपने ही द्वार अपने हाथों से बंद कर रखे हैं। फिर सूरज की किरणें हमारे भीतर कैसे प्रवेश करेंगी ? हम तो खोये हुए हैं संसार में। सुबह से शाम तक पैसा, पैसा, पैसा। हाय पैसा, होय पैसा ! पैसा-पैसा करते जीते हैं और पैसा-पैसा करते ही मर जाते हैं। पैसे की तरह पत्नी को भी तुम भूल नहीं पाते। यदि पत्नी जितना दर्जा भी भगवान को दे देते, तब भी कोई बात बन जाती, पर हमारी आंखों में भगवान नहीं, पत्नी है, वो पत्नी या पति है, जिसके कारण हम अपने छोटे भाइयों के पालन-पोषण के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। हमारे लिए पति, पत्नी, पैसा, दुनिया का यश, प्रतिष्ठा—ये सब चीजें इतना महत्व लेती जा रही हैं कि हम मंदिर जाकर परमात्मा से भी जुड़ रहे हैं, तो भी इसलिए कि मंदिर जाने से हमारी पत्नी खुश हो जायेगी, फैक्ट्री सही चलेगी, मुनाफ़ा होगा। इन क्षुद्रताओं से ऊपर उठिये, समर्पित भाव से परमात्मा से जुड़िये।

दुनिया को सुधारना संतों का काम है। यह बड़े उपकार का काम है। आप अपने पति, पत्नी या बच्चों को सही मार्गदर्शन दे रहे हैं, तो आप बहुत बड़ा उपकार कर रहे हैं। आप संत हुए। जब तक उनके पास सही मार्ग ही नहीं है, तो परमात्मा

के मार्ग से कैसे जुड़ेंगे। परमात्मा ऊंची चीज है। अच्छे मार्ग पर आये, अच्छे मार्ग पर आगे बढ़ें, परमात्मा सदा हमारे साथ रहेगा, हमारे साथ ही जीयेगा। हम उसे समर्पित हो जायें, हमारे योगक्षेम के प्रबन्ध का दायित्व उसका होगा।

अनन्याः चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—जो भक्तजन परमेश्वर का अनन्य प्रेम से चिंतन करते हैं, निष्काम भाव से भजते हैं, उस अनवरत एकीभाव से मुझ में स्थित पुरुषों का योगक्षेम, मैं स्वयं प्रदान करता हूँ।

भगवान हमें हमारा योगक्षेम प्रदान करते हैं। हमारे योग और क्षेम को वहन करने वाले, हमारी कुशलताओं और हमारी समृद्धि, हमारे मंगल-स्वरूप को धारण करने वाले स्वयं परमात्मा हैं। हमारे जीवन की सारी व्यवस्थाएँ वे निभाते हैं। हमारा दायित्व वे संभालने के लिए तैयार हैं। न केवल संकट की घड़ी में, वरन् अनुकूलताओं के क्षणों में भी वे हमारे लिए सहकारी और मददगार होने को तैयार हैं, लेकिन ऐसा करने के लिए वे आपसे भी कुछ अपेक्षा रखते हैं।

भगवान कहते हैं कि मैं तुम्हारे सामने झुकने को तैयार हूँ, मैं तुम्हारे सामने झुक जाऊंगा, पर कुछ तुम भी तो झुको। मैं तुम्हारा भाग्य तुम्हें देने को तैयार हूँ, तुम भी तो अपना कुछ भाग्य मेरे चरणों में समर्पित करो; मैं तुम्हें तुम्हारा सारा संसार देता हूँ, तुम भी तो अपना यह छोटा-सा संसार मुझे समर्पित कर दो। तुम मानो ही मत कि यह संसार मेरा है। तुम यह मानो कि मेरा छोटा-सा घर-संसार परमात्मा का ही घर-संसार और परिवार है। ऐसा करने के लिए वे आपसे थोड़ी-सी चीज चाहते हैं। वे नहीं कहते कि तुम अपने लाखों का माल-असबाब लाकर मुझे दो। वे तो कहते हैं वह तुम ही भोगो। मेरे पास ऐसे कोई भंडार नहीं हैं कि मैं उन्हें सुरक्षित रख सकूँ। तुम्हारे माल की सुरक्षा तो तुम्हीं करो, मुझे तुम्हारा माल नहीं चाहिये। मुझे तो इस माल के कथित मालिक की मालकियत ही चाहिये; मुझे तो तुम्हारा अहंकार चाहिये, जिसके कारण तुमने अपने संसार को अपना मान रखा है। मुझे केवल तुम्हारे अहंकार का भाव चाहिये। तुम्हारे मैं का, कर्तृत्व-भाव का समर्पण चाहिये।

मैं बहुत निश्चिन्त रहता हूँ। मुझे आने वाले कल की तनिक भी चिंता नहीं

है। मैंने देखा है कि इस दुनिया में कोई भी आदमी भूखा नहीं सोता है। चींटी को कण मिलता है, तो हाथी को मन भी मिलता है। यह मनुष्य की कमजोरी है कि वह कल की चिंता में आज का लाभ नहीं उठा पाता। उसकी नजर आसमान पर है, उसे अपने पास की धरती नज़र नहीं आती। वह भविष्य के बारे में सोच रहा है, वर्तमान के बारे में उसका ध्यान ही नहीं है। मैं बहुत निश्चित रहता हूँ, क्योंकि जिस परमात्मा ने आज मुझे संपूर्ण व्यवस्थाएँ दी हैं, वह मुझे कल भी देगा। प्रकृति ने तो मेरे जन्म से पहले ही माँ की छाती में दूध भर दिया। एक तरफ़ मैं जन्मा, दूसरी ओर प्रकृति ने व्यवस्था की। मनुष्य के जन्म के साथ ही उसकी सारी व्यवस्था जारी हो जाती है, फिर हम किस बात की चिंता करें। हे प्रभु, हम तो तुम्हारे हो गये—हरि को भजे सो हरि का होई।

हम तुम्हारा ध्यान धरते हैं, तुम हमारा ध्यान रखना। हम तुम्हारा स्मरण रखते हैं, तू भी हमारा स्मरण रखना। हम तो सागर में समाये, सागर हम में समा जाये। बूंद सागर की ओर चल पड़ी है, सागर बूंद का गन्तव्य है। सागर बूंद में आ जाये। वामन विराट हो जाये और विराट वामन में आ जाये। और यह तब होता है जब वह हमारा अनन्य हो जाता है।

अपने लिए, अपने परिवार के लिए तो हर कोई जीता है, लेकिन बात तो तब है, जब उस प्रभु के लिए जिया जाये। जो भगवान के लिये जीता है, भगवान उसे जीता है; जो लोग भगवान का स्मरण करते हैं, भगवान खुद उनका स्मरण करते हैं। वो खुद हमारा ध्यान रखते हैं, जब हम उनका ध्यान धरते हैं। यह तो बिलकुल तादात्म्य की बात है, एकरस, एकलयता की बात है। वे सारी व्यवस्थाएँ करने को तैयार हैं। जैसे जीवन-बीमा वाले कहते हैं—योगक्षेमं वहाम्यहम्—तुम्हारे जीवन की सुरक्षा का दायित्व हम लेते हैं, बस तुम अपने बीमा की रकम पहुँचाते रहो। भगवान कहते हैं कि तू भी अपने को मेरे चरणों में पहुँचाता रह, तेरी व्यवस्थाएँ मैं संभाल लूँगा।

आज तक किसी भी आदमी का काम नहीं अटका है। लोग कहते हैं कि उनके घर लड़की पैदा हो गई। वह बड़ी होगी। बीस साल बाद उसका विवाह करना होगा। इसके लिए पैसे का जुगाड़ करना होगा, पर अब तक किसी की बेटी पैसे के अभाव में कुँआरी नहीं रही है। समय पर सब काम होता चला जाता है। किस बात की चिंता करते हो? अर्जुन भी भयभीत हो उठा। क्षत्रिय का

क्षात्रत्व पंगु हो गया। भगवान उसे भरोसा दिला रहे हैं कि तू क्यों चिंता करता है। मैं जो तुम्हारे साथ हूँ। तुम्हारी विजय मैं तुम्हें दिलाऊंगा। तू तो अनन्य प्रेम से मेरा स्मरण कर, कर्तव्य कर्म में, लक्ष्यमार्ग की ओर प्रवृत्त हो जा। निर्बल के बलराम—भगवान तो सहारा है, सम्बल है।

परमात्मा को तो प्रेम चाहिये। तुम्हारा प्रेम ही उनके लिए 'प्रीमियम' होगा। परमात्मा प्रेम में ही बसते हैं। जीसस कहते हैं—'प्रेम ही परमात्मा है: लव इज गॉड।' प्रेम ही भगवान है। जिसने प्रेम पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया। जिसके जीवन में प्रेम नहीं, उसका जीवन तो ऐसा ही है जैसे मिट्टी का कोई कौर हो और जिसे खाया जाये, तो थूकना ही बेहतर होता है। प्रेम है तो रसधार बहेगी; प्रेम है तो हृदय जीवित रहेगा। प्रेम है तो जीवन में प्राण रहेगा। प्रेम ही मर गया, तो तुम्हीं मर गये।

अगर प्रेम ही हमारे जीवन की प्रार्थना बन जाये, तो मुझे नहीं लगता कि उससे बड़ी कोई प्रार्थना होती होगी। वह प्रार्थना ज्यादा जीवंत है, जब प्रेम ही प्रार्थना बन जाये, प्रेम ही प्रसाद बन जाये, प्रेम ही परमात्मा का आशीष बन जाये। भगवान करे मेरा प्रेम आप सब लोगों तक पहुँचे, अनंत रूपों में, अनंत वेश में। प्रेम में जहाँ माँ और बेटे का दुलार है, वहीं भाई और बहिन का प्यार भी है, पति और पत्नी का अनुराग भी है, वहीं हृदय में हृदयेश्वर के लिए प्रार्थना है। अगर प्रेम है तो भगवान टाल नहीं सकेंगे केवट की अरदास को, लांघ नहीं सकेंगे वे सूर के हृदय को, अनसुना नहीं कर पायेंगे वे मीरा की करताल को। अगर प्रेम है, तो भगवान स्वयं हममें वास करते हैं, क्योंकि भगवान स्वयं प्रेम के पर्याय हैं। प्रेम यानी परमात्मा और परमात्मा यानी प्रेम। दोनों मानो एक ही सिक्के के दो पहलू।

प्रेम यानी समर्पण। प्रेम यानी बूंद का सागर में निमज्जित होना। प्रेम अगर विकृत बन जाता है, तो प्रेम काम और क्रोध बन जाता है और प्रेम भक्ति बन जाये तो वही प्रेम परमात्मा के श्रीचरणों में समर्पित हो जाता है। प्रेम विकृत हो जाये, तो काम का रूप ले लेता है और अपनी आपूर्ति के लिए मिट्टी ढूँढता है और जब प्रेम भक्ति बन जाता है, तो वही प्रेम अपनी पूर्ति के लिए भगवान की प्रार्थना में डूब जाता है। कबीर कहते हैं—'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पांडित होय।' तुम्हारी पांडिताई किस काम की, अगर वो प्रेम नहीं। प्रेम है, तो पांडित्य भी काम आयेगा।

यह तुम्हारे जीवन में रसधार बरसायेगा ।

कहते हैं अकथ कहानी प्रेम की । प्रेम की कहानी बड़ी अकथ होती है, कही नहीं जा सकती । प्रेम को तो सिर्फ जीया जा सकता है । प्रेम में जहाँ हीर और रांझा जैसी हज़ारों प्रेम-कहानियाँ हैं, वहीं राधा और कृष्ण, सीता और राम, नेम और राजुल, कर्मावती और हुमायूँ जैसी गाथाएँ भी हैं । उसी प्रेम के वशीभूत होकर ही तो कोई चैतन्य महाप्रभु नाचता है, कोई मीरा राजमहल छोड़कर वृंदावन की ओर चली जाती है । कोई रामकृष्ण परमहंस हो जाता है ।

प्रेम स्वयं ध्यान है । प्रेम का अर्थ है वासना से मुक्ति और ध्यान का अर्थ है विचार से मुक्ति । चाहे शेख फरीद हो, मीरा हो, दादू हो, सहजोबाई हो, ये सब प्रेम की बात करते हैं । ये जिस प्रेम की बात कर रहे हैं वह कंडीशन्ड प्रेम नहीं है । इसका अर्थ है प्रेम का विचार नहीं, प्रेम का भाव । सलिम अली की नजर से पंछियों को देखो, हम उनके स्वर में स्वर मिलाएँ । कभी बादलों की घूँघट को देखकर प्रफुल्लित हों, इन्द्रधनुष की फिजिक्स न सोचें । तभी एक निर्दोष प्रेम पैदा होता है । एक निर्दोष भाव जगता है, विचार नहीं होता । विचार प्रेम को सौदा बनाता है जबकि प्रेम भाव है । इसीलिए भाव हमेशा बना रहता है । विचार बदलते रहते हैं और भाव को सिखाया नहीं जा सकता ।

जिसे फरीद ने ही कहा—

बोले शेखू फरीद पियारे अलह लगै ।

जिसका अनुवाद होता है प्यारे अल्ला से अपनी प्रीति को जोड़ लो । यह भाव-दशा का प्रशिक्षण है ।

प्रे नाम के अंग्रेज कवि ने लिखा है कि उसके गाँव का एक नियम था कि जब कोई मर जाता तो चर्च की घंटियाँ बजतीं । उसने लिखा पहले मैं भेजता था लोगों को पता लगाने कि कौन मर गया । अब मैं नहीं भेजता क्योंकि जब भी चर्च की घंटी बजती है, तब मैं ही मरता हूँ । हर मनुष्य की मौत मनुष्यता की मौत है । इसलिए प्रेम बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

जापान में भी बाँसों का जंगल होता है । बांस से बड़ा प्रेम है वहाँ लोगों को । बर्फ जब पड़ती है तो बाँस बर्फ से लड़ते नहीं हैं; वे बर्फ के भार से झुकते जाते हैं । इतने झुक जाते हैं कि बर्फ खुद-ब-खुद हट जाती है ।

कहते हैं गाँव में एक आदमी ने मछलियों की एक दुकान खोली उस पर एक बोर्ड लिखाया—‘फ्रेश फिश सोल्ड हियर, यहाँ ताजी मछलियाँ बेची जाती हैं। पहले दिन दुकान खुली और एक आदमी आया उसने कहा कि यह फ्रेश फिश का क्या मतलब ? कहीं बासी मछलियाँ भी बेची जाती हैं ? उसने फ्रेश शब्द हटा दिया फिर बच गया ‘फिश सोल्ड हियर’। दूसरे दिन एक बूढ़ी औरत आई उसने कहा—‘सोल्ड हियर’, कहीं और भी बेची जाती हैं। यह हियर बिल्कुल बेकार है, वह उससे भी राजी हो गया, फिर तख्ती पर रह गया “फिश सोल्ड”। फिर एक आदमी आया उसने कहा ‘सोल्ड’ का क्या मतलब, कहीं मुफ्त भी मिलती है। फिर रह गया ‘फिश’ एक दिन फिर एक आदमी आया उसने कहा—फिश लिखने का क्या मतलब भाई, अंधे को भी गंध आ जाती है, उसने फिश भी हटा दिया। फिर बोर्ड रह गया खाली। एक दिन बोर्ड भी हट गया।

तो यह जो शून्यता है इससे उठता है प्रेम। इस शून्य से ही प्रेम पैदा होता है। रवीन्द्रनाथ के अंतिम समय में उनके एक मित्र आये उन्होंने कहा भगवान से प्रार्थना कर लो कि वह बार-बार आने-जाने के चक्र में न डाले, आवागमन से छुट्टी मिल जाए। रवीन्द्रनाथ ने कहा—ऐसी प्रार्थना कैसे कर सकता हूँ ? जीवन इतना सुन्दर है। यह जीवन के प्रति प्रेम है।

प्यास जीवंत होनी चाहिये। प्यास इतनी सघन होनी चाहिये कि बादलों को बरसना ही पड़े। अगर बादल नहीं बरस रहे हैं, तो टटोलो कि ऐसा तो नहीं कि प्यास ही नहीं है। पहले देखो कि सघन प्यास पैदा हो चुकी है या नहीं ? क्योंकि सघन प्यास है, तभी आप अपने आप को त्याग कर सकेंगे, अपने आपको खो सकेंगे। आषाढ़ में जब वर्षा की पहली फुहार धरती पर पड़ती है, तो उससे पहले भंयकर गर्मी पड़ती है; पेड़ के पत्तों को झड़ जाना पड़ता है; धरती का सारा पानी सूख जाता है; सागर भी जलने लगता है। तब कहीं जाकर आषाढ़ के बादल उमड़ते हैं, रिमझिम-रिमझिम बारिश होती है।

रिमझिम-रिमझिम बरसे नूर।

नूर ज़हूर सदा भरपूर ॥

तब वो रोशनी, वो नूर, वो शमां भी इस तरह बरसती है कि सूखे पेड़ हरे हो जाते हैं। इतने हरे कि जैसे पुनर्जन्म हुआ है। तब फिर से कोई योगक्षेम हमारा

साथ करने के लिए तैयार हो जाता है । जैसे ये पेड़ हरे-भरे हैं, भगवान करे आप सब लोगों का जीवन उतना ही हरा-भरा हो । मेहरबानी करो और परमात्मा के साथ अपने ताल्लुकात बढ़ाओ । प्यास और पुकार जितनी सघन होगी, प्रार्थना उतनी ही जीवंत होगी । प्यास सघन चाहिये । मंदिर जाओ, गुरुद्वारा जाओ । परमात्मा का हर घर, जहाँ भी अपने परमात्मा को अपनी आस्था का केन्द्र बनाकर कोई भी चीज निर्मित कर रखी है, वहाँ जाओ । दो मिनट के लिए अपनी आंखों को बंद करो, भगवान का स्मरण करो, अपने अन्तःकरण में भगवान को आमंत्रित करो । भगवान के साथ इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को समग्रता के साथ आह्वान करो । अपने आप में प्रभु को देखो और अहोभाव से भर जाओ । जो भी भगवान को न्यौछावर करने का मन हो, न्यौछावर कर देना । मंदिर से निकलो और कोई याचक मिल जाये तो उसे जरूर कुछ-न-कुछ दे देना । अगर भगवान के अशेष आशीष पाना चाहते हो, तो यह आशीष पाने का एक तरीका होगा । पता नहीं, भगवान किस रूप में द्वार पर आ जाये ।

अपने कर्तृत्व-भाव का, अहंभाव का त्याग कर दें । उसके अनन्य प्रेम में, अपने जीवन का फूल प्रेम की सरिता में चढ़ा देना, सरिता सागर की ओर बढ़ रही है । पूर्णता स्वयं हमें अपनी गोद में ले लेगी । मेरे जीवन का फूल उस प्रेम की सरिता में अर्पित है । अन्तरमन का दरिया उस सरिता से एकलय है ।

मेरा यह अनुरोध है अगर भगवान को अपनी ओर से अपने आपको समर्पित कर सको, तो एक शान्ति, एक संतोष, एक तृप्ति अपने जीवन में हर समय, हर घड़ी महसूस करते रहेंगे, आनंदित होते रहेंगे । हम सब प्रसन्न और आनंदित रहें, ऐसे ही जैसे कोई सागर की लहरें उमड़ती हैं; जैसे हरे-भरे पेड़ लहलहाते हैं; जैसे कोई झरना फूटता है । भगवान करे हम सब उतने ही प्रसन्न, उतने ही प्रमुदित, उतने ही ज्योतिर्मान बने रहें । आज के लिए कुछ बातें निवेदन की हैं, ध्यान में लायें । नमस्कार ।



भीतर बैठा देवता

जीवन का स्वरूप बड़ा अद्भुत है। ज्ञानीजन जिसे सुख कहते हैं, आम आदमी उस सुख के प्रति अपने आपको उदासीन बनाये रखता है और जिसे वे दुःख कहते हैं, साधारणजन को उसी में सुख की अनुभूति होती है। न जाने दुनिया को उसमें कौन-सा रस निर्झरित होता हुआ दिखाई देता है। हर आदमी उस दुःख को सुख मानकर उसमें डूबा हुआ है। जिसे ज्ञानीजन खुजली का रोग कहकर उसके खुजलाने को जीवन के लिये त्रासदी समझते हैं, आम आदमी जानते-बूझते हुए भी उसे खुजलाने को आतुर है। जीवन का काव्य कुछ है ही ऐसा।

जीवन का गणित कुछ ऐसा विचित्र है कि जो सत्य है, वह असत्य लगता है और जो असत्य है, उसी में ही व्यक्ति को सत्य की झलक दिखाई देती है। तभी तो ज्ञानी की दृष्टि में जीवन कुछ और होता है और मूढ़ और अज्ञानी की नज़र में ज़िदगी के मायने कुछ और ही होते हैं। जीवन का विज्ञान ही कुछ ऐसा है कि जो बहुत दूर है, वह तो बहुत नज़दीक दिखाई देता है और जो नज़दीक है, उस पर हमारी नज़र ही नहीं जाती। हर कोई चांद-सितारों तक पहुंचना चाहता है। सूरज, चांद और कोटि-कोटि ग्रह-नक्षत्रों की रश्मियाँ आदमी को इतना आकर्षित और आह्लादित करती हैं कि आदमी एकटक उन्हें निहारता है और जीवन की रोशनी भी उनमें तलाशता है। अपने ही चरणों के पास खिल रहे गुलाब

या जूही के फूलों पर उसकी नज़र नहीं जाती । क्या किया जाये, दूर के ढोल सुहावने जो लगते हैं ।

ये ठीक है कि सितारों पे घूम आये हम,
मगर किसे है सलीका जमीं पे चलने का ।

कोटि-कोटि नक्षत्रों तक हमारी दृष्टि जा रही है, पर स्वयं का नक्षत्र अदृश्य ही रहा । सितारों तक पहुंचने वाले लोग, अच्छा होगा जमीन पर चलने का, जमीन पर जीने का सलीका आत्मसात कर लें, जीने की कला उनके हाथ लग जाये । स्वयं के सत्य से वंचित रहकर, औरों का सत्य सुन-पढ़-जान भी लिया, तो उन सत्यों को भी तर्क में, वाद-विवाद में उलझाकर असत्य कर डालोगे ।

बाहर की चकाचौंध ने, बाहर की चमक-दमक ने मनुष्य के भीतर के प्रकाश को ऐसा लगता है कि बुझा ही डाला है । निश्चित तौर पर बाहर के प्रकाश का मूल्य है, पर भीतर के प्रकाश की अर्थवत्ता उससे कहीं अधिक है । बाहर का अंधेरा भी कुछ काम का नहीं है और भीतर का तमस भी कोई अर्थ नहीं रखता । समृद्धि तो भीतर भी होनी चाहिये और बाहर भी होनी चाहिये, अन्यथा जीवन सुखी नहीं हो सकता । इसके लिए हर आदमी महावीर की तरह सब कुछ छोड़-छाड़कर नंगे बदन जंगलों की ओर नहीं जा सकता; हर आदमी बुद्ध की तरह अपनी पत्नी या पुत्र को त्याग कर किसी वृक्ष के नीचे साधना या आराधना के लिए नहीं बैठ सकता । उन्होंने तो जान ही लिया था कि बाहर की समृद्धि कोई अर्थ नहीं रखती । वे राजकुमार थे, उन्होंने समृद्धि को जीया था । आप लोगों ने परम समृद्धि को नहीं जीया है, इसलिए बोधि-वृक्ष के नीचे आसन जमाने पर जब कोई कंकड़ भी तुम्हें आ चुभेगा तो तुम तिलमिला उठोगे । अपने आपको ही उलाहना दोगे कि घर में शान्ति से बैठे थे, कहाँ झोली-डंडा लेकर आ गये । बुद्ध जैसे लोग तो पहचान ही लेते हैं कि ये कंकड़ जितनी पीड़ा देते हैं, उससे भी अधिक पीड़ा तो राजमहल के मखमल के गलीचे देते हैं । शरीर को तो भले ही वे सुख देते हों, लेकिन अन्तर-आत्मा तक उनकी कोई भी सुख-शान्ति नहीं पहुँची । भीतर में सुख-शान्ति के फूल न खिले, तो जगत के सुख हमें सुकून कहाँ दे पाये !

जीवन में बाह्य समृद्धि भी चाहिये और आन्तरिक सम्पन्नता भी चाहिये । दुनिया में जितने भी शास्त्र हैं, वे एकपक्षीय मिलेंगे । वे शास्त्र या तो बाह्य समृद्धि

की चर्चा करेंगे या केवल आन्तरिक समृद्धि की ही। अगर लेनिन या मार्क्स को देखो तो वे व्यक्ति की बाहरी समृद्धि के शास्त्र रचेंगे; हिटलर या स्टालिन को पढ़ो, तो वे मनुष्य के बाह्य युद्ध की संरचना के नियम बतायेंगे, जबकि महावीर या बुद्ध को पढ़ो, तो वे मनुष्य के आन्तरिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को कैसे जीत सके, अपने अन्तर्मन का स्वामी कैसे बन सके, महावीर, बुद्ध और पतंजलि के पास ये ही तो सारे सूत्र, यही तो दर्शन मौजूद हैं।

गीता का मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जो मनुष्य को बाह्य तौर पर भी समृद्ध करना चाहता है और आन्तरिक जगत की दृष्टि से भी आपको बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ देखना चाहता है। यह मार्ग बाह्य दृष्टि से कर्मयोग का मार्ग है, तो आन्तरिक नजरिये से संन्यास-योग का मार्ग है। जीवन से जुड़ी बातें हर किसी विचारक के मुख से सुनने को मिल जायेंगी, किताबों में पढ़ने को मिल जायेंगी, लेकिन गीता का तो 'अंदाजे-बयां' ही कुछ और है। जीवन एक गणित नहीं, एक काव्य है, यहाँ महावीर या बुद्ध की तरह कोई निर्धारित मार्ग नहीं है। काव्य का कोई तय मार्ग नहीं होता। वह तो बहता हुआ निर्झर है। कब कौन-सा मोड़ ले ले, कब खंडकाव्य महाकाव्य बन जाये। काव्य का क्या जो भाव उम्टा हो, वही 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' बन गया। सभी धर्मों में तीर्थकर, पैगंबर और अवतार रहे होंगे, पर किसी के भी कृष्ण की तरह दसों हजार रानियाँ नहीं रही होंगी। कृष्ण ने उन संतों, तीर्थकरों या पैगंबरों की तरह जंगलों में जाकर आराधना की हो, यह लगता नहीं है। लीलाधर की लीलाएँ कितनी विचित्र हैं। उनकी भगवत्ता तो बांसुरी में है, उनकी परमात्मता तो उनके पाँवों से होने वाले अहो नृत्यों में है, रासलीलाओं में है, माखन-मिश्री चुराने में है, बाँकी नजर में है।

कृष्ण का जीवन तो एक रास-लीला है, कोई भी कृष्ण को समझ नहीं पायेगा। कृष्ण दुनिया को संदेश दे रहे हैं अचौर्य का और खुद माखन-मिश्री चुरा रहे हैं। दुनिया के लिए प्रेरक बन रहे हैं ब्रह्मचर्य के और खुद के पास रानियों की भरमार है; दुनिया को संदेश दे रहे हैं अहिंसा, प्रेम और करुणा का और खुद कुरुक्षेत्र के प्रांगण में खड़े होकर प्रेरणा दे रहे हैं महाभारत की। बड़ी विचित्र जीवन-गाथा है उनकी। शायद ही कोई कृष्ण को समझ पाये। जीवन भर साथ रहने के बावजूद अर्जुन भी कहाँ समझ पाया। यह तो अर्जुन ने विवश ही कर दिया कृष्ण को अपना वास्तविक स्वरूप दिखाने के लिए। अगर कृष्ण को सही

तौर पर समझने वाला हुआ तो मेरी दृष्टि में वे भीष्म पितामह थे । शायद अर्जुन भी कृष्ण का विराट स्वरूप देखकर इतना श्रद्धान्वित नहीं हुआ होगा, जितना श्रद्धा का भाव भीष्म पितामह के भीतर उमड़ा । जैसे ही कृष्ण ने भीष्म पितामह को मारने के लिए अपने रथ को आगे बढ़ाया, भीष्म अपने सारे शस्त्रों को समेटकर करबद्ध खड़े हो गये । उन्होंने अपने को धन्य माना कि स्वयं परमपिता परमात्मा आ रहे हैं मेरे आत्म-वैभव को स्वीकारने के लिए, नश्वर शरीर से मुक्त कर देने के लिए । तब अर्जुन ने आकर कहा कि भगवान, यह आप क्या कर रहे हैं ? आपने तो प्रतिज्ञा ली थी कि आप कोई शस्त्र नहीं उठायेगें, फिर ये चक्र से भीष्म पितामह पर प्रहार क्यों ? मैं ही उनसे युद्ध करूंगा । भीष्म पितामह की आंखों से आंसू ढुलक पड़ते हैं । वे अर्जुन से कहते हैं कि अर्जुन यह तूने क्या किया । यह तो मेरा परम सौभाग्य होता, मेरा जीवन सार्थक हो जाता यदि प्रभु स्वयं मेरी काया को छिन्न-भिन्नकर आत्मा को स्वीकार करते । सीमाएँ असीम में समा जातीं ।

जीवन का काव्य अनूठा होता है । यह गणित की तरह नहीं चलता कि दो और दो चार हो जाये और न ही जीवन 'साइंस' का कोई 'फार्मूला' है । जीवन, जीवन है । जीवन तो खुद काव्य है । जीवन तो ऐसा संगीत है कि जैसा संगीत, जैसी स्वर-लहरियाँ कृष्ण की बांसुरी से फूटा करती थीं । विडंबना है कि व्यक्ति इसे सुन नहीं पाता । उसे दूर-दूर से आती आवाज़ें तो सुनाई देती हैं, मगर अपने ही भीतर की पुकार सुनाई नहीं देती । आदमी जीवन की पीड़ाओं को सुख का स्रोत मानकर उनमें डूबा हुआ है, लेकिन ज्ञानीजन ने जिसे जीवन का सुख माना है, उसकी ओर से आंखें मूंदे हुए है ।

मनुष्य की यह विचित्र दशा है कि वह अपने सत्य को विस्मृत कर रहा है । वह सुखों को बाहर खोजते-खोजते, खुद को भी बाहर ही खोजने लग गया है । मनुष्य, मनुष्य से ही पूछ रहा है कि भगवान कहाँ है ! सारा ब्रह्माण्ड भगवत्ता के आभामंडल से, प्रकाश-कणों से भरा हुआ है, पर भ्रांतियाँ हजार !

मैंने सुना है : एक बार सागर में तैरती हुई मछली ने दूसरी मछली से पूछा—मेरे मन में प्रश्न उठ रहा है, बड़ी जिज्ञासा जग रही है । मैंने बहुत कोशिश की, लेकिन कोई हल नहीं सूझा । सहेली ने पूछा—बोलो, तुम्हारी जिज्ञासा क्या है ? ऐसा कौन-सा प्रश्न है जो तुम्हें इस कदर बेचैन किये हुए है ? मछली ने कहा—मैंने सुन रखा है कि सागर बहुत विराट चीज होती है । सागर के बगैर

किसी भी मछली का जीना संभव नहीं है। बहिन, क्या तुम बता सकती हो, यह सागर कहाँ है? सहेली ने कहा—तूने प्रश्न तो बहुत ही अच्छा किया है। मैंने भी सुन रखा है कि सागर कोई विराट चीज होती है, लेकिन मैंने भी सागर को अभी तक देखा नहीं है। दोनों मछलियाँ जिस किसी मछली से मिलतीं, उसी से पूछती कि सागर कहाँ है और कैसा है? सागर की खोज के लिए सब मछलियों ने अपने लिखे सारे शास्त्र, सारे ग्रन्थ छान मारे, लेकिन उन्हें यह पता नहीं चला कि सागर क्या है? और कहाँ है?

मछलियाँ दूँढ रही हैं सागर को। माना मछलियाँ अबोध हैं, इसलिए दूँढ रही हैं, पर इंसान तो समझ रखता है। आदमी भी सोचने लगता है कि परमात्मा कहाँ है? दूँढता रहता है आदमी। न जाने कहाँ-कहाँ दूँढता है? तुम यह क्यों नहीं जानते कि जिस तरह बगैर सागर के मछली का जीवन नहीं है उसी तरह बगैर परमात्मा के आदमी का अस्तित्व नहीं है। महावीर कहते हैं कि 'अप्पा सो परमप्पा' तुमसे अलग तुम्हारा परमात्मा नहीं हो सकता। परमात्मा तुम्हीं में है। तुम सब में हो, सब तुम में है। मैं सब में हूँ, सब मुझ में हैं। हर कंकर को शंकर जानो।

ओ रंभाती नदियो,
 बेसुध
 कहाँ भागी जा रही हो,
 वंशीरव
 तुम्हारे अन्दर है।

ओ कलकल नाद करने वाली सरिताओ, तुम कहां भागमभाग कर रही हो? बांसुरी का स्वर सुनने के लिये तुम दिन-रात वृंदावन की ओर दौड़ रही हो, ज़रा सुस्ता लो और अपनी ही लहरों में सुनो तो तुम्हें अपने भीतर ही कृष्ण की बांसुरी का स्वर और संगीत सुनाई दे जायेगा। तुम अपने आप में खोज करो। तुम्हारे मन का मौन ही उन परम सुरों के सुनने का अवसर बनता है।

परमात्मा बाहर भी है और परमात्मा भीतर भी है। भीतर उतरने के लिए, भीतर में जीने के लिए इसलिए आह्वान है, इसलिए न्यौता है, क्योंकि बाहर का कोई ओर-छोर नहीं है, बाहर के क्षितिजों का कोई अन्त नहीं है। अनंत है बाहर

का विस्तार तो, लेकिन भीतर का आकाश आखिर भीतर ही सीमित है। इसी काया में, इसी देह के मन्दिर में आप परमात्मा को ढूँढ सकते हैं। इसी काया में हम अपना जो भी अस्तित्व, जो भी माधुर्य, जो भी स्वरूप है, उसे निहार सकते हैं।

जैसे हम हैं, वैसी ही हमारी आत्मा है। दुनिया का भगवान चाहे कैसा भी क्यों न हो, हमारा भगवान तो वैसा है जैसे हम हैं। वह हमारे साथ जीता है, रहता है। बाहर भले ही उसे ढूँढ लेना, लेकिन उससे पहले एक बार अपने आप में भी झाँक लेना। हमारे सत्य की संभावना स्वयं हमारे अपने साथ है। दुनिया के साथ जीने के नाम पर बहुत जी लिये, अब अपने लिए जीने की कोशिश हो।

आइंस्टीन जब मरने के करीब पहुँचा, तो डॉक्टरों ने भी जवाब दे दिया कि अब बचाया नहीं जा सकता। दोस्तों में बात फैली। एक दोस्त ने पूछा कि आइंस्टीन, तुम मर रहे हो। हमारे प्रश्न का जवाब दो कि तुम मरने के बाद अगले जन्म में क्या होना चाहोगे? आइंस्टीन मुस्कुराया, फिर उसकी आंखों से आंसू टुलक पड़े। उसने कहा—मुझे जीवन के इस अन्तिम दिन पर थोड़ी पीड़ा हो रही है। मेरी पीड़ा यह है कि मैं वैज्ञानिक बना, और सत्यों को जाना, मगर एक सत्य से अनजान और अबूझ रह गया, जो मेरा अपना सत्य था। मैंने दुनियाभर के सत्यों का आविष्कार किया, लेकिन एक सत्य को नहीं खोज पाया, जो मेरे स्वयं का सत्य था, जिसके रहते मैं जीवित हूँ। इस सत्य के विच्छिन्न होते ही मैं कब्रिस्तान में दफ़ना दिया जाऊंगा, श्मशान का शिलालेख भर हो जाऊंगा।

आदमी दिन-रात दौड़ता है। उसका जीवन ही दौड़ बन जाता है, जिसमें शांति का कोई स्थान नहीं है। वाणी, हाथ, पांव, इन्द्रियाँ सभी इसी दौड़ में शामिल हैं। मन भी दौड़ रहा है। पर जिसका मन शान्त है, केन्द्रित और मौन है, शुद्ध और परिपूर्ण है, वही व्यक्ति संत है, वही महर्षि है। अच्छा होगा हम अपने आप में बढ़ पाएं। अगर प्रभु-सुमिरन ही करना है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम दिन-रात राम-राम-राम 'गुड़गुड़ाते' जाओ, जैसे गांव के चौधरीजी का हुक्का गुड़गुड़ किया करता है। तुम अच्छा कार्य कर गये, तो भी राम और बुरा काम कर गये तो भी राम। व्यक्ति पाप के घड़े भरता जाता है और राम-नाम की रट जारी रखता है। राम-राम करने से कोई राम मिलता थोड़े ही है। अगर तुम राम की मर्यादा को अपने में जी पाओ, तो ही इस नाम की सार्थकता है।

मेरी समझ से तो प्रभु के स्मरण का अर्थ यही है कि जीओ, बोधपूर्वक जीयो, अपने में प्रभु की मूरत मानो । तुम जिन-जिन के साथ मिल रहे हो, बैठ रहे हो, उन सब में प्रभु की मूरत मानकर उनके साथ वैसा ही व्यवहार करो । भगवान चाहे महावीर के रूप में हों, बुद्ध के रूप में हों या राम-रहीम, कृष्ण-करीम के रूप में हों उनको तो जीया जाता है । अपने जीवन में या औरों के जीवन में, सबके जीवन के साथ उनको जीना ही प्रभु का सही स्मरण है । भगवान की चदरिया ओढ़ लेने भर से भगवान मिलने वाले नहीं हैं । अगर ऐसे ही भगवान मिल जाते, तो गंगा में रहने वाली मछलियां पावन क्यो नही हो जाती ।

बाह्य परिवर्तन कर लेने भर से कोई भगवान नहीं बन जाता । इस गीता-भवन के संस्थापक जिज्ञासु जी ने मुझ से कहा कि गीता-भवन के निर्माण के बाद मैं संन्यास लेने को आतुर हुआ । जिज्ञासु जी अपने गुरु के पास गये और कहा कि मुझे संन्यास लेना है । गुरु ने दीक्षा देनी चाही, गंगा के तट पर उन्हें ले जाया गया । संन्यास देने से पहले एक नियम है कि अगर जैन है, तो कहते हैं कि मैंने अपने परिवार को भुलाया, मैं परिवार-भाव से मुक्त हुआ और अगर हिन्दू है तो कहेगा—मैंने अपने परिवार को गंगा में डुबोया । जिज्ञासु ने मुझ से कहा कि तब उसके सामने असमंजस की स्थिति आ गई । तब उन्होंने अपने गुरु से कहा कि आप कहते हैं, तो मैं वाणी से कह देता हूँ कि मैंने परिवार को डुबोया यानी परिवार-भाव से मुक्त हुआ, पर मन से कहला पाने में वक्त लगेगा । केवल गंगा में डुबकी लगा लेने भर से परिवार छूटता नहीं है । जिज्ञासु जी कहते हैं कि संन्यास को इतने वर्ष हो गये, फिर भी लगता है कि परिवार तो मन में बसा हुआ है । केवल बाह्य परिवर्तन परमात्मा के मार्ग को, जीवन के मार्ग को प्रशस्त नहीं कर सकते । इसीलिए तो कबीर को कहना पड़ा—‘मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा ।’

हमने केवल बाहर-बाहर और ऊपर-ऊपर ही बदलाव किये हैं, भीतर में कोई सुधार, कोई तब्दीली जगह न ले पाई । हमने सितार को तो बदला है, पर उन अंगुलियों को बदलने का प्रयास नहीं किया, जिन अंगुलियों से सितार के तार साधे और छेड़े जाते हैं । क्या फ़र्क पड़ता है, चाहे नल के नीचे स्नान किया या गंगोत्री में नहाये, जब तक भीतर प्रक्षालन नहीं हो पाया, जब तक अन्तःमन का, अन्तस्चित्त का स्नान नहीं हो पाया । जब भीतर में जल पहुँचा ही नहीं, तो कालुष्य कैसे धुल पायेगा और कैसे प्रभु-प्राप्ति हो पायेगी ।

काया मुरली बांस की, भीतर है आकाश ।
उतरें अन्तर-शून्य में, थिरके उर में रास ॥

भीतर उतरो, तो रास हो । शरीर तो बांसुरी है, भीतर भी बाहर जैसा ही आकाश है । भीतर उतरो, भीतर के आकाश में होठों से प्राण-वायु प्रसृत हो जाने दो, स्वर सध जायें, तो बांस की बनी बांसुरी, माटी की बनी काया, सप्त सुरों को जन्म दे सकती है, जीवन को संगीत से भर सकती है । जीवन स्वयं एक महाकाव्य, एक महारस, एक महासागर, एक कल्पवृक्ष और कामधेनु साबित हो सकता है । गीता का सूत्र है—

‘अहमात्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च, भूतानामन्त एव च ॥

कृष्ण कहते हैं—मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ । संपूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अंत मैं ही हूँ ।

कृष्ण कहते हैं कि वत्स, इस सृष्टि में जो कुछ है, वह मैं हूँ । मुझसे ही सृष्टि उत्पन्न हुई है और संसार में जितनी भी चेष्टाएँ चल रही हैं, उन सबका मूल तत्त्व और प्रेरक तत्त्व मैं हूँ । मेरे बगैर एक पत्ता भी नहीं हिल सकता । जिसको मैं चलाना चाहूँ, उसे कोई नहीं मार सकता और जिसके लिए मैं महाकाल बन चुका हूँ, उसे दुनिया में कोई नहीं बचा सकता । अब तक दुनिया में जितने श्रेष्ठ मुनिजन और ऋषिगण हुए हैं, उन्हें तू मेरा ही अवदान समझ । अगर धरती पर सूर्य तपता है और बगैर खम्भे के आकाश खड़ा है, अगर यह पृथ्वी शेषनाग के छोर पर खड़ी है तो इसमें भी तू मुझको ही मूल कारण जान । अगर किसी में सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण—सब कुछ सक्रिय हैं, तो उनको सक्रिय करने वाला मूल तत्त्व मुझे ही समझ । चाहे कर्मन्द्रियाँ हों या ज्ञानेन्द्रियाँ, चाहे मन हो या बुद्धि, सबके पीछे मैं ही हूँ । सब मेरी माया है, मैं सबमें हूँ ।

कृष्ण अर्जुन को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि मैं सब भूतों में स्थित सबकी आत्मा हूँ । जिन-जिन में आत्मा स्थित है, वह मेरी ही आभा, मेरी ही आत्मा है । हर आभा में परमात्मा का स्वरूप छिपा हुआ है । अपनी व्यक्तिगत चेतना में परमात्म-चेतना के आह्वान का नाम ही जीवन में सही तौर पर ध्यान, आराधना और भक्ति है । फ़र्क केवल इतना ही पड़ रहा है कि महावीर कहते हैं—आत्मा ही एक दिन जाकर परमात्मा बनती है और कृष्ण कहते हैं—तुम्हारे भीतर जो आत्मा

है, वह मेरा ही अंश है। महावीर मनुष्य को पूर्ण गरिमा दे रहे हैं, पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्ण मुक्ति दे रहे हैं कि तुम अपना विकास करो, तुम्हारा सम्पूर्ण विकास होगा। कृष्ण कहते हैं कि तुम कितना ही विकास करो, कितना ही अपने व्यक्तित्व को बढ़ाते चले जाओ, तुम्हारा हर विकास मेरा विकास होगा और अगर तुम विनाश कर रहे हो, तो तुम अपने ही हाथों से मेरे विनाश पर तुले हुए हो।

परमात्मा चेतना का सागर है। उसका कोई विनाश नहीं कर सकता। चाहे सदियों-सदियों तक सूरज तपता रहे, कभी रात भी न हो, तब भी सूरज कभी भी सागर को सुखा नहीं पायेगा, सागर फिर भी लबालब रहेगा। तुम अपने हाथों से अपने को कितना ही गिराते चले जाओ, लेकिन एक-न-एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जब तुम्हारा परमात्मा तुम्हें लताड़ेगा, वह तुम्हें माफ़ करने के लिए तैयार न होगा। ज़िदगी भर पाप करने वाला आदमी भी जब मौत के करीब होता है, तो वह रो-रोकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहता है, लेकिन उसके पापों का प्रायश्चित्त हो नहीं पाता। तब नतीजा यह निकलता है कि आने वाला जन्म इस जन्म की पुनरावृत्ति भर होता है, तुम्हारा हर जन्म प्रायश्चित्त का चरण ही होता है। इसलिए जिसके भीतर आत्मा है, वह परमात्मा के साथ अपने आपको समायोजित करे।

कृष्ण एक बात साफ़ तौर पर कह देते हैं कि जो भी भूत हैं, जो भी भौतिक पदार्थ हैं, उन सब में मेरा वास है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिससे मैं अलग हूँ या जो मुझसे अलग है। हर रूप में तुम मुझे देखो। अगर तुम्हारे द्वार पर कोई भिखारी आ जाये, तो यह मत समझो कि कोई भिखारी आया है। हो सकता है भिखारी के रूप में भगवान ही पहुँच जाएँ। कभी समझ ही लिया कि यह भिखारी है, तो वह भूल बहुत मंहगी पड़ेगी। हो सकता है आने वाला भिक्षु, भिक्षु नहीं, वरन् चन्दनबाला के द्वार पर आकर खड़े हुए भगवान महावीर ही हों। अगर घर आये किसी व्यक्ति की उपेक्षा कर दी, तो यह भगवान की ही उपेक्षा बन जायेगी। तुम्हारे द्वार पर परमात्मा न जाने किस रूप में आ जाये, भगवान के सच्चे भक्त हैं, तो पैनी निगाह रखिएगा।

उस परमपिता परमात्मा को पहचानने वाले ही पहचान सकते हैं। यह तो कोई द्रौपदी ही पहचान सकती है कि दुनिया में जब कोई रखवाला नहीं होता, तो चीरहरण के वक्त वही रखवाला बनता है, वही रक्षा करता है। यह तो मीरा ही पहचान सकती है कि जब राणा विष भरा प्याला भेजे, तो उसे अमृत में बदलने

का सामर्थ्य किसमें है। वह आंख चाहिये, वह निगाह चाहिये। उसे सब रूपों में देखो, हर रूप में उसकी बैठक है।

संत एकनाथ के जीवन की एक प्यारी-सी घटना है। कहते हैं कि संत एकनाथ काशी से कावड़ में गंगाजल लेकर रामेश्वरम् की ओर रवाना हुए। रामेश्वरम् से दस कोस पहले ही उन्होंने देखा कि एक गधा प्यास के मारे तड़फ रहा था, छटपटा रहा था। एकनाथ के साथ वाले सारे कावड़िये उस गधे के पास से गुजर गये, लेकिन किसी ने भी गधे को पानी नहीं पिलाया। गधे की तड़फन और बढ़ती जा रही थी। सभी के मन में यही बात चल रही थी—जल तो है हमारे पास, गंगा का जल, पर यह तो रामेश्वरम् के भगवान के लिए है। यह गंगाजल गधे को कैसे पिला दें। संत एकनाथ गधे के पास पहुंचे, उन्होंने कावड़ को कंधे से उतारा और गधे को गंगाजल पिलाने लगे। लोगों ने उनको डांटा, संतों ने भी डांटा कि एकनाथ तुम यह क्या कर रहे हो? भगवान को अर्पित करने के लिए लाये गये गंगाजल को तुम इस गधे को पिला रहे हो। एकनाथ ने कहा—वो विश्वनाथ, वो रामेश्वरम् तो मुझे यहीं मिल गया। मुझे नहीं लगता कि रामेश्वरम् का भगवान इस गधे से भी ज्यादा प्यासा होगा और फिर रामेश्वरम् को चढ़ाने के लिये जल तो तुम्हारे पास है ही।

जो व्यक्ति पशु, पक्षी, इंसान में अगर रामेश्वरम् को देख रहा है तो वह निश्चित तौर पर महावीर और बुद्ध को देख रहा है, ऋषभ और पार्श्वनाथ को देख रहा है, वह राम-रहीम और कृष्ण-करीम को देख रहा है। भगवान उसके लिए सर्वत्र हैं, सर्वव्याप्त हैं। वह परमात्मा तो हर भूत के साथ, हर भौतिक तत्त्व के साथ, हर आत्मा के साथ मौजूद है; नज़रें अपनी-अपनी हैं। किसी के लिए भगवान न था और न है; और किसी के लिये वह सर्वत्र है।

जहाँ आपको दिख जाये भगवान, वहीं बैठ चढ़ा देना एक लोटा पानी। शायद वह सीधा रामेश्वरम् तक पहुँच ही जाये। आप कावड़िये बनो, रास्ते में प्यासा गधा मिल जाये, और आपका गंगाजल उसके होंठों से छू जाये, उसके गले से नीचे उतर जाये, तो रामेश्वरम् का गंगा-स्नान हो जायेगा। ऐसा सौभाग्य आप सब के जीवन में आये। प्राणीमात्र की प्यास बुझाने का आपको सौभाग्य प्राप्त हो। ऐसा करना भगवान के चरणों का अभिषेक करना होगा।



समर्पण ही चाहिए

गीता-महासागर के ठीक मझधार में हम अपनी यात्रा कर रहे हैं। जो लोग महासागर के खतरों की परवाह किये बगैर महासागर में उतर चुके हैं, वे सागर के संपूर्ण रहस्यों को आत्मसात कर लेंगे। जो सागर में उतरने से कतराते हैं, वे किनारे पर बैठकर सिवाय लहरों को गिनने के और कुछ नहीं कर पाएँगे। मझधार तक पहुंचना एक नाविक के लिए बहुत बड़ी सफलता है।

खतरे की संभावना किनारों पर नहीं रहती। खतरे हमारे लिए चुनौती तभी बन पाते हैं, जब हमारी नैया ठीक मझधार में पहुँच जाये। मझधार हमारे लिए कोई शत्रु नहीं है। वह तो मित्र है, बहुत बड़ा मददगार। मझधार में दिखने वाले, भंवर और ज्वारभाटे हमारे लिए चुनौती नहीं हैं, बल्कि ये चुनौतियाँ हैं हमारे बाहुबल को, हमारे आत्मबल को। इसलिए मझधारों से हमें घबराना नहीं चाहिये।

गीता के रास्ते पर चलते हुए अगर राह में पत्थर मिल जाये, तो भयभीत मत होना, क्योंकि ये पत्थर ही हमारे आगे बढ़ने के लिए सीढ़ियों का काम कर जायेंगे। चलती हुई हवाओं को देखकर उन्हें तूफान समझकर मत घबराना, क्योंकि ये तूफान ही हमारे लिए लंगरों को खोलने का काम करेंगे, ये तूफान ही हमारे लिए पाल बनेंगे। प्रभु की हवाएँ हमें अपनी ओर बुलाने के लिए निरन्तर

उत्सुक हैं। नैया निश्चित तौर पर पार पहुँचेगी, मगर पहले मूर्च्छा के लंगर खुलें तब न ! तुम केवल लंगरों को खोलो, पतवारों अपने आप चलेगी। ये हवाएँ तुम्हें एक नये किनारे की ओर, नये रास्ते पर अपने आप ले जायेंगी। बिना मझधारों तक पहुँचे कोई भी किनारों तक नहीं पहुँचा है।

रजकण को बिना चूमे
 कंचन मिला है किसको,
 कांटों में बिना घूमे
 मधुबन मिला है किसको।
 तू देखके कुछ मुश्किलें
 क्यों हार रहा है हिम्मत,
 देहरी को बिना लांघे
 आंगन मिला है किसको।

बिना रजकणों को चूमे कंचन नहीं मिलता, बिना कांटों में घूमे मधुबन तक पहुँचना नहीं होता। अगर कोई आदमी आंगन तक पहुँचना चाहता है, तो निश्चित तौर पर उसे देहरी को लांघना पड़ेगा। यह मझधार देहरी को लांघने की तरह ही है। मझधार में पहुँचकर ही श्रीकृष्ण से अर्जुन कहते हैं कि आपने मुझे इतनी ऊँची और महान् बातें बताईं अपने बारे में। जगत के श्वारे में। जड़ और चैतन्य, हर पहलू का स्पर्श करते हुए आपने मेरे सामने जीवन और जगत का सारा मनोविज्ञान, सारा खाका खींचकर खड़ा कर दिया है। जिस तरह से लगातार आप अपनी, भगवत् स्वरूप की महिमा गा रहे हैं, अपने स्वरूप का विश्लेषण कर रहे हैं, उसे सुनकर मेरी आत्मा तड़फ उठी है, एक प्यास, एक कसक जग पड़ी है। अब तो कुछ ऐसा चमत्कार करो कि स्वयं आपका परम विराट स्वरूप मुझ अर्जुन को देखने को मिले। आपने अब तक जितनी बातें, मुझसे कही हैं, उसके प्रति मेरी कोई अनास्था नहीं है, पर आप मेरी अन्तर-आत्मा को सही तौर पर तृप्त करना चाहते हैं, मुझे सही-सही तौर पर आनंदित करना चाहते हैं तो दिखाइये अपने वैभव को, अपने विराट स्वरूप को।

अर्जुन की बातें सुनकर भगवान मुस्कुरा पड़े। भगवान के सामने विवशता आ ही गई, उनके सामने कोई विकल्प नहीं बचा कि वे अपना रूप न दिखाएं। कोई और होता तो भगवान उसे छका ही देते, मगर जिस अर्जुन को निमित्त बनाकर

वे दुष्टों का संहार करना चाहते हैं, अधर्म और अनैतिकता को उखाड़ फेंकना चाहते हैं, उसे तो अपना वो विराट रूप दिखाना ही होगा। शायद अर्जुन से पहले किसी और को यह सौभाग्य नहीं मिला होगा कि भगवान का सम्पूर्ण भगवत स्वरूप प्रत्यक्ष देखने को मिले। शायद अर्जुन के बाद भी किसी को यह सौभाग्य न मिला होगा। अगर मिला ही होगा, तो वह आंशिक स्वरूप ही होगा।

अर्जुन ने देख ही लिया वह विशद् स्वरूप जिसमें सारा रूप समाविष्ट था; जिससे कि सारा अस्तित्व एक पर्याय बन चुका था; वह स्वरूप जिसमें परमात्मा और परमात्मा की संपूर्ण रासलीला भी समाई हुई थी। अर्जुन ने जान ही लिया कि भगवान के एक ओर से सारे राक्षस निकल रहे हैं और दूसरी ओर से देवगण उनके मुंह से टपक रहे हैं। कहीं से जन्म, कहीं से प्रलय, कहीं प्रभव, कहीं पर भूतों के आदिस्वरूप बन रहे हैं, कहीं मध्य, कहीं अंत। पंचभूत उन्हीं से निष्पन्न हो रहे हैं।

भगवान शब्द भी भूतों से ही बना है। 'भगवान' शब्द की व्युत्पत्ति पर शायद पंडितों का ध्यान नहीं गया होगा, क्योंकि भूतों का अगर सार ढूंढना हो, तो वह इस शब्द में मिल जायेगा। तुलसी कहते हैं 'क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंचभूत रचित अधम शरीरा।'

पांच तत्त्वों के संयोग से जीवन बना है, जगत बना है। एक 'भगवान' शब्द में पांचों ही भूत समाये हुए हैं। भगवान का 'भ' भूमि का वाचक है, 'ग' गगन का परिचायक है, 'वा' वायु का संवाहक है, 'न' नीर का प्रतीक है और 'हलन्त' अग्नि का परिचायक है। पांच भूतों का पिंडस्वरूप ही भगवान है। जब भगवान का यह विशद् और विराट रूप देखने को मिलता है, तो अर्जुन ठगा-सा रह जाता है। उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं। आसमान में हज़ारों-हज़ार सूर्यों से भी ज्यादा प्रकाश अभिमंडित हो चुका था। पुष्टि-स्वरूप गीता भी कहती है कि हज़ारों-हज़ार सूर्यों से भी ज्यादा प्रकाशमान वह भगवत स्वरूप था। नानक-कबीर को पढ़ो तो वे भी यही कहते हैं कि तुम्हारे भीतर भी ऐसे ही अनेकानेक सूर्यों जैसा ही प्रकाश समाया हुआ है।

भगवान का भगवत स्वरूप अब तक जिसको भी दिखा, अपने भीतर ही दिखा, लेकिन अर्जुन वह विरला हुआ, जिसने प्रकट में भी संपूर्ण विश्व-रूप देखा। लोगों को देखो। वे सोचते हैं कि अगर राम तक पहुंचना है, तो पहले

हनुमान की पूजा करो । तभी तो राम से ज्यादा हनुमान के मन्दिर बनाये जाते हैं । अगर हनुमान की छाती को चीरकर देखा जाये, तो राम और सीता मिलेंगे । काश, कोई ऐसी ही चुनौती अर्जुन के सामने रखता कि हे अर्जुन ! ज़रा तुम भी दिखाओ कि तुम्हारे भीतर कौन है ? अर्जुन छाती चीर ही देता और दिखा देता अपने में कृष्ण को, हनुमान की तरह राम को । अर्जुन कृष्ण का पार्थ है । हनुमान की तरह अर्जुन की भी पूजा हो । अब तक महावीर की पूजा हुई है । मैं चाहता हूँ कि महावीर के मन्दिरों में गौतम स्वामी और चंदनबाला की मूर्तियाँ भी बैठाई जायें । कृष्ण के मन्दिरों में जब तुम मीरा को प्रतिष्ठित कर सकते हो, राधा की प्रतिमा लगा सकते हो, तो अर्जुन को वहाँ स्थान क्यों नहीं दिया जा सकता ?

कन्हैया ने जितना प्रेम राधा से किया होगा, गोपबालाओं और अहीर की छोरियों से किया होगा, उतना ही प्रेम अर्जुन से भी किया । कितने बड़े ताज्जुब की बात है कि उस भगवत स्वरूप ने दुष्टों के संहार के लिए अगर किसी को चुना, तो वह एकमात्र अर्जुन रहा । राम ने तो कइयों को चुना होगा, कइयों का सहयोग लिया होगा, मगर कृष्ण वह महासारथी रहे, जिन्होंने दुष्टों और विधर्मियों को जीतने के लिए मनुष्य को ही उसका निमित्त पात्र बनाया । कृष्ण चाहते तो कंस की तरह कौरवों का संहार खुद कर सकते थे; शिशुपाल की तरह दुःशासन, शकुनि और दुर्योधन का सफ़ाया कर सकते थे, मगर ऐसा नहीं किया । वे चाहते थे कि यह गौरव मनुष्य को मिले । धरती पर ऐसा इतिहास लिखा जाये कि परमात्मा ने अवतार लेकर धरती पर छाये हुए अधर्म के नाश के लिए स्वयं मनुष्य को उसका निमित्त बनाया । भगवान करे यह गौरव फिर-फिर मानवता को मिले ।

कहा जाता है कि भगवान का एक आंशिक स्वरूप भी देखने को मिल जाये, तो भक्त कृतकृत्य हो जाता है । भगवान का किसी को मुख-दर्शन या चरण-दर्शन करने को मिला होगा, तो वह ब्रह्मा के रूप में एकरूप दिख गया होगा, विष्णु, महेश के रूप में एकरूप दिख गया होगा । भगवान बुद्ध, महावीर, पतंजलि, जीसस, मोहम्मद, या सुकरात—उनका केवल एक ही रूप देखने को मिला होगा, लेकिन यहां तो अर्जुन इतना महान पुण्यप्रतापी निकला कि उसे संपूर्ण रूप देखने को मिला । लोगों को भगवान के दर्शन करने के लिए न जाने कितनी लंबी-चौड़ी तपस्याएँ करनी पड़ती हैं, उनके नाम की मालाएं जपनी पड़ती हैं, फिर भी वे साकार नहीं हो पाते । अर्जुन ने न तो माला जपी, न गंगा-स्नान किया ।

अर्जुन न तो मन्दिरों में गया, न महावीर की तरह जंगलों में गया, न बुद्ध की तरह किसी बोधि-वृक्ष के नीचे जाकर तपोरत बैठा। घटना अकारण और आकस्मिक ही घटती है, घटाने से नहीं घटती। उस दिव्यत्व के दर्शन पाकर अर्जुन को कहना ही पड़ा कि प्रभु, कृतपुण्य हुआ आज मैं। आज मैंने जान ही लिया कि आप परमधाम हैं। आप ही देवेश हैं, आप ही ब्रह्माण्ड हैं। आपसे ही सब कुछ है, बगैर आपके कुछ भी नहीं। आपका पुण्य-दर्शन मेरा सौभाग्य। भगवद्-दर्शन ही भक्त का सौभाग्य है।

मैंने सुना है कि जब भगवान बुद्ध का जन्म हुआ तो राजा शुद्धोधन के दरबार में जन्म-महोत्सव की भव्य तैयारियाँ शुरू हुईं। शिशु ने धरती पर कदम रखा ही था कि शुद्धोधन ने देखा कि असिता ऋषि ठेठ हिमालय से चलकर उनके दरबार में पहुँचे हैं। वे ऋषि, जिनका दर्शन करने के लिए बड़े-बड़े सम्राट और मुनिगण तरसते हैं, वे ठेठ हिमालय से चलकर आज दरबार में आये थे। शुद्धोधन खड़े हुए और ब्रह्मर्षि के स्वागत के लिए आगे बढ़े। उनका स्वागत कर राजा ने पूछा—प्रभु, आप और यहाँ? कृपया आपके आने का अर्थ बताइये। ऋषि ने कहा—शुद्धोधन, मेरी दिव्य दृष्टि ने आज एक अनोखी घटना होते हुए देखी है। वह घटना यह है कि तुम्हारे घर में जिस बालक का जन्म हुआ है, वह बालक एक अवतार है। मैं उसी परमात्मा का साकार रूप देखने यहाँ तक आया हूँ। तुम इतना-सा अनुग्रह करो कि बालक को यहाँ ले आओ। तब सिद्धार्थ को वहाँ लाया गया। ऋषि ने हाथ जोड़कर कहा—हे प्रभु, अगर यह शरीर कुछ और बना हुआ रहता, तो निश्चित तौर पर मैं आपके विराट होते हुए स्वरूप को देखकर धन्यभाग होता, किन्तु मेरे निर्वाण का समय बहुत नज़दीक आ चुका है। कहते हैं कि तब भगवान बुद्ध के उस शिशु रूप ने अपने अंगूठे का स्पर्श असिता ऋषि की जटा से किया। वे धन्यभाग हो उठे। उन्होंने कहा—भगवान, जीवन की सारी तपस्या सार्थक हो गई कि मरने से पहले स्वयं परमपिता परमेश्वर के चरण का स्पर्श प्राप्त हुआ।

जिस एक आंशिक स्वरूप का दर्शन पाने के लिए असिता ऋषि हिमालय से आये, जिस एक अंगूठे का स्पर्श पाकर वे धन्यभाग हो गये, ज़रा कल्पना करो कि वे आँखें कितनी धन्यभाग होंगी कि जिससे परमात्मा के विराट स्वरूप का, विश्व-रूप का दर्शन किया।

अच्छा होगा कुछ देर के लिए अपनी आँखों को मूंदो और उस विराट् स्वरूप का हृदय में स्मरण करो । अपने परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करो कि भगवन्, यह ज़िंदगी ऐसी ही गुजर गई । सत्संगों को सुनकर, इन वेदों, आगमों, पिटकों को पढ़-पढ़कर ज़िंदगी चली गई, पंडित हो गये, मगर उस पंडिताई ने हमें पत्थर बना दिया । अच्छा होगा, तुम आओ हमारे अन्तःकरण में और एक झलक दिखा जाओ । जैसी झलक आपने तुलसीदास को दी, जैसी झलक सूर, मीरा और चैतन्य महाप्रभु को दी । ऐसी ही झलक हम सबको मिले ।

हे प्रभु ! हमें असत् से बचा, आसक्ति, वासना और अहंकार से बचा ! असत् सम्बन्धों से बचा । हे अन्तर्यामी ! हे मीरा के गिरधर, शबरी के राम ! नामदेव के विट्ठल ! गौतम के महावीर ! आनन्द के बुद्ध ! तेरे नाम अनन्त, रूप अनन्त । मैं नहीं जानता तुम्हें कैसे रिझाएँ । हम असत्य से निकल सकें, यह हमारे बस की बात नहीं, लेकिन तेरी करुणा पर विश्वास है । तू हमें बल दे, हमें तेरे स्वभाव में समा ले ।

पग घुंघरु बांध मीरा नाची रे ।

मैं तो मेरे नारायण की आप ही हो गई दासी रे ।

लोक कहे मीरा भई बावरी, न्यात कहे कुलनाशी रे ।

विष का प्याला राणा ने भेजा, पीवत मीरा हांसी रे ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिलै अविनासी रे ॥

लोग चाहे जो कहें, चाहे कुलनाशी कहें या लंपट । भले ही राणा विष के प्याले भेजते रहे, मगर परमात्मा का प्रसाद ही इतना अनूठा है कि मीरा अहोभाव से उसे पी ही जाती है । अगर प्रेम से ज़हर का प्याला पी लो, तो वह ज़हर भी अमृत हो जायेगा और बेमन से अगर हमें अमृत का प्याला भी पीने को मिल जाये, तो वह भी ज़हर हो जायेगा । उसको ज़हर होना ही पड़ेगा । यह घटना तो सहज रूप में घटती है । अविनाशी किस क्षण आकर मिल जाता है, पता नहीं चलता । ज़िंदगी भर तुम पुकारते रहते हो और अचानक उस भगवत्-स्वरूप की मूर्ति में हलचल होती है और वही हलचल तुम्हारे लिए निमंत्रण बन जाती है, तुमको अपनी आगोश में ठीक वैसे ही खींच ले जाती है, जैसे मीरा कृष्ण की मूर्ति में समा गई थी । तब शरीर यहीं रह जाता है और तुम भगवत्-स्वरूप हो जाते हो ।

भगवान ने जब कहा कि मेरा यह स्वरूप कोई नहीं देख सकता, फिर भी मेरा कोई-न-कोई रूप देखने को मिल ही जायेगा, तो पूछा गया कि प्रभु, वह स्वरूप कैसे देखने को मिलेगा ? समाधान-स्वरूप गीता के इस ग्यारहवें अध्याय के अंतिम चरणों में कृष्ण कहते हैं —

नाहं वैदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
 शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
 मत्कर्म-कृन्मत्परमो, मदभक्तः संगवर्जितः ।
 निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

हे अर्जुन ! मेरा जिस प्रकार का स्वरूप तुमने देखा है, वैसा मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ । जो पुरुष मेरे लिए संपूर्ण कर्तव्य-कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति-रहित और सर्वभूतों के प्रति निर्वैर है, वह अनन्य भक्तचित्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है—

कृष्ण बड़ी ही गहरी बात कहते हैं । पहली बात तो यही करते हैं कि जैसा रूप तुमने देखा है, वैसा रूप और किसी को देखने को नहीं मिलेगा । ऐसा मत समझना कि वेदों के अध्ययन करने से, तप-दान या यज्ञ करने से तुम मेरा संपूर्ण स्वरूप देख लोगे, संभव ही नहीं है । केवल वेद रटकर तुम वेदविद् हो सकते हो । वैदिक अध्ययन केन्द्र के अध्यक्ष वगैरे यहाँ मुझे सुन रहे हैं । पंडिताई का परमात्मा से क्या सरोकार । दान, तप, वेद, यज्ञ से वह नहीं मिलने वाला । उसे पाने के लिए तो उसी का होना होता है । उसी के परायण होना होता है । अनन्य भक्ति युक्त चित्त से वह सच्चिदानन्द आत्मसात होता है । अपने सम्पूर्ण कर्तव्य, कर्म हम उसी को, उसी के नाम समर्पित करें । परमात्मा ही परम शरण स्वरूप है । कोरे सूत्र-रटन से भगवत्ता का सान्निध्य नहीं मिलता । शंकर कहते हैं —

भज गोविंदम् भज गोविन्दम्
 भज गोविंदम् मूढमते ।
 सम्प्राप्ते सन्निहिते काले,
 नहि नहि रक्षति डुकृकरणे ॥

क्या तू व्याकरण-सूत्र को रटने में ही ज़िदगी पूरी कर रहा है ? यह बात वह पुरुष कह रहा है, जिसने सूत्रों को अपना जीवन न्यौछावर किया, लेकिन अंत

घड़ी के करीब पहुँचते-पहुँचते उसने जान ही लिया कि वह रटंत विद्या, यह तोता-रटंत आदमी को मृत्यु से नहीं बचा सकती। मनुष्य का अगर अन्तिम शरणभूत होता है, तो वह 'भज गोविंदम्' ही है। लोग 'भजगोविंदम्' नहीं भजते। वे तो भजते हैं—भजकलदारम् ! भजकलदारम् ! आदमी के लिए पहला भगवान पैसा हो चुका है।

न बीवी, न बच्चा, न बाप बड़ा, न भैया।

द आल थिंग इज दैट सबसे बड़ा रुपैया ॥

परमात्मा को किसी ने पाया, तो योग से ही पाया होगा, ध्यान, स्वाध्याय, ज्ञान, सेवा से ही पाया होगा, लेकिन कृष्ण तो साफ़-साफ़ कह देते हैं कि मैं तो उनके लिए हूँ, जो मुझे प्रेम से भजते हैं; जो मुझे अनन्य भक्ति चित्त होकर मेरे लिए ही सारे कर्तव्य-कर्मों को समर्पित करते हैं; आसक्ति-रहित होकर सर्व प्राणियों के प्रति निर्वैर होकर जीते हैं, वे मुझे प्राप्त करते हैं। परमात्मा को खोजने के दो ही उपाय, दो ही मार्ग हैं। पहला मार्ग तो यह कि व्यक्ति अपने आपको मिटा डाले, समर्पित कर डाले। उसका समर्पण पानी में धुले नमक-सा होना चाहिये कि नमक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व शेष न रहे।

भगवत्-प्राप्ति का दूसरा उपाय यह बचता है कि कोई समर्पण नहीं, हम आत्म-संकल्प के जरिये पहुँचेंगे। जैसे एक दीपक की लौ अखंड सुलगती रहती है, ऐसे ही हम भी प्रज्वलित रहेंगे। या तो परम जागरूकता ही मार्ग बनेगी या परम समर्पण ही मार्ग होगा। अगर गंगोत्री तक पहुँचोगे तो भी गंगोत्री के द्वारा वापस गंगासागर मिल जायेगा और गंगासागर तक पहुँचोगे, तो भी गंगोत्री तक पहुँच जाओगे। यह 'जल-चक्र' की प्रक्रिया है। सागर का पानी सूखेगा, बादल बनेगा, फिर बरसेगा और गंगोत्री तक पहुँच जायेगा। गंगोत्री से बहेगा और वापस गंगा का रूप लेते-लेते गंगासागर तक पहुँच जायेगा। मार्ग दोनों ही हैं, दोनों ही मार्गों से पहुँचा जा सकता है, इसलिए कृष्ण ने ज्ञानयोग भी दिया और कर्मयोग भी बताया। जो मार्ग सुगम हो, उसी से पहुँच जाओ, जिसके लिए तुम्हारी आत्मा मान पड़े, वही मार्ग ठीक।

परमात्मा को उपलब्ध करने का दूसरा मार्ग किसी राधा का, किसी मीरा का, किसी परमहंस का, किसी नारद का मार्ग है। यह बेहोशी का, मिटने का ही मार्ग है। हमें होश नहीं चाहिये प्रभु, हमें तुम्हारी बेहोशी चाहिये। तू तो ऐसी कृपा कर कि हर वक्त तुम्हारे चरणों में हमारा जीवन समर्पित बना हुआ रहे। यहाँ

आंसुओं को ढुलकाना परमात्मा के चरणों का गंगाजल से प्रक्षालन करना है; यहाँ तो एक-एक आंसू का बहना भी भक्ति की शुमार है। जब भगवत्ता के भाव में डूबे हुए व्यक्ति के हृदय से आंसुओं की जलधार टप-टप गिरने लग जाये, तो चित्त निर्भर हो जाता है।

यह देह तो एक माटी है, एक दीया है। एक दीया वो होता है, जो अखंड जलता रहता है, मगर स्वयं अपने लिए ही और दूसरा दीया वो है, जो मंदिर-मंदिर जलता है, मगर परमात्मा के लिए, परमात्मा के पथ को प्रकाशित करने के लिए—‘ओ मेरे दीपक जल, प्रियतम का पथ आलोकित कर।’ वो दीपक इसलिए जलता है कि कहीं भगवान इस रास्ते से गुजरते हुए आ जायें, तो उन्हें अंधेरा न मिले, प्रकाश ही प्रकाश हो। भक्त की केवल एक ही इच्छा, एक ही भावना रहती है —

इच्छा केवल रजकण में मिल,
तव चरणों के निकट पडूं।
आते-जाते कभी तुम्हारे
श्रीचरणों से लिपट पडूं ॥

एक भक्त का केवल इतना-सा भाव है कि प्रभु, हम नहीं कहते कि तू हमें अपना विराट स्वरूप देकर विराट बना। हम तो केवल इतना-सा कहते हैं यह जो तुम्हारा विराट स्वरूप है, उसमें हमें तू फूल की तरह स्वीकार कर लेना। इतना भी न कर सको, तो हम तो अपने आपको एक माटी के कण की तरह इस मंदिर की माटी को, अपने आपको समर्पित करते हैं। एक ही भावना, एक ही कामना। भक्त इससे ज्यादा क्या कामना कर सकता है, प्रभु से क्या कृपा चाह सकता है? अगर वह एक चरण ही पड़ गया, तो जीवन सार्थक हो जायेगा, जिसका स्पर्श पाने को देवता भी तरसते हैं। वे चरण, चरण नहीं पारस हैं, जिसके स्पर्श से हम वो नहीं रहते जो आज तक हैं। तब हम वो हो जाते हैं, जो हमें होना होता है। तब मैं मिट जाता है, वो हो जाता है, हम मिट जाते हैं, हमारे स्थान पर वो हो जाते हैं।

प्रभुता को सब कोई मरे,
प्रभु को मरे न कोय।
जो कोई प्रभु को मरे,
प्रभुता दासी होय ॥

प्रभुता उस आदमी की दासी हो जाती है, जो प्रभु के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है। चूंकि चंद्रप्रभ बोल रहा है, तो आप यह न सोचें कि यह कोई चन्द्रप्रभ बोल रहा है। यह तो केवल वह भगवत स्वरूप ही यहां आकर बोलता है। चंद्रप्रभ का तो केवल उस प्रभु को निमंत्रण होता है। मैं तो कहता हूँ प्रभु, मैं तो वैसा ही निमित्त हूँ, जैसा एक निमित्त तुम्हारे लिये अर्जुन था। आओ और अपनी बांसुरी की तान छोड़ो, अपनी गीता को सुनाओ। प्रभु, तुम्हें अगर किसी को चैतन्य बनाना है तो बनाओ, किसी को राधा बनाना है, तो बनाओ, तुम्हारी मौज। मैं तो अनासक्त भाव से सारे प्राणियों के प्रति एक निर्मल मैत्री का भाव लेकर अपनी ओर से सारे कर्तव्य-कर्मों को तुम्हें समर्पित करते हुए अनन्य भक्तिचित्त से, अनन्य प्रेमयुक्त चित्त से तुम्हें समर्पित हूँ। हमें कैसे जीवित रखना है, कैसे हमारा उपयोग करना है, यह सब तुम्हारे हाथों में है। हम तो सागर में बहते हुए तिनके की तरह तुम्हें समर्पित हो चुके हैं। अब इस तिनके को तुम किस तरफ़ बहा ले जाते हो, यह तुम पर है। हमने तो अपने जीवन के लंगरों को खोल दिया है, अब यह तुम्हारी हवा हमें कहाँ ले जाती है, तू ही जाने। हम तो बस तुम्हारे चरणों में समर्पित हुए फूल हैं। तुम्हारे दरिया में समर्पित हुए फूल हैं। हमें तो इतना दृढ़ विश्वास है, इतनी परम श्रद्धा है कि जहाँ तू हमें ले जाकर पहुँचाएगा, वहाँ हम नहीं होंगे, वरन् तुम्हीं होंगे, तुम्हीं वहाँ पर ब्रह्म-विहार करने वाले मुक्त परम स्वरूप परमात्मा होंगे।

यही निवेदन है प्रभु कि हृदय-नेत्रों से बहने वाली अश्रुओं की धार को स्वीकारो। हमारे पांडित्य, हमारी विद्वता को एक किनारे फेंको। हम तो अब तुम में रमते हैं, तुम हम में रम जाओ। हम तुम्हारा सुमिरन करेंगे, तुम हमारा सुमिरन रखो। हम तुम्हारा ध्यान धरते हैं, तुम हमारा ध्यान रखो। हमारी वृत्तियाँ तुम्हारी ओर बढ़ती जाएं। हमारा अहं तुम में विलय हो जाए। तुम्हारी परम चेतना में, तुम्हारी परम शांति में, परम प्रेम में, परम स्वरूप में मन की वृत्तियाँ शान्त हो जायें। शरीर को चिता की आग सुलगाये, उससे पहले तू अपनी ज्ञानाग्नि से हमारी आसक्तियाँ जला दे। तू हमें अपने स्वभाव, में अपने स्वरूप में समाविष्ट कर ले। ले चलो प्रभु हमें प्रेम के प्रकाश की ओर, ज्ञान के आलोक की ओर।

आप सबके अन्तर्घट में विराजमान परमपिता परमात्मा को नमस्कार।



मन में, मन के पार

धरती पर मनुष्य के अभ्युत्थान के लिए कई पगडंडियाँ हैं, कई रास्ते हैं, राजमार्ग हैं। मनुष्य के अभ्युत्थान के लिए ही धरती पर धर्मों का जन्म हुआ है। मनुष्य का जन्म धर्म के लिए नहीं हुआ, वरन् धर्मों का जन्म मनुष्यों के लिए हुआ है। जब-जब भी समय ने अपनी करवट बदली, धर्म के नये रूप, नये मार्ग, नए मापदंड स्थापित होते गये। इस समय दुनिया में करीब तीन सौ साठ धर्म जीवित हैं।

धर्मों की विविधताएँ हैं, उनके अपने-अपने मार्ग हैं। धर्म के मार्ग चाहे जितने हों, लेकिन कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जिसके सारभूत सिद्धान्तों के साथ किसी दूसरे धर्म का विरोध हो। कहीं भी विरोध या विरोधाभास दिखाई देता है, तो वह धर्म के सिद्धान्तों में नहीं, वरन् धर्म के नाम पर चलने वाली सांप्रदायिकता, कट्टरता और राजनीति के कारण है। हिन्दू धर्म के सारसूत्र इस्लाम धर्म के अनुयायी को अपनाने का पूरी तरह हक़ है और इस्लाम के सारसूत्रों को एक हिन्दू को अपनाने में कोई ऐतराज़ नहीं है। भेद केवल शिल्प में है, भेद केवल दीयों में है। सारे दीयों में ज्योति तो एक ही है।

अपने अपने भेष की, सब कोइ राखे टेक।

रज्जब निसाना एक है, तीरंदाज़ अनेक ॥

हर धर्म का अनुयायी अपने धर्म की इज्जत करता है, अपने धर्म की बात कहता है। वह इस बात से जान-बूझकर अनजान बना रहता है कि सब धर्मों का मूलमंत्र तो एक ही है। जब निशाना एक है, तो गीता, कुरान, बाइबिल और गुरु ग्रन्थ साहिब में भेद कैसा? तीर चलाने वालों में फ़र्क हो सकता है, पर लक्ष्य सबका एक ही है। अगर लक्ष्यों में भेद हो, तो मार्गों के भेदों को महत्व दिया जा सकता है। जब सबका लक्ष्य ही एक है, तो तुम किस मार्ग से पहुँचते हो, वह मूल्य नहीं रखता। पड़ाव कभी अर्थ नहीं रखते, अर्थ हमेशा मंजिल रखती है। तुम किस पगडंडी से पहुँचे; उस पगडंडी पर लाल मिट्टी थी या पीली, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। न ही फ़र्क इस बात से पड़ता है कि तुम जैन के मार्ग से पहुंचे या हिन्दू मार्ग से अथवा ईसाई, पारसी से। मार्गों को इतना मूल्य मत दो। मार्गों को मूल्य वे लोग देते हैं, जिनके पास गुणग्राहकता की क्षमता और चेतना नहीं होती। तुम्हारा काम तो सिर्फ़ लक्ष्य की ओर बढ़ना है।

“ऊधो मन तो एक है,
 नहिं है मन दस-बीस।
 एक तो ले गये श्याम जी,
 अब कौन भजे जगदीश” ॥

यह एक रास्ता है। एक भक्ति का रास्ता है, एक श्रमण-संस्कृति का रास्ता है। पता तो तब चलता है जब आप उस रास्ते पर थोड़ा उठने लगते हो। यूरी गागरिन जब पहली बार अंतरिक्ष में गया, तो उसने कहा मुझे पहली बार जीवन में पता चला कि जमीन पर कितना बोझ था। कहते हैं एक फकीर के पास किसी आदमी ने जाकर कहा मुझमें बहुत घृणा, बहुत हिंसा, बहुत क्रोध है, ईर्ष्या है, जलन है। इनसे कैसे छुटकारा पाऊंगा। उस फकीर ने कहा कि कल जब मैं भिक्षा मांगने तुम्हारे दरवाजे पर आऊंगा, तब बताऊंगा।

वैसे भी वह फकीर रोजाना उसके दरवाजे पर भिक्षा मांगने जाता था। क्योंकि आज फकीर से कुछ लेना था इसलिए भिक्षा भी कुछ और तरह की थी। फल थे, मिठाइयाँ थीं। जो भिक्षा दे रहा था उसने हाथ रोका और कहा कि आपके पात्र में गोबर है, कंकर है, इसमें मिठाइयाँ कैसे डालूँ। सब खराब हो जायेगा। आप पात्र धो लें, फकीर ने पात्र धो लिया। फकीर चलने लगा तो उसने कहा, आप तो मुझे कुछ देने वाले थे, कुछ बताने वाले थे। उसने कहा मैंने बता दिया, मैंने

कह भी दिया। तुम्हारे भीतर जो कुछ भी पड़ा हुआ है वह बाहर नहीं निकलेगा तब तक कुछ भी नहीं होगा। इसके लिए मार्ग की चिंता न करो। मार्ग तो चाहे जो हो। जैसे विभिन्न टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर सभी नदियाँ समुन्दर में मिल जाती हैं, वैसे ही सभी लोग विभिन्न मार्गों से होते हुए वहाँ तक पहुँच जाते हैं।

तुम कहीं जा रहे हो और तुम्हें रास्ता मालूम नहीं है, तो तुम किसी से रास्ता पूछोगे। कोई राहगीर तुम्हें मिलता है और तुम उससे पूछते हो कि मुझे अमुक मंजिल की ओर जाना है, रास्ता कौन-सा होगा? उस राहगीर ने बता दिया कि फलां रास्ता है, तो तुम आगे बढ़ जाओगे। अगर तुम उस रास्ते पर आगे बढ़ गये, तो मंजिल के और करीब पहुँचोगे। वहीं अगर यह मानकर कि इस राहगीर का मुझ पर बहुत बड़ा उपकार है, आप वहीं बैठ गये। उस राहगीर की सेवा करने, उस राहगीर के अहसान का कर्ज़ चुकाने, तो ज़िदगी उस अहसान का कर्ज़ चुकाने में ही पूरी हो जायेगी और रास्ते तथा फासले पार नहीं हो पायेंगे।

जब कई साधक लोग मुझसे मिलते हैं और मुझे लगता है कि वे मेरे प्रति बहुत मोहित होने लग गये हैं, तो मैं उन्हें कोई-न-कोई एक ऐसा झटका दे देता हूँ कि उनका मेरे प्रति जो मोह है, वह टूट जाये। जिस कारण से तुम मेरे प्रति आकर्षित हुए, मोहित हुए, उस कारण को तलाशो। अगर तुम चाँद की तरफ़ जाना चाहते हो, तो मेरा काम अंगुली से चाँद को दिखाना है कि आसमान में उस ठौर चाँद है। यह मनुष्य की गुरुमूढ़ता होती है कि वह उस अंगुली को पकड़कर बैठ जाये, जिसने कि चाँद दिखाया। अंगुली अर्थ नहीं रखती, अर्थ चाँद रखता है।

परमात्मा तक पहुँचाने वाले सारे मार्गों में अच्छाइयाँ भी हैं, बुराइयाँ भी हैं। अब यदि कोई रास्ता घुमावदार हो गया, फिसलन आ ही गई, कांटे गड़ ही गये, पत्थर से चोट लग ही गई, तो इसकी परवाह मत करना, क्योंकि कोई भी मार्ग ऐसा नहीं है, जिसमें कठिनाइयाँ और बाधाएँ न हों। शुरू में नहीं तो बाद में मिलेंगी और बाद में नहीं तो शुरू में मिलेंगी। रास्ते सब पहुँचाते हैं। तुम्हारा उद्देश्य तो सिर्फ़ गंगास्नान करना है, चित्त का स्नान करना है, आत्मा का प्रक्षालन करना है। अब किस घाट से जाकर गंगा में डुबकी लगाते हो, इसका क्या मूल्य, इसमें कैसी माथापच्ची। घाट अनगिनत हैं, कोई किसी के नाम का, कोई किसी के नाम का। इससे क्या फ़र्क पड़ता है कि किस घाट से उतरे। घाट कोई मुक्ति थोड़े ही देता है। घाट तुम्हें बांधकर न रखे तो भी बहुत समझना। उतरो, उतरकर

ही जान सकोगे कि जीवन क्या है ? तभी यह जान सकोगे कि जीवन का प्रक्षालन कैसे होता है ?

मेरे लिए कभी किसी धर्म का विरोध नहीं रहता । मैं जितने प्रेम से वेद पढ़ता हूँ, उतने ही प्रेम से आगम-पिटक, कुरान, बाइबल को भी पढ़ लूंगा । अच्छी बातें हर धर्मशास्त्र में लिखी हैं, हर ग्रन्थ में लिखी हैं । अच्छे लोग, अच्छे विचारक और संयमी व्यक्ति हर धर्म में हैं । तुम्हारी आँखों में ही कुछ गिरा हुआ है, इसलिए तुम्हें सामने का दृश्य साफ़ दिखाई नहीं देता । अपने चेहरे पर काला चश्मा लगाओगे, तो सामने की सफ़ेद दीवार काली दिखाई देगी ही । दीवारों को बदलने की चेष्टा मत करो, अपने ही चश्मों को बदलने की चेष्टा करो, जिन चश्मों के कारण सामने वाले के दस रूप दिखाई देते हैं ।

मैं जैन भी हूँ, हिन्दू भी हूँ, बौद्ध भी हूँ, मुसलमान भी हूँ, ईसाई भी हूँ, क्योंकि मैंने हर धर्म से अच्छी बातों को सीखा है, इसलिए हर धर्म के मौलवी, पादरी, संत-ज्ञानी हर एक से मिल लेता हूँ, सब मुझसे मिल लेते हैं ।

गीता का सार यह है कि व्यक्ति स्थितप्रज्ञ, अनासक्त और जीवनमुक्त बने । गीता का यह संदेश क्या जैनों को अपनाने की मनाही है ? क्या यह प्रेरणा महावीर और बुद्ध ने नहीं दी है ? क्या यह शिक्षा औरों के लिए प्रेरणा नहीं बन सकती ? जैन धर्म कहता है कि मनुष्य वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह बने । क्या यह धर्म केवल जैनों के लिए ही है, औरों के लिए नहीं है ? ज़रा मुझे बताएं कि वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह तथा स्थितप्रज्ञता, अनासक्ति, जीवनमुक्ति में कहाँ-कौनसा विरोध है ? बौद्ध धर्म कहता है कि मनुष्य शीलवान, प्रज्ञावान और समाधिवान बने । क्या ये शील, समाधि और प्रज्ञा—केवल बौद्धों के लिए ही हैं, औरों के लिए नहीं हैं ? प्रेम और करुणा से अभिभूत होकर औरों की सेवा करना क्या यह केवल ईसाइयों के लिए ही नसीहत है ? यदि मैं सेवा के लिए आगे आऊँ, तो ज़रूरी नहीं कि मेरे शरीर पर एक पादरी का चोगा हो ही । हर मनुष्य को सेवा करने का पूरा-पूरा हक़ है, फिर तुम चाहे जिस धर्म के क्यों न हो ।

जात-पाँत को भुलाकर सामाजिक समता को जीने की बात इस्लाम ने कही है । यही बात महावीर, बुद्ध, गांधी और रामकृष्ण परमहंस ने भी कही है । सारे घाट अलग-अलग ही क्यों न हों, वे सारे गंगा में ही उतारेंगे । धर्म के सारसूत्रों

में कहीं कोई फर्क नहीं होता, प्रक्रियाएँ, पद्धतियाँ बदल सकती हैं। जो परमात्मा को स्वीकार करता है, हर उस आदमी के लिए परमात्मा की प्रार्थना खुली है। शब्द बदल जायेंगे, भाषाएँ बदल जायेंगी, मगर उससे प्रार्थना के भाव नहीं बदलते। परमात्मा कभी शब्दों में नहीं जीते। उनका स्थान तो मनुष्य की भावनाओं के मन्दिर में होता है। इसी कारण मेरे लिये सारे धर्मों का सम्मान है, सारे धर्मों की अच्छी एवं आदर्श बातों के लिए इज्जत है।

मैं चाहता हूँ कि हर आदमी के अन्तर्हृदय में हर धर्म और हर धर्म की अच्छी बातों के प्रति आदर का भाव पनपे। माना आप राम के उपासक होंगे, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि जब मस्जिद के पास से गुजरो, तो अपनी छाती को चौड़ा करके, सिर को अकड़ के मारे ऊँचा रखते हुए गुजरो। ऐसे ही कोई मन्दिर मिलता है और मस्जिद का आदमी भले ही मन्दिर को न माने, मगर उस मन्दिर के सामने अकड़कर चलने का हक कभी उसका खुदा या पैगम्बर नहीं दे सकता। सबका सम्मान करो, सबका अदब करो, सबसे अच्छी बातों को स्वीकार करो। एक सही निगाह लेकर आदमी गलत जगह भी पहुँच जायेगा, तो वह वहाँ से भी कोई आत्मप्रेरणा लेकर बाहर निकलेगा और गलत नज़र के साथ तुम मन्दिर और मस्जिद में भी चले जाओगे, तो वहाँ भी चित्त चंचल हो जायेगा। सब कुछ आप पर निर्भर करता है।

घाटों को कभी मूल्य मत दो, मूल्य हमेशा नदी में उतरने को दो, महत्त्व जीने को दो, चलने को दो। बैठने से कोई आदमी नहीं पहुँचेगा। वेद कहते हैं—चरैवेति-चरैवेति ! तुम चलो, तुम जीयो, तुम आगे बढ़ो। तुम्हारा आगे बढ़ना ही तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करेगा। यह बात केवल मैं ही नहीं कह रहा हूँ, वरन् हजारों साल पहले गीता ने भी यही शंखनाद किया कि चाहे तुम जिस मार्ग से चलो, हर मार्ग मुझ तक ही पहुँचाएगा। दुनिया में इतनी महान् बात करने वाले दो ही व्यक्ति हुए हैं, पहला आदमी कृष्ण और दूसरा व्यक्ति महावीर।

महावीर ने अनेकांतवाद की स्थापना की और कहा कि हर आदमी की बात में सच्चाई हो सकती है, हर धर्म में अच्छाई हो सकती है। माना एक आदमी चोर है। यह उसका अवगुण है, लेकिन वह बांसुरी बजाना जानता है, यह उस आदमी का गुण है। अगर एक पक्ष पर ही ध्यान दिया कि यह आदमी चोर है, तो उसके जीवन में एक मेघ-मल्हार, राग दीपक छेड़ने की जो खासियत है, तुम उससे महरूम

रह जाओगे, वंचित रह जाओगे। दुनिया में कोई भी आदमी पूर्ण नहीं है, लेकिन एक बात तय है कि दुनिया के निम्न से निम्न, घटिया से घटिया समझे जाने वाले आदमी में भी कोई-न-कोई खासियत ज़रूर है। अपनी दृष्टि को इतनी महान् बनाओ कि तुम्हें उस व्यक्ति का वह गुण दिखाई दे जाये, उसके अवगुणों, उसके तमस पर तुम्हारी नज़र ही न पड़े। हमने अगर उसके जीवन के तमस को देखा, चर्चा-परिचर्चा की, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम भी उसी अंधेरे से घिरे हैं, तभी तो हमें अंधेरा ही नज़र आया। अपनी दृष्टि को निर्मल बनाओ, प्रकाशवान बनाओ।

महावीर ने अनेकांत की बात कही कि तुम्हारी बात में भी सच्चाई है और उसकी बात में भी सच्चाई है। महावीर, बुद्ध या कृष्ण की बातों के भीतरी मर्म को न समझने वालों ने बातों ही बातों में बात का बतंगड़ बना डाला और उसने झगड़ों का रूप ले लिया। मेहरबानी करके सही बातों को लेकर झगड़े न करें, क्योंकि जितनी हानि साम्प्रदायिक व संकीर्ण विचारधारा के चलते हुई है, उतनी किसी से नहीं हुई। तभी तो कृष्ण कहते हैं कि तुम प्रभुता के मार्ग के चयन में क्यों झगड़ते हो? तुम जिस किसी मार्ग से चलोगे, वह मुझ तक ही पहुँचायेगा।

जब भगवान के परम भगवत स्वरूप का दर्शन कर लिया जाता है, तो अहोभाव के साथ अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि आपने मुझे अपना विराट स्वरूप दिखाया और कहा कि यह विराट स्वरूप हर किसी को देखने को नहीं मिलता, तो मैं आपसे एक बात पूछूंगा कि आपको पाने के लिए, आपको उपलब्ध करने के लिए कौन-सा मार्ग सरल से सरलतम है? तब कृष्ण अपनी ओर से जो बातें कहते हैं, वे बातें ही गीता के बारहवें अध्याय में समाहित हैं।

कृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह के मार्ग से चल रहा है, तो भी वह मुझ तक पहुँच रहा है। अगर कोई व्यक्ति स्थितप्रज्ञ, अनासक्त और जीवन-मुक्त होकर मेरी ओर आ रहा है, तो भी वह मेरी ओर ही बढ़ रहा है। कोई शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान होकर परम मार्ग पर चल रहा है तो भी वह मेरी ओर ही आ रहा है। कोई व्यक्ति प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर मानवता और प्राणीमात्र की सेवा के लिए स्वयं को समर्पित कर रहा है, तो वह मेरी ही पूजा कर रहा है। अगर कोई व्यक्ति जात-पांत को भुलाकर सामाजिक समता को जीते हुए मेरी इबादत कर रहा है, तो वह वास्तव में मुझ तक ही पहुँच

रहा है। मार्ग अलग-अलग, घाट अलग-अलग, मगर पहुँचना सबको एक जगह ही है। मंजिल एक है, मंजिलों में कोई फ़र्क नहीं, शिखरों में कोई भेद नहीं। तुम पश्चिम से पहुँचो या पूर्व से, उत्तर से पहुँचो या दक्षिण से, इसके लिये स्वतंत्र हो। जो मार्ग रुच जाये उसे ही स्वीकार कर लेना, बस ध्यान इतना ही रखना कि कहीं घाटों को मूल्य न मिल जाये, कहीं मंजिल गौण न हो जाये।

तुम जैसे-जैसे आगे बढ़ोगे, प्रकाश तुम्हारा सहचर बनकर साथ आता जायेगा। एक आदमी को शिखर तक पहुँचना था। उसने सोचा गर्मी की ऋतु है, इसलिए सुबह-सुबह रवाना हो जाऊँ, ठंडक में पहुँच जाऊँगा, वह अलसुबह ही रवाना हो गया। पर्वत की तलहटी तक तो प्रकाश की व्यवस्था थी, सो वहाँ तक भय नहीं था, लेकिन जैसे ही तलहटी के पास पहुँचा और पहाड़ की तरफ नज़र डाली, तो पूरा पहाड़ ही अंधकार में घिरा पाया। वह आदमी घबरा गया और कंदील को एक तरफ़ रखकर वहीं बैठ गया। उसकी हिम्मत ही नहीं हुई कि वह आगे जाये। आगे तो अंधकार ही अंधकार था।

संयोग से मेरा भी उस रास्ते से गुजरना हुआ। मैंने देखा कि वह युवक प्रमादवश, भयवश वहाँ बैठा है। मैंने उससे पूछा, तो उसने कहा कि 'वह शिखर पर जाना चाहता है, पर अंधेरे से डर लगता है। मैंने कहा—कैसा डर ! तुम्हारे पास तो कंदील भी है। उसने कहा कि कंदील का प्रकाश तो पच्चीस फीट तक जाता है। पहाड़ इतना लम्बा चौड़ा है। मैं वहाँ पहुँचूँगा कैसे ? इतना विस्तृत अंधकार। मैंने कहा 'बुद्धू, तू चल तो सही। जैसे-जैसे तू आगे बढ़ेगा यह प्रकाश भी तेरे साथ बढ़ता जायेगा। अगर ऐसे ही बैठे रहा, तो कुछ भी न मिलेगा।

तुम चलो, प्रकाश अपने आप तुम्हारा साथ निभायेगा। जिस मार्ग की ओर तुमने कदम बढ़ाये हैं, उससे डगमगाओ मत। मैं यह नहीं कहूँगा कि अमुक धर्म को छोड़ो या अमुक धर्म को स्वीकारो। मैं तो यही कहूँगा कि तुम जिस धर्म के अनुयायी हो, उसी धर्म की अनंत गहराइयों में डूबो। यह डूबना ही पहुँचाएगा, बैठना नहीं पहुँचाता। महावीर कहते हैं—उट्टिए नो पमायए। अर्थात् जिस कर्तव्य-मार्ग पर तुमने कदम बढ़ा दिये हैं, वहाँ फिर प्रमाद मत करो। विचलन की काई तो आयेगी, मगर तुम न डिगो। कभी देखो कि एक मुसलमान अपनी इबादत के प्रति कितना चुस्त है। हम तो सोच लेंगे कि सुबह पूजा-पाठ नहीं की, तो दोपहर में कर लेंगे, दोपहर में न की तो शाम को कर लेंगे और अगर शाम को

न हो पाई तो कल सुबह कर लेंगे ।

मैं यहाँ कक्ष में बैठा रहता हूँ तो पाता हूँ कि मुसलमान नमाज़ अदा करने में समय के कितने पाबंद, अपनी इबादत के प्रति कितने नियमित हैं ये लोग ! एक मिनट का भी हेर-फेर नहीं करते । तभी, चलती ट्रेन हो या युद्ध की घड़ी, उस दौरान भी इबादत में खलल नहीं पड़ती । जिस धर्म को उन्होंने स्वीकार किया है, उसके प्रति इतने चुस्त हैं कि अगर रमज़ान है, तो एक बूंद पानी पीना भी उनके लिए पाप है और मज़ाल है कि थूक का एक अंश भी वे निगल जायें ।

जोधपुर की ही बात है कि यहाँ 'खांडा फलसा' में एक तरफ़ मन्दिर है और दूसरी तरफ़ मस्जिद है । यह बात उस समय की है, जब यहाँ अंग्रेजों का राज था । उस समय दोनों समुदायों के बीच तनाव था । तनाव का कारण यह था कि जिस समय मंदिर में आरती होती थी, उसी समय मस्जिद में नमाज़ का वक्त होता था । बात कोर्ट-कचहरी तक पहुँची, लेकिन कुछ भी समाधान नहीं निकला । तब कचहरी के बाहर मसले को हल करने की दृष्टि से न्यायाधीश ने व्यक्तिगत दिलचस्पी ली ।

न्यायाधीश मंदिर में पहुँचा और आदेश दिया कि आरती शुरू की जाये । आरती शुरू की गई । आधी आरती ही हुई होगी कि अंग्रेज न्यायाधीश ने कहा, "ठीक है, ठीक है, हम समझ गये । आरती को रोक दो, लोग बीच में ही रुक गये । न्यायाधीश मस्जिद में भी पहुँचा । मस्जिद में पहुँचकर उन्होंने कहा कि अपनी अज्ञान अता करो । उन्होंने अज्ञान शुरू की । आधी अज्ञान ही हुई होगी कि न्यायाधीश ने कहा—ठीक है, ठीक है, हम समझ गये । अज्ञान रोक दो । मस्जिद में इबादत करने वालों ने कहा कि अज्ञान और नमाज़ बीच में नहीं रुक सकती, चाहे फैसला हमारे पक्ष में जाये या न जाये । तब न्यायाधीश ने यह फैसला दिया कि चूँकि मन्दिर की प्रार्थना बीच में रोकी जा सकती है मस्जिद की अज्ञान नहीं, इसलिए आरती का समय आगे-पीछे किया जाये ।

मैंने इस संदर्भ का सिर्फ़ इसलिये उपयोग किया है, ताकि जिस नियम, जिस मार्ग पर हम आगे बढ़ रहे हैं, उस मार्ग के प्रति हमारी पूरी निष्ठा और आस्था हो । डगमगाते हुए मन से अगर किसी भी मार्ग पर चले, तो मंजिल तक नहीं पहुँच पाएंगे । एक निष्ठा, एक रस, एक भाव, एक लक्ष्य के साथ मार्ग पर बढ़ोगे

तो वह मार्ग फल प्रदान करेगा, हमें मंजिल के करीब ले जायेगा । ये बातें मैं सिर्फ़ इसलिए कह रहा हूँ कि हमारे अन्तर्मन में धर्म का जो मार्ग है, जो धार्मिकता है, उसके प्रति हमारी पूरी आस्था, श्रद्धा और निष्ठा पैदा हो, ताकि हम सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते, हर समय अपने लक्ष्य को अपने मन में, हृदय में रखें । ऐसा करने के लिए ही भगवान कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्त उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

भगवान कहते हैं—मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रद्धा से मुझ परमात्मा को भजते हैं, वे योगियों में भी उत्तम योगी हैं और वे मुझे बहुत प्रिय हैं ।

कृष्ण के लिए भक्त भी योगी है । यह गीता का बड़ा कीमिया सूत्र है जो योग और भक्ति के बीच समन्वय स्थापित करता है । सूत्र का पहला चरण योग की बात करता है और दूसरा चरण भक्ति की, श्रद्धा की । भक्ति हो मगर मनोयोग पूर्वक । चंचल मन से भक्ति कैसे करोगे । भजन कैसे गाओगे । हाथों में बजे खड़ताल, कंठ में हो भगवद् नाम, पर मन भगवान की बजाय भागवान को याद करे !

इसीलिए कृष्ण सर्वप्रथम मन की एकाग्रता पर जोर देते हैं । अगर व्यक्ति का मन ही तन्मय नहीं है, एकाग्र नहीं है, तो शरीर की सारी गतिविधियाँ तो प्रभावित होंगी ही । अगर मन साफ़-सुथरा है, तो आँखें भी साफ़-सुथरे रूप को देखेंगी । मन अगर विकृत है, तो ये आँखें भी विकृत चीजों को ही देखेंगी । मन अगर निर्मल है, तो कान भी सही शब्दों को सुनेंगे । मन अगर समत्व-योग में स्थित है, तो भोजन चाहे जैसा आ जाये, वह बड़े प्रेम से स्वीकार करेगा । मन अगर शांत और सौम्य नहीं है, तो सारी गतिविधियाँ बिगड़ी हुई होंगी । सब कुछ आखिर मन पर ही तो आकर केन्द्रित होता है ।

मन के बहकावे में अगर रहे, तो मन कभी भी आपको शांति नहीं दे पायेगा । मन ख्वाब तो जन्त के दिखायेगा, लेकिन धकेलेगा जहन्नुम में । जो लोग भक्ति की धार में बहना चाहते हैं, उनके लिए पहली नसीहत यही है कि वे अपने मन की बैठक को बदलें । अगर कोई व्यक्ति घर में आता है, तो हम उसे बैठने को

कहते हैं। यदि वह व्यक्ति नहीं बैठे, तो इसका एक कारण यह भी होगा कि जो स्थान आपने उसके लिए तय किया है, वह स्थान उसके योग्य न हो। इसी तरह अपने जिस मन में हम परमात्मा का आह्वान करते हैं, वह मन अभी इस स्थिति में नहीं है कि भगवान आकर इसमें अन्तर्विहार करे।

कोई मुझसे अगर पूछे कि सतयुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग और कलयुग में क्या फ़र्क आपने देखा, तो मेरी समझ से मनुष्य जैसा आज है, वैसा ही पहले भी था, जैसा पहले था, वैसा ही आज भी है। अगर फ़र्क आया है, तो एकमात्र इस बात में कि मनुष्य के मन के परमाणु इतने अधिक विकृत हो चुके हैं कि उसका मन अब मन्दिर कहलाने योग्य नहीं रहा। शरीर पावन था और पावन है, फ़र्क आया है, तो हमारे मन के भावों में फ़र्क आया है, मन के संवेगों में, उद्वेगों में, विचारों और विकल्पों में फ़र्क आया है।

जोधपुर के महाराजा सरदारसिंह के समय की बात है। जैसे आज लोग कहते हैं कि ज़माना बदल गया है, उसी तरह उस समय भी लोग यही बात कहते थे ज़माना बदल गया है, ज़माना बदल गया है। यह सुनते-सुनते राजा के कान पक गये। आखिर राजा ने सोचा कि ज़माने में ऐसा क्या बदल गया है? उसने सारे सभासदों को इकट्ठा किया और उनसे यही प्रश्न किया, लेकिन सभी सभासद निरुत्तर। आखिर कहे, तो क्या? राजा ने घोषणा की कि मुझे तीन दिन के भीतर इस प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिये। तीसरा दिन भी आया। राजा ने सभी सभासदों को इकट्ठा किया और यही प्रश्न उनके सामने रखा कि ज़माने में क्या बदला है, जो लोग बार-बार यही रट लगाये हुए हैं।

दरबार में सन्नाटा-सा छाया था कि आखिर राजा को क्या जवाब दिया जाये। किसी को कुछ नहीं सूझ रहा था। इतने में ही देखा कि प्रधान ठाकुर का भंगी दरबार में झांक रहा है। राजा ने उससे झांकने का कारण पूछा, तो उसने कहा—हुजूर, मेरे सारे गुनाह माफ़ हों, तो मैं इस प्रश्न का जवाब दूँ। राजा ने आज्ञा दे दी। उसने कहा—मैं कोई पढ़ा-लिखा तो हूँ नहीं, लेकिन मैं अपने जीवन की बात कह रहा हूँ। आज मैं पैसठ वर्ष का हो गया हूँ। मेरे सिर के बाल सफ़ेद हो गये हैं। यह बात आज से तीस-चालीस साल पहले की है, जब मेरी झोंपड़ी के सामने नदी में बाढ़ आई थी। मेरी माँ ने उसमें बहती हुई एक युवती को देखा। माँ ने मुझसे उस युवती को बाहर निकालने के लिए कहा। मैं उसे बहती नदी से

बाहर खींच लाया। वह बेहोश थी। हमने मिलकर उसके शरीर से पानी निकाल दिया। मैंने उसके आसपास आग जला दी, ताकि गर्माहट से उसकी ठंडक दूर हो जाये।

उसने कहना जारी रखा कि हमारी झोंपड़ी छोटी थी, इसलिए हम सबको सटकर ही सोना पड़ा। हम दोनों हमउम्र थे। मगर मेरे मन में यह विचार, यह दुर्विकल्प पैदा नहीं हुआ कि इस लड़की के शरीर पर इतना गहना है, यह मैं चुरा लूं या इसके साथ चाहे जो कर लूं। आज मैं पैसठ वर्ष का हो गया हूँ। आज से पैतीस साल पहले पाप नहीं जगा, लेकिन आज कहीं पायल भी बज जाये, तो मन चंचल हो उठता है। नजर ताक-झांक करने लग जाती है। महाराज, यह ज़माना बदल गया है। बाहर से कुछ भी नहीं बदला है, मगर भीतर से बहुत कुछ बदल गया है।

यह बात मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ। ज़माना बदल गया है, लेकिन बदला क्या है, इससे हम अनजान हैं। मन में रहने वाला पुण्य बदल चुका है। अब उसकी जगह पाप आ चुका है। एक समय था जब यह समझा जाता था कि जब तक हमारे द्वार पर कोई याचक आकर दो रोटी न ले जाये, तब तक हमारा भोजन करना पाप है। आज स्थितियाँ बदल गई हैं। अब तो याचक को अपशकुन समझा जाता है।

सारी रामकहानी मन की है। मनुष्य का पहला मन्दिर उसका मन ही होना चाहिये। अपने मन को पड़तालो कि मन की स्थिति क्या है? मन को पड़तालने के दो ही मार्ग हो सकते हैं। पहला, ध्यान का कि ध्यान में बैठे और मन में किस तरह के विचार, किस तरह विकल्प उठ रहे हैं, उनको देखा, ईमानदारी से उनको जाना और उनको प्रतिदिन कलमबद्ध कर लिया। यह तुम्हारी अपनी आत्मकथा होगी, जो किसी टॉल्सटॉय की आत्मकथा से अधिक प्रभावी होगी। कुछ अरसे बाद जब उसे पढ़ोगे, तो ताज्जुब करोगे कि मेरे मन में ऐसा कचरा। जीवन का परिवर्तन ऐसे होता है। अपने प्रति जागरूक होने से जीवन में बदलाव आता है। ध्यान के द्वारा अपने मन को पहचानो।

दूसरा तरीका यह होगा कि रात को अगर सपना आ रहा है, तो उस सपने के प्रति सजग बनो, उसके प्रति ध्यान दो, क्योंकि कोई भी सपना, सपना ही नहीं

होता है, वरन् वह मन का ही प्रतिबिंब होता है। मन को पहचानने के लिए वह सपना बड़ा मददगार हो सकता है, इसलिए दो मार्ग मैंने आपको बताए हैं।

मन की निर्मलता को जीवन की निर्मलता समझो। मन के द्वारा अगर पाप हो रहा है, तो समझो पाप जारी है। शरीर के द्वारा, व्यवहार के द्वारा जगत में हम पाप नहीं करते, मगर मन दिन-रात पाप करने में लगा हुआ है। उसकी निर्मलता और उसकी पावनता के लिए ही पहला सूत्र दूंगा कि अपने मन का उद्देश्य बदलो, अपने जीवन का जो ध्येय है, यह पहचानो कि ध्येय कितना सार्थक है और कितना व्यर्थ है। असार्थक उद्देश्यों को निकाल फेंको। यह मन की बैठक बदलने के लिए सबसे अच्छा सूत्र होगा। अपने ध्येय के प्रति पूरी तरह श्रद्धान्वित बनो।

दूसरा सूत्र यह दूंगा कि मन में जो भी भाव उपजते हैं, उनको करने से पहले उनके प्रति यम-नियम-संयम को आचरण में ले आओ। जीवन में संतुलितता, एक नियमितता, एक परिमितता होनी चाहिये। न फ़ालतू का बोलो, न फ़ालतू का खाओ। ऐसा नहीं कि सदोष वस्तुओं को ज्यादा मत खाओ, वरन् निर्दोष वस्तुओं को भी ज्यादा मत खाओ। जितनी ज़रूरत हो उतना ही करो, चाहे वह व्यवसाय हो या काम हो। न ज़रूरत से ज्यादा सोओ और न ज़रूरत से ज्यादा जागो। बोलो, लेकिन इस तरह कि तुम्हारा बोलना भी उपहार देना हो जाए। बोलो, लेकिन बड़े प्यार से, बड़े माधुर्य के साथ बोलो। बोलना भी अहिंसा का एक आचरण बन जाये, बोलना भी परमात्मा के चरणों की सेवा बन जाये। बोलो ऐसे कि जैसे टेलीग्राम दे रहे हो, बड़े नपे-तुले शब्दों में। यह एक संयम की बात है। परिमितता लाने की बात है।

तीसरा और अन्तिम सूत्र यह दूंगा कि सबके प्रति एक उदार दृष्टि लाओ, एक समदृष्टि, एक समरसता लाओ। एक ऐसी उदार दृष्टि कि सबमें गुण ही गुण दिखाई दें। दृष्टि में एक मांगल्य-भाव चाहिये, एक ऐसी मंगल-मैत्री चाहिये कि हम जिसके साथ भी आयें-जायें, उठें-बैठें, हमारा उठना-बैठना भी परमात्मा के मन्दिर की परिक्रमा हो जाये और हमारा खाना-पीना भी भगवान को भोग चढ़ाना हो जाये।

कृष्ण कहते हैं कि मन को एकाग्र करके मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए योगीजन, भक्तजन मुझे प्रिय हैं। भक्त को भगवान प्रिय होते हैं और भगवान

को भक्त । भक्त भगवान को जीता है, भगवान भक्त में वास करते हैं । तन्मय मन से भजो । भजन यानी जिस कर्म से, चिन्तन से, सेवा से, गुणगुनाने से वृत्ति भगवत्तम्य बने, भगवद् स्वरूप बने, वही भजन है ।

जो कुछ करो, उस हर करने को अपना भजन बना दो । तुम हर कार्य में भगवान को, परमात्मा को प्रतिष्ठित कर दो, भगवान तुम में प्रतिष्ठित हो जाएंगे । तुम्हारे हृदय के मन्दिर में उसकी शय्या लग जाएगी । तुम स्वयं वृंदावन के धाम बन उठोगे । तुम्हारी अन्तर की आंखों में उसकी रासलीला होगी । यानी तुम्हारे भीतर एक ऐसा अवतार होगा, जो तुम्हें कृतपुण्य करेगा । तुम्हें अहोभाव और आनन्दभाव से भरेगा ।

साकी की प्याली पीकर
खुद मयखाना हो गया हूँ
पीकर शराबे मुर्शिद
मैं खुद मैखाना हो गया हूँ ।

पीया तो प्याला ही, मगर हो गये मैखाना । लिया तो चुल्लूभर लेकिन हो गये सागर । थे तो बीज, मगर हो गये बरगद । यानी तब बूंद, बूंद न रही, बूंद सागर हो गयी ।

भगवान को भक्त प्रिय हैं, योगी प्रिय हैं । हर बूंद सागर की ओर चले । बूंद तुम हो, सागर गंतव्य है । बूंद चले सागर की ओर, विराट की ओर । पहले बूंद गिरे सागर में, फिर तो सागर खुद ही उतर आएगा बूंद में । बूंद का सागर में मिलना ही एक प्रेमी भक्त-योगी का धर्म है और सागर का बूंद में समा जाना ही पूर्ण हो जाना है, मोक्ष है ।

आज का यही संबोधन है ।



हों निर्लिप्त, ज्यों आकाश

हमारा जीवन हमारे लिए जितना प्रकट है, उतना ही अप्रकट भी है, जितना दृश्य है, उतना ही अदृश्य है, जितना ज्ञात है, उतना ही अज्ञात है। जो प्रकट है, वह तो जीवन का दसवां हिस्सा ही है, शेष तो अप्रकट है। जितना दृश्य है, वह तो केवल सागर में गिरी हुई बर्फ के शिलाखंड की तरह है, ऊपर तो केवल थोड़ा-सा हिस्सा दिखाई देता है और जितना भीतर है, वह बाहर के हिस्से से बहुत ज्यादा है। जितना हमें ज्ञात हुआ है, वह ज्ञात तो अत्यन्त न्यून है, पर जो अज्ञात है, उसकी थाह पाना कठिन है। जो प्रकट है वह स्थूल है, जो अप्रकट है वह सूक्ष्म है। प्रकट अप्रकट की अभिव्यक्ति है; जो अप्रकट है, वह प्रकट का छिपा हुआ रूप है।

जीवन के नाम पर मनुष्य के हाथ में केवल कागज़ के फूल ही लगे हैं। अपने फूल तो उसके हाथ तब तक नहीं लग सकते, जब तक वह स्वयं ही फूल की तरह खिल नहीं जाता है। फूलों का सान्निध्य पाने के लिए जरूरी है कि व्यक्ति स्वयं भी फूलों की तरह प्रफुल्लित और प्रमुदित हो जाये। मेरे हाथ में किसी व्यक्ति ने कागज़ के फूल सौंपे। मैंने उन फूलों को देखा, लेकिन मुझे सिवाय दृश्य के उसमें कुछ भी दिखाई नहीं दिया। तभी मेरी नज़र मेरे पास में पड़े हुए एक गमले पर गई। उसमें वैसे ही गुलाब के फूल खिले हुए थे। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना

था कि जो कागज़ का गुलदस्ता मेरे हाथों में सुपुर्द किया गया था, वह केवल दृश्य था, लेकिन पौधे में खिले हुए फूलों में केवल दृश्य ही दिखाई नहीं दे रहा था, वह अदृश्य भी था, जो कागज़ के फूलों में नहीं हो सकता ।

मेरे संबोधन उस अदृश्य के लिए हैं । दृश्य तो हर किसी की दृष्टि में होता है । मैं तो आपको अथाह गहराई तक ले जाना चाहता हूँ, जो हर दृश्य के पार होती है, जो हर दृश्य का दृष्टा और ज्ञाता होता है । असली फूलों तक पहुँचना है, तो असली फूलों की तरह खिलना जरूरी है । कागज़ के फूलों की तरह ज़िंदगी जी भी ली तो ज़िंदगी के नाम पर हमने लाश को ही ढोया है । हमने केवल शव को जीया है, शिवत्व को नहीं जी पाये ।

ज़िंदगी जिंदादिली का नाम है,
मुर्दा दिल क्या खाक जीया करते हैं ।

जिन मनुष्यों के पास अपनी कोई आत्मा ही नहीं है, उस आदमी का जीवन शव से कैसे पृथक कर पाओगे ? जीवन तो जीवंतता का नाम है, सजगता का नाम है, प्राणवत्ता का नाम है, आनन्द-भाव का नाम है । मुर्दे बनकर जी भी लिये तो उसे कोई उपलब्धि नहीं कही जा सकती । तुम वंचित बनकर जीये ।

जीवन केवल शरीर ही नहीं है । जो दृश्य भाग है, वह शरीर है, लेकिन जीवन केवल शरीर नहीं है । जीवन शरीर और आत्मा दोनों का संयोग है, नदी-नाव का संयोग । नदी का भी मूल्य और नाव का भी मूल्य, शरीर का भी मूल्य और आत्मा का भी मूल्य । न शरीर को गौण किया जा सकता है और न आत्मा को ही गौण किया जा सकता है । शरीर हो हेय, तुच्छ या निस्सार मत समझो, क्योंकि यह शरीर सीधा तुम्हें प्रकृति और परमात्मा से मिला है । जैसे मन्दिर में पुजारी द्वारा दिये जाने वाले प्रसाद को तुम श्रद्धा से स्वीकार करते हो, शीश तक ले जाकर स्वीकार करते हो । शरीर परमात्मा का तुम्हें महान् प्रसाद है, अनुग्रह का फूल है । प्रकृति और परमात्मा से मिले हुए, उसके इस प्रसाद को बड़े प्यार से, बड़े अहोभाव से, बड़ी श्रद्धा से स्वीकार करो । इसे मैल समझकर, माटी समझकर, मृत्यु की ओर बढ़ने वाला राहगीर समझकर, इसको तुच्छ मत कहो । इसका भी अपना मूल्य, अपना अर्थ है ।

शरीर तो एक सौगात है, एक उपहार है । शरीर है, तो ही जीवन और जगत

के व्यवहार हैं। हम क्यों समझें कि शरीर माटी से निर्मित है। निश्चय ही शरीर माटी है, लेकिन हम इस माटी को हेय नहीं कह सकते, क्योंकि इस माटी में एक दीये का रूप लेकर ज्योति को धारण और प्रकट करने का सामर्थ्य भी है। यह माटी ही एक मन्दिर का रूप लेती है और इसी माटी के मन्दिर में उस मन्दिर का देवता रहता है। एक बात तय है कि हम देवता के जितना मूल्य इस मन्दिर को नहीं दे सकते। मूल्य मन्दिर का भी है और उसमें रहने वाले देवता का भी है। ज्योति का तो मूल्य है ही, जिस डगर पर जाकर यह ज्योत जल रही है, जिस पात्र में यह ज्योत मुखरित हो रही है, उस डगर, उस पात्र का भी मूल्य है। इसको अगर निर्मूल्य समझोगे, तो अपने आपसे प्रेम नहीं कर पाओगे, अपने आपको मूल्य न दे पाओगे।

गीता तो कहती है कि देह और आत्मा दोनों ही भगवान के अवदान हैं। दोनों ही कृष्ण की कृपा के ही परिणाम हैं। देह अगर शब्द है, तो आत्मा उस शब्द में से प्रकट होने वाला अर्थ है। काया पुष्प है, तो आत्मा उस पुष्प में से प्रकट होने वाली सुवास है। यह शरीर अगर वीणा है, तो आत्मा उस वीणा में से झंकृत होने वाला संगीत है। यह शरीर तो तुम्हें परमात्मा ने दिया है, यह जन्म तुम्हें प्रकृति से मिला है। इसको बड़े धन्यवाद के साथ स्वीकार किया जाये। अहोभाव से, मुस्कान से, साधुवाद से भरकर।

जब तक यह जीवन है, तब तक बड़े प्रेम से, बड़े भक्तिभाव से, बड़े अनासक्ति के दृष्टिकोण से इस जीवन को जीओ। जीवन के अन्तिम चरण में जब प्रकृति हमारे द्वार पर दस्तक देने को आये, इस काया को वापस लेने को आये, तो बड़े ही अहोभाव से इस काया को परमात्मा को लौटा देना। जिस थाली को बजाते हुए आपने संतान को स्वीकार किया है, उसी थाली को बजाते हुए देह परमात्मा को समर्पित कर देना। समर्पित न करो, तब भी मौत तो लेकर ही जायेगी, पर मौत ले जाने को आये, उससे पहले ही तुम अपने को समर्पित कर देना। परमात्मा को कुछ नहीं चाहिये, उसे तो केवल समर्पण चाहिये। आत्मा को भी समर्पित कर दो और जो काया सर्प की केंचुली की तरह नीचे गिर रही है, वह भी उसे समर्पित कर दो। भौतिक पदार्थ भी उसे समर्पित कर दो और जीवन का आध्यात्मिक पदार्थ भी उसे सौंप दो।

मैंने सुना है : एक फ़कीर महिला, जिसने अपना जीवन ही परमात्मा को समर्पित कर दिया, अपने घर में झाड़ू निकाल रही थी । उसने घर का कचरा इकट्ठा किया और घर के बाहर पहुँची । उस महिला ने आसमान की ओर देखा, मुस्कुराई और कहा—‘लो भगवान, स्वीकार करो ।’ उसने वह कचरा आसमान की ओर फेंक दिया । उसके घर आया दूसरा संत चौंका । उस संत ने कहा—मैंने अब तक भगवान के श्रीचरणों में फूलों को चढ़ाते हुए तो देखा है, पर कचरे को चढ़ाते हुए नहीं देखा । फ़कीर महिला ने कहा—भगवान जो कुछ मुझे भेजता है, मैं वही उन्हें चढ़ा देती हूँ । वह अगर मेरे घर फूल भेजता है, तो फूल चढ़ाती हूँ, उसने अगर मेरे घर यह कचरा भेजा है, तो यह भी उसी को समर्पित है ।

दूसरे द्वारा भेजे जाने वाले फूल वहाँ तक पहुँचते हैं या नहीं, लेकिन उस कचरे को भगवान ले ही लेते हैं । लोग भले ही इस कचरे को कचरा मानें, पर भगवान जानते हैं कि इस कचरे में भी भक्ति की कितनी सुवास है । इस कचरे में भी श्रद्धा और प्रेम की कितनी रोशनी है । इस शरीर को बड़े प्रेम से स्वीकार करो और बड़ी ही निर्लिप्तता से इसे जीते हुए वापस उसे ही चढ़ा दो, उसे ही समर्पित कर दो । रात को सोते हो, तो सोते ही इस काया को भगवान के श्रीचरणों में समर्पित कर दो । अगर भगवान ने जीवन दिया है, तो अगले दिन भी वह संयोग जारी रखेगा और हम निर्लिप्तता से अपनी काया का दिनभर उपयोग करेंगे, रात होते ही फिर वही समर्पण, वही निर्लिप्तता ।

चदरिया, झीनी रे झीनी,
 राम-नाम रस भीनी, चदरिया झीनी रे झीनी ।
 अष्टकमल का चरखा बनाया,
 पांच तत्त्व की पूनी ।
 नौ-दस मास बुनन को लागे
 मूरख मैली कीन्ही, चदरिया झीनी रे झीनी ।
 जब मोरी चादर बन घर आई,
 रंगरेज को दीनी ।
 ऐसा रंग रंगा रंगरेज ने,
 लालो लाल कर दीनी, चदरिया झीनी रे झीनी ।

चादर ओढ़ शंका मत करियो
 दो दिन तुमको दीन्ही ।
 मूरख लोग भेद नहीं जाने
 दिन-दिन मैली कीन्ही, चदरिया झीनी रे झीनी ।
 भक्त प्रहलाद, सुदामा ने ओढ़ी
 शुकदेव ने निर्मल कीन्ही ।
 दास कबीर ने ऐसी ओढ़ी
 ज्यों की त्यों धर दीन्ही, चदरिया झीनी रे झीनी ।

मूर्ख लोग, मूढ़ लोग नहीं जानते कि काया की यह जो चदरिया है, यह परमात्मा ने क्यों दी है ? क्यों यह सौगात हमें समर्पित की है ? इस चदरिया को तो और भी कई लोगों ने ओढ़ा है । प्रहलाद ने, ध्रुव ने, शुकदेव ने, मीरा ने, चैतन्य ने, महावीर, बुद्ध और न जाने कितने-कितने पुण्य-पुरुषों ने इसे धारण किया है, लेकिन उनकी महानता यही थी कि उन्होंने काया को पाया, निर्लेप भाव से जीया और काया को छोड़कर मुक्त हो गये । मूर्ख आदमी ने काया को लिया और उसे ही जीया और मर गया ।

यह काया तो सौभाग्य की बात है, अहोभाग्य है । इस काया को हेय मत समझो, तुच्छ और नगण्य मत समझो । काया को अगर अपनी समझ ली, तो यह काया तुम्हारे लिये पाप है । अगर इस काया को परमात्मा का प्रसाद समझ लिया, तो यह काया आपको बहुत बड़ा अवदान है, पुण्य है, महान् कृत्य है । 'यह तन रब सच्चे का हुजरा ।' यह काया तो सत्य का साधना-कक्ष है ।

गीता का आज का अध्याय है—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग । एक ओर कृष्ण कहते हैं क्षेत्र और दूसरी ओर क्षेत्रज्ञ । सूत्र कहता है —

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
 एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
 यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
 सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

कृष्ण कहते हैं—वत्स, यह शरीर क्षेत्र है । जो इसे जानता है, जो इसमें रहता है, ज्ञानीजन उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं । जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के

कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा देह से लिप्त नहीं होती ।

कृष्ण कहते हैं कि यह शरीर क्षेत्र है और इसमें रहने वाली जो आत्मा है, वह क्षेत्रज्ञ है । तुम अपने आप में संपूर्ण क्षेत्र हो और तुम्हारे भीतर रहने वाली आत्मा संपूर्ण क्षेत्रज्ञ है । जैसे एक अकेला सूरज आसमान में रहकर सारे ब्रह्माण्ड को रोशनी देता है, ऐसे ही यह एक अकेली आत्मा संपूर्ण शरीर में प्रकाशित रहती है, संपूर्ण शरीर में चेतना को परिव्याप्त करती है । शरीर और आत्मा दोनों अलग-अलग तत्त्व, लेकिन दोनों के योग का नाम ही जीवन है और दोनों के संयोग के टूटने का नाम ही मृत्यु है, इसलिए मृत्यु बिखराव है और जीवन जुड़ाव है, खिलावट है । जैसे एक नारियल होता है, जिसकी संरचना कुछ हटकर, कुछ अलग होती है । नारियल के ऊपर जटा होती है, जटा के भीतर कवच या ठीकरी होती है । कवच के भीतर गिरी और गिरी के भीतर पानी होता है । नारियल को बजाओ तो पानी बजेगा, पर अगर पानी को सुखा डालो तो फिर गोटा बजेगा । जटा चढ़ी हुई है, कवच भी है, फिर भी एक अलगाव आ चुका है । शरीर और आत्मा में जब तक तादात्म्य बना रहेगा, तब तक हमारी स्थिति ठीकरी से लिपटी चोटी सी होगी, पर अगर शरीर से आत्मा का तादात्म्य टूट जाये, लेप से निर्लेप हो जाये तो पानी सूखा, वासना बिखरी और आत्मा अलग, शरीर अलग । ऐसा ही हमारा अपना जीवन है, जिसमें शरीर और आत्मा परस्पर घुले-मिले हैं, पर एक दूसरे को अलग, एक दूसरे को जुदा किया जा सकता है । जुदाई का अनुभव किया जा सकता है । महावीर और पतंजलि ने इसी को भेद-विज्ञान की संज्ञा दी है ।

मेरे जाने, शरीर शरीर है, आत्मा आत्मा । दोनों साथ, दोनों भिन्न । साथ का आनन्द भी लो और भिन्नत्व का बोध भी बरकरार, जीवित रखो । खुद को खुद से अलग देखो, देह से देही को भिन्न पहचानो और फिर देह को जीओ । फिर कोई खतरा नहीं है । तुम विदेह-जीवी हुए । ऐसा चैतन्य-जीवन ही, जीवन है, मुक्त जीवन है । जीवन को ऐसा ही धरातल चाहिये ।

तादात्म्य टूट जाये, तो अच्छा है, न टूटे, तो भी क्षेत्रज्ञ का, वीणा और संगीत का बोध तो जी ही सकते हो । आज का बोध, आज नहीं तो कल, तुम्हें मुक्त करेगा ।

चूँकि हर व्यक्ति के लिए तादात्म्य को तोड़ पाना संभव नहीं है, इसलिए मैं यह सूत्र दूँगा कि शरीर को शरीर जितना मूल्य दो और आत्मा को आत्मा जितना मूल्य दो। शरीर को अगर जरूरत से ज्यादा मूल्य दे दिया, तो या तो आप अव्वल दर्जे के भोगी हो जायेंगे या अव्वल दर्जे के तपस्वी हो जायेंगे। अगर भोगी हो गये, तो खूब खाओगे-पीओगे और अगर यह समझ लिया कि शरीर को सुखाना ही धर्म है, तो खूब तपस्या करोगे, दो-दो महीनों तक उपवास, छः-छः महीनों तक उपवास। क्यों इतनी ज्यादाती करते हो ?

आदमी उपवास इसलिए करता है, ताकि भोजन के प्रति रहने वाली लिप्तता, आसक्ति छूट सके, पर उपवास कर लिया और पारने वाले दिन उपवास की सारी खानापूर्ति कर डाली, तो उपवास की सार्थकता कहाँ रही ! होता यही है, जब उपवास करना है तो पहले दिन जम कर खाया जाता है। लोगों के हाथ से धर्म की समझ छूट चुकी है। उपवास करना है, जीवन की सात्विकता के लिए, शरीर की शुद्धि के लिए, इन्द्रियों के नियंत्रण के लिए। मन की स्वच्छता के लिए उपवास करो। उपवास स्वयं में वास करने की कला है।

दूसरी तरफ लोग कहते हैं कि कल मेरे फलां वार का व्रत था, आज फलां वार का व्रत है। लोग दिनभर खाते-पीते हैं और व्रत का व्रत। क्यों अपने आपको धोखा देते हो। कौन कहता है व्रत करो ? करना है, तो बड़े प्यार से, व्रत के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए व्रत करो। विरति से व्रत सार्थक होता है। खाने की इच्छा होती है, तो खा लो। जीभ को ललचा-ललचाकर, उसे रोककर व्रत करना ठीक नहीं है। ऐसा करना अच्छी बात नहीं है। शरीर के प्रति ज्यादाती नहीं, न भोग की दृष्टि से और न त्याग की दृष्टि से, क्योंकि शरीर सिर्फ साधन है, शरीर इस पार से उस पार लगने की एक नौका है और नौका का उपयोग इतना ही है कि तुम पार लग सको। नौका को सजाओगे-संवारोगे या घिसोगे तो क्या होने वाला है। नौका तो बस दुरुस्त होनी चाहिये, शरीर स्वस्थ होना चाहिये।

शरीर की जो आवश्यकताएँ हैं, उन्हें पूरा होने दो, लेकिन शरीर के विकारों में आत्मा को मत उलझाओ। इच्छाओं के बहकावे में मत आओ। इच्छाओं का नियमन किया जाना चाहिये। 'इच्छा निरोधस्तपः' इच्छाओं का निरोध करना ही तप है। शरीर का नहीं, इच्छाओं का निरोध करना तप है। जब कृष्ण क्षेत्र की बात करते हैं तो वे कहते हैं कि यह शरीर क्षेत्र है। मन, बुद्धि, अहंकार क्षेत्र हैं, लेकिन

तृष्णा, इच्छा, सुख-दुःख की संवेदना, चेतना का पिंड ये सब क्षेत्र के विकार हैं। कृष्ण चाहते हैं कि व्यक्ति निर्विकार बने। इसलिए तपस्या का संबंध शरीर से न जोड़ा जाये, वरन् मन में रहने वाली, मन में पलने वाली दुर्वासनाओं, दुर्विकारों से जोड़ो। मन की चंचलता को मनोगुप्ति से नियंत्रित किया जाये। शरीर के धर्मों से गुजरना भी पड़े, तब भी, आत्म-सजगता का प्रकाश हर हाल में साथ हो। अगर चल रहे हो, तो यह बोध रहे कि शरीर चल रहा है, मैं नहीं चल रहा हूँ, मैं तो स्थिर हूँ।

कृष्ण स्थितप्रज्ञ होने की ही प्रेरणा देते हैं। वे हमको स्थिर-बुद्धि की, समत्व-बुद्धि की दृष्टि प्रदान कर रहे हैं। पाँव चल रहे हैं, उन्हें चलता हुआ देखो; मन में अगर दुर्विचार उठ रहे हैं, तो उन दुर्विचारों को उठते हुए देखो। कोई गलत भाव पैदा हो जाये तो उससे पलायन करने की मत सोचो, वरन् उनको देखो, केवल उनसे अलग होकर देखो। तादात्म्य जुड़ा है तो पाप ही होंगे, पर अगर निर्लिप्तता बरकरार है, तो कोई पाप नहीं होगा। तुम जल में कमल के समान हुए। संसार में, फिर भी संसार के न होकर। ऐसा करके तुम संसार में रहकर भी संसारी न हुए, हर हाल में तुम्हारी आत्मा पूजनीय बनी रही। तुम्हारा सौन्दर्य, तुम्हारी सुवास सुरक्षित रही।

जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य को देखो। केवल बाह्य सौन्दर्य को ही सौन्दर्य मत समझो। जो लोग अपने भीतर के सौन्दर्य, भीतर के शिवत्व, भीतर के सत्य को न पूज पाये, वे ही लोग लिपिस्टिक-पाउडर के रूप में कृत्रिमता को मुंह पर लगाते हैं। अपने मेक-अप भरे चेहरे के पार देखो, तो ही तुम्हें सौन्दर्य की असली पहचान होगी। जब तक व्यक्ति भीतर के सौन्दर्य को नहीं पहचानता, तब तक उसके लिए शरीर का सौन्दर्य ही सौन्दर्य होता है। जब व्यक्ति भीतर के सत्य और सौन्दर्य को पहचानता है, तो बाहर का सौन्दर्य उसके लिए गौण हो जाता है, नगण्य हो जाता है, इसीलिए मैंने पहला सूत्र दिया कि शरीर को शरीर जितना मूल्य दो और आत्मा को आत्मा जितना।

दूसरा सूत्र मैं उन लोगों के लिए देना चाहूँगा, जो लोग शरीर से ज्यादा मूल्य आत्मा को देना चाहते हैं; जिन्होंने शरीर से अपने को अलग देखा है, शरीर के भाव को अपने से अलग देखा है। उनके लिए मैं यह बात कहना चाहूँगा कि शरीर को बिल्कुल ही मूल्य मत दो, सारा मूल्य आत्मा पर केन्द्रित करो। यह

दूसरा चरण है। पहला ही चरण यदि इसे बनाओगे तो फिसल जाओगे, क्योंकि पहला चरण संसार में रहते हुए संन्यास का चरण है और दूसरा पूरी तरह संन्यास का चरण है।

जब तुम देह को पूरी तरह निर्मूल्य मानो; सन्तान, व्यवसाय, समाज, राष्ट्र सभी निर्मूल्य हुए। शरीर को निर्मूल्य किया, तो इसी शरीर से उत्पन्न सन्तान भी निर्मूल्य हो गई, बेटे से हम संन्यस्त हो चुके। वही व्यक्ति संन्यस्त होगा, जो देह-भाव से मुक्त होगा। इसलिए मैं यह बात कह रहा हूँ कि शरीर से तादात्म्य को तोड़कर आत्मा को सर्वाधिक मूल्य दो। तादात्म्य ही दुःख, भटकाव और तनावों का कारण है, यही संसार का सेतु है। मुक्ति शरीर से नहीं, शरीर के प्रति रहने वाले तादात्म्य से मुक्ति होनी चाहिये। तो दूसरा सूत्र यह हुआ कि शरीर से ज्यादा मूल्य आत्मा को दो, क्योंकि शरीर यहीं छूट जायेगा, केवल तुम्हीं यहाँ से प्रस्थान करोगे।

मैंने सुना है : सिकन्दर अपनी विश्व-विजय के दौरान हिन्दुस्तान की तरफ आ रहा था, तो यूनान से आते वक्त डायोजनिज ने कहा कि सिकन्दर, जब हिन्दुस्तान से तुम वापस आओ, तो अपने साथ वहाँ से एक साधु भी साथ लेते आना। सिकन्दर ने कहा—आपने भी क्या चीज मांगी है। तब डायोजनिज ने कहा कि तू सारे विश्व की सम्पत्ति को मेरे चरणों में लाकर रख देगा, मगर भारत से उसकी आत्मा को लाना बहुत कठिन होगा। भारत की आत्मा साधुता है। हिन्दुस्तान से लौटते वक्त सिकन्दर को डायोजनिज का वाक्य याद आया कि एक साधु वहाँ से लेते आना। उसने साधु की तलाश करवाई, उसे ढुंढवाया। पता चला कि गांव से कुछ ही दूरी पर एक साधु, एक फ्रक्कड़, औलिया संत अपनी मस्ती में रहता है।

सिकन्दर ने अपने सिपाहियों को उस साधु को लाने के लिए भेजा। सिपाहियों ने जाकर कहा—आपको महान् सम्राट सिकन्दर बुला रहा है। साधु हंसा और कहा—साधु वही है, जो अपने सिवा किसी का आदेश नहीं मानता। जो औरों का आदेश मानकर चलता है, वह कैसा साधु। मैं नहीं आने वाला। कहते हैं कि सिकन्दर भी आया, उसने उससे अनुनय-विनय भी की, मगर साधु टस से मस न हुआ। उसने साफ़ मना कर दिया कि मैं नहीं चलने वाला। सिकन्दर ने इसे अपना अपमान समझा और तलवार निकाल ली। वह तलवार चलाने ही

वाला था कि साधु ने कहा—चलाओ, बड़े प्रेम से चलाओ । हम भी तो देखें अपनी आंखों से अपनी शरीर को कटते हुए । तुम जिसे काटना चाहते हो, मारना चाहते हो, वह तो मरा हुआ है ही । वह तो उसी दिन मर गया था, जिस दिन जीवन में संन्यास घटित हुआ । तुम मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मुझे नहीं ले जा सकते । भारत की आत्मा को कहीं नहीं ले जाया जा सकता । भारत की आत्मा पैसा नहीं, विज्ञान नहीं है । उसकी आत्मा तो उसकी साधुता है, तादात्म्य से मुक्ति है, उसका अध्यात्म है ।

यह घटना मुक्ति की क्रान्ति है । विदेह-जीवी ऐसा कर सकते हैं । आम आदमी तो देह-स्वभाव में ही तत्पर रहता है । शरीर है, तो शरीर का स्वभाव काम करेगा । जब तक तुम देह और मन से स्वयं को मुक्त न कर लो, देह और मन को तुम विजातीय रूप में न जान लो, तब तक देह-मन के धर्म सक्रिय रहेंगे ।

देह को धारण किये हो तो देह के भीतर मन के परमाणु सक्रिय रहेंगे ही, उसके मन के अशुभ परमाणु और शुभ परमाणु सक्रिय होंगे ही होंगे । केवल एक अलग देखना ही व्यक्ति के मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करेगा । देह-का-साक्षी विदेह-जीवन जीता है । वही मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त कर सकेगा, जो शरीर से अपने को अलग देखता-जीता है ।

आत्मा और शरीर—दोनों को समान मूल्य देना पहला चरण हुआ । शरीर से ज्यादा आत्मा को मूल्य देना दूसरा चरण हुआ और तीसरा चरण यह हुआ कि जब तुम्हें लगे कि शरीर जर्जर हुआ या शरीर का उपयोग पूरा हुआ, तो शरीर को सर्प की केंचुली की तरह त्याग करके छोड़ देना, यही समाधिमरण हुआ, यही संलेखना हुई, यही मुक्ति के द्वार पर एक महादस्तक हुई ।

चेतन रूप में जीओ और चेतन रूप में ही विदा ले लो । देह तुम्हें त्यागे, तुम देह को त्याग चलो । मन को बीच में से हटा दो, तो देह पेड़ पर लगे पत्ते से अधिक नहीं होगी । अगर यह समस्या पेश आये कि हम शुरु कहाँ से करें अपने तादात्म्य को तोड़ने के लिए, तो मैं यह समाधान देना चाहूंगा कि व्यक्ति पहले यह ढूँढे कि मेरा किन-किन से तादात्म्य है, मेरा किन-किन से लेप है ? लेप क्यों और लेप के परिणाम क्या निकलेंगे ?

माना शरीर और मन का संयोग आँख ने देखा, आँख ने मन को प्रभावित

किया, मन ने शरीर को उत्तेजित किया। शरीर अपने धर्म में आया। अब हम दूढ़ें कि ऐसा कौन-सा कारण रहा, जिससे यह उत्तेजना पैदा हुई। कारण दूढ़ा। उस कारण से कौन-सा कार्य हुआ, उस कार्य को समझा और उस कार्य का क्या परिणाम हुआ, उसको भी हमने देखा। अब ध्यान एकमात्र इसी तरीके से जग सकता है कि हम कितनी सजगता से, कितनी जिंदादिली के साथ अपने हर कार्यक्षेत्र, जीवन, जीवन की गतिविधि, जगत, जगत की गतिविधि को कितने ध्यान से देखते हैं। और कोई तरीका नहीं हो सकता। यह सीधा-सादा तरीका होगा कि जो भी घटनाएँ घटती हैं, उन घटनाओं के प्रति जागो, क्योंकि जीवन का सार तो बहुत साफ-सुथरा लिखा हुआ पड़ा है।

जीवना का पहला वेद स्वयं जीवन है। मनुष्य का पहला शास्त्र स्वयं उसका अपना जीवन है, इसलिए जीवन को पढ़ा जाये। कल ऐसी कौन-सी घटना घटी, जिसके कारण क्रोध पैदा हुआ। कल क्रोध पैदा हुआ, कल प्रायश्चित्त हुआ। आज फिर से ही निमित्त आ रहे हैं, क्रोध पैदा हो रहा है, फिर प्रायश्चित्त हो रहा है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आदमी जीवन से कुछ सीखा और समझा ही नहीं। कल भी ठोकर खाई, आज भी ठोकर खाई, कल फिर ठोकर खाओगे। कोई अगर मुझसे पूछे कि अज्ञानी की परिभाषा क्या, तो मैं कहूंगा कि जो ठोकर पर ठोकर खाये, वह अज्ञानी। जो ठोकर खाकर संभल जाये, वो समझदार। जो आदमी दूसरे को ठोकर खाते देख जग जाये, वह ज्ञानी, वह प्रज्ञावान हुआ। ठोकर खाकर तो हर कोई जग जायेगा, पर देख तो यह रहा हूँ कि लोग ठोकर खाकर भी नहीं जग रहे हैं। न जीवन से क्रोध घटा, न कषाय मिटा, न विकार गया। खीज, ईर्ष्या, तृष्णा, मूर्च्छा कुछ भी न गई। ठोकर लग रही है, ठोकर पर ठोकर खा रहा है आदमी। यही आदमी की गहन मूर्च्छा है, गहन माया है।

कोई अगर पूछे परमात्मा से कि तुम किस जरिये से संसार को बनाते हो, इन मनुष्यों और प्राणियों को गढ़ते हो, तो भगवान यही कहेंगे कि मैं तुम्हारे मन में बसी माया, मूर्च्छा, तृष्णा से ही तुम सबको बनाता हूँ। अगर तुम इनको छोड़ दो, अगर तुम इनसे मुक्त हो जाओ, तो मुक्ति तुम्हारे द्वार पर दस्तक देगी। प्यास जगती है अध्यात्म की मनुष्य के भीतर सजगतापूर्वक जीने से। जो जगता है, वो उपलब्ध होता है। बाकी के लोग उसी कीचड़ में पैदा होते हैं, उसी कीचड़ में जीते हैं और उसी कीचड़ में मर जाते हैं। कीचड़ से कीड़ा भी पैदा होता है, कीचड़ से

कमल भी पैदा होता है । कीड़ा कीचड़ में पैदा होकर उसमें धंसता जाता है और कमल कीचड़ में पैदा होकर उससे ऊपर उठ जाता है । उस ऊपर उठने का नाम ही परमात्मा के साथ संबंधों को स्थापित करना है, आकाश का हो जाना है ।

भगवान कहते हैं अपने आपको निर्लिप्त करो, मुक्त करो, ठीक ऐसे ही जैसे आकाश है । चाहे बदली आये या चांद-सितारे विहार करें या वायुयान उड़े, मगर आकाश फिर भी निर्लिप्त, निस्पृह । सब का दृष्टा भर । ऐसे ही जीवन को जीना होता है, यही एक आध्यात्मिक, एक सौम्य, एक व्यावहारिक जीवन जीने की सहज-सरल-सौम्य प्रक्रिया है ।



सतोगुण की सुवास

आज हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता का पुण्य दिवस है। उस राष्ट्र की स्वतंत्रता का दिवस है, जिसकी पावन माटी से, पुण्यमय पंचमहाभूतों से हमारे शरीर का निर्माण हुआ है। यह केवल राष्ट्र की स्वतंत्रता का ही स्मरण-दिवस नहीं है, वरन् उन अनगिनत शहीदों की शहादत, उनके बलिदान, उनकी कुर्बानी का भी स्मरण दिवस है। हम उन शहीदों को याद करें जिन्होंने अपनी बहिन की राखी की परवाह नहीं की; अपनी माँ की उजड़ रही कोख की परवाह नहीं की; अपनी पत्नी की मांग के सिंदूर की होली खेलना भी स्वीकार कर लिया और इस राष्ट्र को स्वतंत्रता दिलाना अपने जीवन का सबसे बड़ा कर्तव्य समझा।

राष्ट्र को स्वतंत्र कराना समय की ही पुकार नहीं थी, वरन् हम जिन धर्मों के अनुयायी हैं, उन धर्मों का भी यही संदेश रहा कि तुम न केवल अपने समाज और राष्ट्र को स्वतंत्र रखो, वरन् अपने आपको भी परतंत्र मत रखो। जैसी लड़ाई दशकों पहले हमारे बुजुर्गों ने इस देश को आज़ाद कराने के लिए लड़ी थी, वैसी ही लड़ाई हज़ारों साल पहले एक महाभारत की रचना करके इस भारतवर्ष को स्वाधीन कराने के लिए लड़ी गई थी। अभी राष्ट्र का मसीहा कोई गांधी बना, तो तब जगत का मसीहा कृष्ण बने। दोनों ने ही कर्मयोग की प्रेरणा देकर भारत को स्वतंत्रता दिलाने और उसका कायाकल्प करने के लिए हर नागरिक को अपनी अहम

भूमिका निभाने की प्रेरणा दी। निश्चय ही कृष्ण परमात्मा के अवतार माने जाते हैं, लेकिन आश्चर्य होता है कि जिस परमात्मा से हम विश्व-शान्ति की प्रार्थना कर रहे हैं, वही परमात्मा अवतार लेकर किसी अर्जुन के रूप में एक मनुष्य को युद्ध की प्रेरणा दे रहे हैं। महाभारत का युद्ध तो 'मज्जबूरी का महात्मा' था। अगर पांच गाँव भी दे दिये जाते, तो युद्ध टल जाता। युद्ध तो तब महाभारतकाल की आवश्यकता एवं अनिवार्यता बन गया, जब पांडवों को रहने के लिए कौरव एक इंच भी जगह देने को तैयार न हुए।

इस भारत राष्ट्र में हर किसी को रहने का अधिकार है। राष्ट्र की धरती पर जन्म लेने वाले हर एक को यहाँ रहने का पूरा-पूरा हक है। यह माटी सबके लिए है। यहाँ किसी का एकाधिकार नहीं है। सारा संसार ही एक है। यह तो राजनेताओं की छिछलेदारी के कारण संसार बंट गया, भारत बंट गया। सारा संसार तुम्हारा है। विश्व में शांति और विश्व-बंधुत्व की प्रार्थना, अर्चना और क्रियान्विति होनी चाहिये।

घर आया व्यक्ति मेहमान होता है। अगर तुम्हारे दरवाजे पर एक दुश्मन भी आ जाये और रहने के लिए तुमसे शरण मांगे, पेट भरने के लिए भोजन मांगे, तो वह दुश्मन, दुश्मन नहीं होता, शरणागत है। तुम्हारा धर्म होता है, शरणागत को प्रश्रय देना। इस भारत का कलेजा बड़ा विशाल है। यह अपने गृहद्वार पर आये बड़े-से-बड़े दुश्मन और विधर्मी को भी शरणागत मानकर उसकी सेवा और व्यवस्था करता है। तकलीफ़ तो तब पैदा होती है, जब मेहमान, मेहमान न बनकर घर का मालिक होने की चेष्टा करता है। मेहमान जब तक मेहमान बना हुआ रहे, उसकी अगवानी की जानी चाहिये, पर मेहमान घर का मालिक होना चाहे, तो धक्के मारकर उसे निकाल देना चाहिये। जितना जल्दी स्वार्थ के शकुनियों को बाहर निकाल पाओ, उतना ही अच्छा।

कृष्ण कहते हैं कि अगर तुम्हारे अधिकारों पर कोई भी अपना अधिकार जमाना चाहे, तो चुप न बैठो। अगर कोई भी व्यक्ति तुम्हारी द्रोपदियों के साथ चीरहरण करना चाहे, तो तुम्हारा पूरा हक बनता है कि उन हाथों को इतना झुका दो कि वे हाथ कभी उठ न पायें। एक छोटी-सी चींटी को भी कष्ट देना महापाप है, लेकिन अपने समाज, अपने राष्ट्र, अपने धर्म और अपनी आत्मरक्षा के लिए उठाया गया भाला भी तुम्हारे लिए निष्पाप होने का सूत्र बनेगा। कृष्ण कहते हैं

कि अगर तूने भाला न उठाया, तो यह पहला पाप होगा। एक हाथ में भाला रहे और दूसरे हाथ में माला। भाला रक्षा के लिए और माला स्वयं के निस्तार के लिए। इसलिए आज स्वतंत्रता-दिवस पर इस राष्ट्र को आज़ादी दिलाने वालों को हम सब अपनी ओर से नमन करते हैं; जिस माटी पर उन्होंने अपना खून बहाया था, उस माटी को अपने शीश पर लगाकर अपने आपको भी धन्य करते हैं।

यह वह माटी है, जिसमें हमारे बाप-दादा और पुरखे, तीर्थंकर और अवतार समा गये। यह वह माटी है, जिससे यह माटी, यह देह बनी है। इसलिए हम इस माटी को प्रणाम करके उन अनंत-अनंत आत्माओं को प्रणाम करते हैं, जिन आत्माओं ने अपनी भौतिक देह का त्याग इस माटी पर किया है। यह माटी प्रणम्य है। इस माटी के स्पर्श के लिए तो देवता भी तरसते हैं। इस पृथ्वी-ग्रह की माटी आखिर नसीब होती किनको है। कृतपुण्य लोगों को ही यह माटी मिलती है। भारत की माटी का हर कण हमारे लिए मंदिर के समान आदरणीय है।

जब राष्ट्र आज़ाद हुआ, तो कहते हैं कि उससे पहले नेहरूजी और शास्त्रीजी जैसे लोग जेल में बंद थे। आज़ादी के आकांक्षी लोगों को पीड़ा पहुँचाने की दृष्टि से जेलर ने रोटियों में मिट्टी मिलवा दी और मिट्टी मिली हुई वे रोटियाँ स्वतंत्रता-सेनानियों को खाने को दी गईं। नेहरू ने इस बात की शिकायत की कि तुम्हारी रोटियों में मिट्टी मिली हुई है। जेलर को मौका मिला। उसने कहा—तुम यहाँ अपने देश को आज़ाद कराने के लिए आये हो या रोटियों में मिट्टी की जांच करने? नेहरू ने तपाक से कहा कि हम यहाँ भारत को आज़ाद कराने के लिए आये हैं, भारत माँ के पाँवों में पड़ी बेड़ियों को तोड़ने के लिए आये हैं, भारत माँ को खाने के लिए नहीं। यह माटी हमारे लिए पूज्य है, खाद्य नहीं।

देश तो आज़ाद हुआ, लेकिन कृष्ण का कर्मयोग अभी तक पूरा नहीं हो पाया है। अभी तक तो कृष्ण का कर्मयोग आधा हुआ। आज़ादी का असली युद्ध तो तब शुरू होगा, जब तुम अपने आपको जीतोगे। अपने भीतर में बाहर से आक्रमण करने वाले दुश्मनों को निकाल फैंकोगे, तो समझो गीता का आचमन हुआ; अन्यथा यह आधा-अधूरा युद्ध ही साबित होगा और आधा-अधूरा ज्ञान, आधा-अधूरा सत्य तथा आधी-अधूरी जीत बड़ी खतरनाक होती है। इसकी भयावहता को आज हम देख रहे हैं। हिन्दुस्तान को आज़ाद हुए अर्द्ध-शताब्दी बीत गई लेकिन हम अभी भी भयभीत हैं, आक्रांत हैं। हम यह नहीं कह सकते

कि हम सचमुच आज़ाद हुए हैं। हम तो अभी भी, अपने ही कारणों से परतंत्र और पराधीन पड़े हैं। हमें किसी और ने आकर परतंत्र या पराधीन नहीं किया है, वरन् हमारी अपनी ही वृत्तियों, हमारे अपने ही दुर्गुणों ने हमें पराधीन कर रखा है। 'जे तें जितियारे, ते मुझ जितियारे।' हे प्रभु, जिन अवगुणों को तुमने जीता था, अफसोस आज उन्हीं अवगुणों ने आकर मुझे घेर लिया है।

हमारे अपने ही काम ने, क्रोध ने, आक्रोश ने, वैर-विरोध ने, राग-द्वेष की ग्रंथियों ने हमें जीत डाला है। हमारे पाँवों में बेड़ियाँ हैं; हाथों में हथकड़ियाँ हैं और गले में फाँसी का फंदा लटक रहा है। आदमी को न तो ये जंजीरें दिखाई पड़ रही हैं, न बेड़ियाँ दिखाई दे रही हैं और न फाँसी का फंदा ही नज़र आ रहा है। गीता का आज का अध्याय, जिस पर हम अपनी परिचर्चा केन्द्रित करेंगे, ऐसे ही पहलुओं को स्पष्ट कर रहा है। यह बताएगा कि तुम्हारे बंधन क्या हैं? किन कारणों से तुम बंधे हुए हो? ऐसे कौन-से मार्ग हो सकते हैं जिनसे तुम अपनी मुक्ति का द्वार खोल सकते हो?

गीता का चौदहवाँ अध्याय है गुणत्रय विभाग योग। त्रिगुण में सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण की बातें हैं। गीता कहती है कि परमात्मा सृष्टि का निर्माण और संचालन करता है। यह बात अगर स्वीकार करते हैं, तो हमें यह सोचना चाहिये कि परमात्मा किसके आधार पर यह संचालित करेगा, क्योंकि सब लोगों के साथ अलग-अलग परिणाम देखने को मिलते हैं। कोई अमीर है, तो कोई गरीब; कोई ठंडे मिज़ाज का है, तो कोई बदनमिज़ाज, कोई ब्रह्मचारी है, तो कोई व्यभिचारी; कोई करोड़पति है, तो कोई रोड़पति, कोई शांत और सौम्य है, तो कोई वीभत्स। यह फ़र्क क्यों है? हम पुरुष या स्त्री के रूप में क्यों पैदा होते हैं? हम बार-बार क्यों जन्म लेते हैं?

प्रकृति के माध्यम से जीवन का निर्माण, सृष्टि का अभ्युदय और संचालन होता है। दो तत्त्वों का संयोग तीसरे नये तत्त्व को जन्म देता है। जब तक दो तत्त्व आपस में न मिलेंगे, तीसरा तत्त्व कभी पैदा न होगा। यह पानी भी तो दो तत्त्वों—आक्सीजन और हाइड्रोजन का संयोग है। ऐसे ही जीवन बनता है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से, पुरुष और स्त्री के संयोग से, नर और मादा के संयोग से या बीज और मिट्टी के संयोग से। जब तक संयोग न हो प्रकृति भी स्वतंत्र, पुरुष भी स्वतंत्र। जैसे ही संयोग हुआ, कोई तीसरी प्रतिमा, कोई तीसरा आकार

साकार हो ही गया। यही गीता का सांख्य-दर्शन है।

पुरुष यानी आत्मा तथा प्रकृति यानी शरीर और जब इनका मिलन होता है, तो तीसरा तत्त्व यानी अहंकार पैदा होता है। अहंकार के जन्म लेने से ही बुद्धि जन्म लेती है; बुद्धि से मन पैदा होता है और मन के पैदा होने से पांच महाभूत पैदा होते हैं। पांच महाभूत के जन्म लेने से पांच कर्मेन्द्रियाँ, उनसे पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और फिर उनसे पांच इंद्रियों के विषय सम्बद्ध होते हैं। ये कुल पच्चीस तत्त्व सांख्य दर्शन ने माने हैं। इन सबके रहस्य में कोई छिपा हुआ तत्त्व है, तो वह एकमात्र संयोग ही है।

स्त्री, स्त्री रहे और पुरुष, पुरुष रहे, तो कोई खतरा नहीं। स्त्री और पुरुष एक हुए कि तीसरे का जन्म हुआ। जीवन के निर्माण की यही प्रक्रिया है, यही रीति है। पुरुष के अभाव में प्रकृति और प्रकृति के अभाव में पुरुष अधूरा है। पुरुष और प्रकृति दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रकृति की आँख पुरुष बनती है और पुरुष का पाँव प्रकृति बनती है। किसी बस्ती में लंगड़ा और अंधा—दो व्यक्ति रहते हैं और अगर उस बस्ती में आग लग जाये, तो उनके अपने बचाव के लिए यह ज़रूरी है कि वे जल्दी-से-जल्दी उस बस्ती को छोड़ दें, लेकिन उनकी शारीरिक अक्षमताओं के कारण यह संभव नहीं है, क्योंकि अंधा चल तो सकता है, लेकिन देख नहीं सकता और लंगड़ा देख तो सकता है, लेकिन चल नहीं सकता। वे आग से बच निकले, इसके लिये यही तरीका होगा कि अंधा अपनी पीठ पर लंगड़े को बिठाए और लंगड़ा अंधे का मार्गदर्शन करते हुए, बस्ती से दूर चले जाएं। जैसे दोनों मिलकर आग से बच निकलते हैं, वैसे ही जीवन का संयोग बनता है और हर प्राणी, हर जीवन का सृजन होता है। संसार बनता है।

संयोग ही वह सृष्टा है, इस सृष्टि का संचालन करता है और इन सबके पीछे जो मूल तत्त्व है, उसे त्रिगुण कहते हैं। सारी सृष्टि और संपूर्ण जीवन के ये तीन ही आधार हैं। अगर व्यक्ति इन तीन गुणों से निर्लिप्त हो जाये, गुणातीत हो जाये, तो व्यक्ति जहाँ है, वहाँ वह उसी स्वरूप को उपलब्ध कर लेगा, जो स्वरूप परम पिता परमात्मा का है। अपने ही त्रिगुणों से गुणातीत होना होता है। गुण तीन हैं सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण। सतोगुण दिव्यता है, रजोगुण मानवीयता है और तमोगुण पशुता है; सतोगुण स्वर्ग है, रजोगुण पृथ्वी है और तमोगुण पाताल या नारकी है। सतोगुण एक सहज चक्षुमान प्रवाह है, जबकि तमोगुण भी एक सहज

किन्तु अंधा प्रवाह है। सतोगुण विवेक है, रजोगुण विचार है और तमोगुण वृत्ति। तीनों गुणों को समझने के लिए विवेक, विचार और वृत्ति तीनों को पर्याय ही समझा जाना चाहिये।

जो व्यक्ति सतोगुण के मार्ग से जीते हैं, वे विवेकमान हैं; जो रजोगुण के मार्ग से आगे बढ़ रहे हैं, वे बुद्धिमान या विचारवान हैं। तमोगुण तो चेतना की सबसे निकृष्टतम दशा है। इस मार्ग से वे ही व्यक्ति बढ़ने की सोचते हैं, जो मूढ़, मूर्ख और अज्ञानी होते हैं। सतोगुण से सुख मिलता है। यह ज्ञान को जन्म देता है। रजोगुण से कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। यह मनुष्य को सुख देता है। तमोगुण से मनुष्य के भीतर प्रमाद और मूर्च्छा पैदा होती है, जिससे मनुष्य में अज्ञान उत्पन्न होता है, वह अज्ञान जो मनुष्य के संपूर्ण विवेक, संपूर्ण चेतना और संपूर्ण आत्मबोध को ढंक डालता है; ठीक ऐसे ही कि जैसे एक पात्र किसी जलते हुए दीये पर रख दिया जाये। जैसे पात्र दीये की संपूर्ण रोशनी को एक दायरे में कैद कर डालता है, ऐसे ही हमारे भीतर की आत्मा की रोशनी, सम्पूर्ण गुणातीत शक्ति और ऊर्जा, उसका नूर ढंक जाता है, आवृत हो जाता है; मनुष्य के अपने ही तमोगुण के कारण, अपनी ही वृत्तियों के कारण, अपने ही भीतर के अन्धत्व के कारण।

मनुष्य दिन-रात अपनी अंधी-वृत्तियों में उलझा हुआ रहता है। कभी क्रोध की वृत्ति, कभी काम की वृत्ति और कभी अहंकार की वृत्ति। हर वक्त सोते-जागते व्यक्ति के साथ वृत्तियाँ जारी रहती हैं। वृत्तियाँ यानी चित्त की तरंग, चित्त के ज्वार-भाटे, चित्त के उतार-चढ़ाव। जब भी अपने मन को पड़तालो, कभी शांत, सौम्य और निर्मल नहीं पाओगे। मनुष्य भड़क रहा है, जैसे कि भीतर कोई ज्वालामुखी भड़क रहा है। महावीर कहते हैं कि मनुष्य को सोने और चांदी के कैलाश जैसे असंख्य पर्वत भी मिल जायें, तब भी मनुष्य के मन को तृप्ति नहीं मिलने वाली। मन की वृत्तियाँ आदमी को सुबह से शाम तक भगा रही हैं, भटका रही हैं। यह तामसिकता है। वृत्तियों के कारण ही आदमी संबंधों की स्थापना करता है। इसी कारण पति और पत्नी का संबंध है, परिवार और समाज का संबंध है। वृत्ति से निवृत्ति हो जाये, तो जीवन में संन्यास घटित हो जाए।

सुना है मैंने कि एक आदमी की बीवी मर गई। वह खूब रोने लगा, पूरे मोहल्ले भर को चिल्ला-चिल्लाकर इकट्ठा करने लगा। लोगों की भीड़ जमा

होने लगी । लोगों ने कहा—भले मानुष, तेरी बीवी मर गई, इसलिए अब रो रहा है, लेकिन जब जिंदा थी, तो तू कहता था कि वह मर जाये । उसने कहा कि मैं इसलिए थोड़े ही रो रहा हूँ कि बीवी मर गई है । दरअसल दो साल पहले मेरी माँ मरी, तो गाँव वाले सारे लोग इकट्ठे होकर आये और कहने लगे कि बेटे, चिंता मत कर । माँ मर गई तो क्या हुआ, हम तेरी माँ जैसी ही तो हैं । तू हमें ही अपनी माँ समझ । जब एक साल पहले बहिन मरी, तो सारे गांव वाले इकट्ठे होकर आये और कहने लगे कि चिंता मतकर हम तेरी बहिन बनने को तैयार हैं । मैं रो इसलिये रहा हूँ, क्योंकि बीवी मर गई है और कोई भी महिला यह कहने को नहीं आई कि ... (हंसी) (मैं तेरी बीवी बनने को तैयार हूँ ।)

आदमी अपनी वृत्तियों के कारण उलझा हुआ है, उन्हीं के लिए रोता है । वृत्तियों से ऊपर उठने पर मिलता है रजोगुण यानी बुद्धि । जिनमें भी रजोगुण की प्रधानता है और बुद्धि भी साथ में है, वे दिन-रात एक अन्तर्-संघर्ष में जीते हैं, एक द्वंद्व में जीते हैं, क्योंकि भीतर में तो वृत्तियों की ज्वाला भड़क रही है और विचारों में बुद्धि प्रेरणा दे रही है कि तू क्या कर रहा है ? बाहर में तो विवेक रहता है, मगर भीतर में वृत्तियों का बवंडर रहता है । नतीजा यह निकलता है कि भीतर में बाढ़ उमड़ती रहती है, मगर बुद्धिमान व्यक्ति रोके रखता है अपने आपको ।

सतोगुण प्रधान व्यक्ति सुख में जीता है, शांति में जीता है । उसका मार्ग विवेक का मार्ग होता है । वह विवेक के मार्ग पर चलना पसंद करता है । संभव है, क्रोध की तरंग हो, राग और द्वेष की कोई सूक्ष्मतम ग्रंथि हो, लेकिन इसके बावजूद विवेकवान व्यक्ति अपने हर कदम को फूंककर रखता है, अपने मन और चित्त की हर वृत्ति के प्रति पूरी तरह सजग और सावचेत रहता है । सतोगुण के मार्ग से चलने वाले लोग विवेकवान बनें, यही प्रेरणा मेरी तरफ़ से है । बुद्धिमान बने या न बने, लेकिन विवेकवान बनो । ज़रूरी नहीं कि आप सब लोग बहुत ही पढ़े-लिखे हों या विद्वान हों, लेकिन एक अनपढ़ व्यक्ति भी विवेकवान बन सकता है । अगर बैठो, तो बैठने से पहले उस जगह को विवेक से देखो । देखो कि कहीं चींटी तो वहाँ नहीं चल रही है, उसे दूर करो । फिर उस जगह पर बैठो । रास्ते पर चल रहे हो, तो चलते हुए यह ध्यान रखो कि कहीं कोई कांच या कांटा तो नहीं पड़ा है ? अगर हम कांच और कांटे को न देख पाये, किसी पत्थर को न देख पाये और उससे ठोकर खा बैठे तो छोटे-मोटे जंतुओं को कैसे बचाओगे ? चलो,

ज्ञानपूर्वक चलो, होशपूर्वक चलो । स्वयं के प्रति, स्वयं के विचारों के प्रति होश रखते हुए चलो, कहीं जाओ-आओ, कोई खतरा नहीं है ।

धर्म क्रियाकाण्ड में नहीं होता; धर्म केवल दान और पुण्य में नहीं होता । यह तो विवेक में जीवित रहता है । तुम किस तरह से उठते हो, किस तरह से बैठते हो, किस तरह से चलते हो ? धर्म विवेक की इस चेतना में रहता है । कहीं ऐसा तो नहीं कि तामसिक भोजन कर रहे हो ? खाना शरीर की आवश्यकता है, लेकिन यह पता लगाओ कि तुम क्या खा रहे हो, कैसा भोजन कर रहे हो ? अगर धर्म ने आपको अंडा-मांस खाने की मनाही की है, तो वो इसलिए की है, ताकि हमारे भीतर तामसिकता न बने । अगर धर्म ने आपको शराब न पीने की सलाह दी है, तो वो इसलिए कि तमोगुण, जो व्यक्ति को प्रमाद-मूर्च्छा और निद्रा देता है, न जगे और भीतर में मदहोशी न छाये । तुम अगर शराब पीते हो, तो इससे समाज का भी अहित ही होता है और तुम्हारा स्वयं का भी । जैसे यादव कुमारों ने मदिरापान किया, तो नतीजतन द्वारिका का नाश हो गया । जिस द्वारिका का निर्माण भगवान श्रीकृष्ण ने किया, वही द्वारिका नष्ट-भ्रष्ट हो गई । हम-तुम ने भी इसके प्रति विवेक न रखा तो तुम भी मरोगे, तुम्हारा परिवार भी डूबेगा और समाज भी जीर्ण-शीर्ण होगा । अगर होश ही नहीं है, तो किस परिवार को सजाओगे, किसे संवारोगे ।

धर्म विवेक में है, धर्म यत्नाचारिता में है और विवेक सतोगुण में जीवित रहता है । कहते हैं कि जब आनंद यात्रा के लिए रवाना होने वाला था कि तभी उसने भगवान बुद्ध के पास पहुँचकर उनसे कहा—भगवन, जाने से पहले आपसे कुछ जानकारी लेना चाहता हूँ । भगवान ने कहा—पूछो । आनंद ने कहा कि भते, मैं यात्रा पर निकल रहा हूँ । अगर रास्ते में मुझ महिलाएँ मिल जाएँ, तो मैं क्या करूँ ? पहले लोग बड़े सरल हुआ करते थे, तो ऐसे प्रश्न पनप जाते थे । भगवान ने कहा—वत्स, तू बचकर ही निकल जाना । आनंद ने पूछा—प्रभु, अगर बचकर निकलने की गुंजाइश न हो तो ? भगवान ने कहा—तब आँखों को नीचे करके निकल जाना । आनंद ने पूछा—अगर परिस्थिति ऐसी बन गई हो कि रुग्ण महिला मिल जाये या वह दुर्घटनाग्रस्त हो गई हो, तो मैं क्या करूँ ? भगवान ने कहा—छूने से परहेज रखना । आनंद ने पूछा कि भगवान, अगर परिस्थिति ऐसी बन जाए कि बिना छुए काम ही न चले, तो क्या करूँ ? भगवान ने कहा—वत्स, तब केवल एक ही बात याद रखना कि तुझे जैसी परिस्थिति मिले वैसी ही कर जाना, लेकिन

अपने श्रमणत्व की सजगता को जीवित रखना । अगर तुम इतना कर पाते हो, तो चाहे जहाँ जाओ, तुम मेरे शांति और ज्ञान के मार्ग को आगे बढ़ाओगे । सजगता चाहिये, जागरूकता चाहिये ।

तमोगुण के प्रमाद को तोड़ने के लिए सघन जागरूकता चाहिये, सघन विवेक चाहिये । अगर तोड़ना चाहते हो अपने तमोगुण को, तो कैसे तोड़ोगे ? कौनसा तरीका है कि जिससे तुम अपनी अंधी मानसिकता को तोड़ सको ? मैं तो यही मार्ग बताऊंगा कि मनुष्य जागरूकतापूर्वक, विवेकपूर्वक जीये और अपने जीवन में जो तमोगुण गहरी जड़ें जमा चुका है, वहाँ सतोगुण के प्रकाश को ले जाना प्रारम्भ करे । ऐसा करके ही व्यक्ति अपने जीवन को स्वर्ग बना सकता है और तमोगुण के नरक से अपने आपको बचा सकता है ।

सूत्र है :

ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था, अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

—सत्त्व गुण में स्थित पुरुष ऊर्ध्व लोक जाते हैं; रजोगुण में स्थित मनुष्य मध्य में रहते हैं और तमोगुण में स्थित तामस पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं ।

सतोगुण यानी जीवन का देवत्व, जीवन की दिव्यता; रजोगुण यानी मनुष्यता और तमोगुण यानी पशुता । अगर तुम रजोगुण में जी रहे हो, आसक्ति में जी रहे हो, कामनाओं के भंवर में जी रहे हो, तो तुम मध्य लोक में जी रहे हो । जीवन के बाद अगर मृत्यु भी हुई, तो वापस इसी लोक में लौट आओगे । जैसा करोगे, वैसा ही पाओगे । मध्य लोक से ऊपर उठना ही जीवन की प्रगति है और इसी मध्य लोक में बार-बार लौट आना ही संसार की पाठशाला में अनुत्तीर्ण हो जाना है । पुनर्जन्म का मात्र इतना-सा ही रहस्य है कि भगवान ने तुम्हें संसार में भेजा, लेकिन तुम संसार की पाठशाला में रहकर ठीक से पढ़ न पाये, मेहनत न कर पाये, जीवन को पूरा पढ़ न पाये । तब बार-बार यहीं धक्के खाने के लिए भेज दिये जाओगे ।

भगवान कहते हैं कि तमोगुण में जीने वाला व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है । मरोगे, तो मरने के बाद कीट-पतंगे, कीड़े-मकोड़े, जीव-जन्तु या पशु-पक्षी नहीं बनोगे, अन्तर्मन में इन जीव-जन्तुओं की प्रकृति कमोबेश अभी भी

विद्यमान है। जब मैं मनुष्य को देखता हूँ, तो मुझे नहीं लगता कि मनुष्य के भीतर का पशु समाप्त हो चुका है या सर्पराज की योनि समाप्त हो चुकी है।

डार्विन ने प्रकृति से संबंधित जितने भी सिद्धान्त खोजे, वे सारे सिद्धान्त, सारे विश्व पर लागू होते हैं, लेकिन एक इंसान पर ही लागू नहीं होते। डार्विन कहता है कि बंदर से मनुष्य का विकास हुआ, पर मुझे नहीं लगता कि वह बंदरपन मनुष्य से अभी विलुप्त हुआ है। अगर हम अपने आपको टटोलें, तो पायेंगे कि वह बंदर अभी भी हमारे मन में बैठा हुआ है। कभी इस घर, कभी उस घर डोलता रहता है। कभी ये सुख, कभी वो सुख में कूद-फांद करता रहता है। ऐसा नहीं है कि सर्पराज मिट गया हो या हमारी सर्पराज कि योनि से मुक्ति हो गई हो। जब-जब मनुष्य क्रोध में आँखें लाल करेगा, तब-तब वह मनुष्य के रूप में सर्पराज ही होगा। भीतर का पशुत्व जब तक न मिटे, भीतर की पशुता से ऊपर न उठ पाओ, तब तक आकार मनुष्य का, लेकिन प्रकृति पशुता की ही रहेगी।

अगर कीड़ा कीचड़ में पैदा होता है, तो कीचड़ में ही धंसता है और हम संसार में पैदा होते हैं और संसार में ही धंसते हैं। कहते हैं कि पहले बड़े-बड़े सम्राटों और शूरवीरों के प्राण उनमें स्वयं में नहीं होते थे, वरन् किसी तोते में रख दिये जाते थे। उस व्यक्ति को मारने की लाख कोशिश करो, वह नहीं मरेगा, लेकिन तोते की गर्दन मरोड़ो, वह व्यक्ति झट से मर जायेगा। वे तोते तो चले गये, पर अब उन तोतों की जगह तितोरियों ने ले ली है। तितोरियों को लूट डालो, तो आदमी के प्राण-पंखेरू पल में उड़ जायेंगे। यह मनुष्य के लिए मकड़जाल का ही रूप है। जैसे मकड़ी अपने जाले को अपने भोजन और अपने जीवन की व्यवस्था के लिए बुनती है, लेकिन वह उस मकड़जाल में उलझकर रह जाती है। यही हाल मनुष्य का है। वह भी पत्नी, बच्चों और परिवार में इसी तरह उलझकर रह जाता है और मुक्ति का कोई रसास्वादन उपलब्ध नहीं हो पाता।

तमोगुण तो हमारा बहुत कम है, लेकिन रजोगुण अब भी काफी जारी है। मनुष्य में शानोशौकत, ठाट-बाट से जीने का गुण विद्यमान है। तमोगुण मिट चुका है, इसलिए हम व्यभिचार से दूर हैं, किसी गरीब की झोंपड़ी में आग नहीं लगाते, लेकिन रजोगुण होने के कारण हम पूरी तरह निर्मल और पावन नहीं हुए हैं। वो राजसी प्रवृत्ति जब-तब अंश या सर्वांश के रूप में सक्रिय हो जाती है, जाग्रत हो जाती है। सतोगुण की तरफ हमारी प्रवृत्ति हो, तो सुख और शांति हमारे

साथ होगी । विवेक सम्यक् मार्ग है, सरल मार्ग है । भले आप संसार में जीयें, परिवार में जीयें, दाम्पत्य-जीवन में जीयें, लेकिन विवेक आपके कर्तव्यों-कर्मों को कराते हुए भी आपको उनसे अलग करता चला जायेगा ।

लाश को लाश की भूख होती है,
लाश की कोख कभी बाँझ नहीं हुआ करती ।
लाश के कर्ज को उतारा जा सकता है,
कोख के कर्ज को कैसे उतारा जायेगा ।

यह शरीर तो एक लाश है और एक लाश को एक लाश की ही भूख होती है और उसकी कोख कभी बाँझ नहीं हुआ करती । इसलिए अन्तर्मन में यह विचार पैदा होता है कि क्यों न लाश के कर्ज के साथ कोख के कर्ज को भी उतार दिया जाये, लेकिन जैसे ही कोख के कर्ज को उतारने का भाव बनता है कि तभी लाश की छाती से दूध की एक बूंद नीचे गिर जाती है । आंखों से बहने वाले आंसुओं को तो पार किया जा सकता है, लेकिन छाती से बहे हुए दूध की बूंद को कैसे लांघा जायेगा ? कर्तव्य-कर्मों को तो करना ही होगा, लेकिन कर्तव्य-कर्मों को कराते हुए भी दूध के बूंद का कर्ज चढ़ाते और उतारते हुए भी हम निर्लिप्त, बेदाग, शांत और सौम्य-जीवन जी सकेंगे । और इसके लिए सीधा-सा, सरल-सा मार्ग होगा कि हम हर वक्त सचेतनता बनाये रखें ।

जब-जब तुम्हारे भीतर चेतना का जागरण होता है, सचेतना आती है, विवेक पैदा होता है, तब-तब तुम्हारे भीतर सत्व गुणों की वृद्धि ही होती है, ऐसा समझो । जब-जब तुम्हारे भीतर लोभ और प्रवृत्ति पनपते जाते हैं, तब-तब यह जानो कि तुम्हारे भीतर रजोगुण का बढ़ावा हो रहा है । जब-जब मूर्च्छा, प्रमाद, आसक्ति तुम्हारे भीतर बढ़ती चली जाये, अज्ञान तुम्हारे भीतर दिखाई दे, तो समझना कि तमोगुण तुम्हारे भीतर सक्रिय हुआ है । तमोगुण से रजोगुण अच्छा, लेकिन रजोगुण से सतोगुण अच्छा । जैसे कांटे से कांटा निकाला जाता है, वैसे ही तुम भी कांटों को निकाल फैंको । तमोगुण को तो फैंकना ही है, रजोगुण को भी फैंक दो और जब लगे कि तमोगुण और रजोगुण—दोनों ही जीवन से नेस्तनाबूद हो रहे हैं, सत्व गुण से भी अपने आपको मुक्त कर लेना, क्योंकि गुणातीत होना ही कृष्ण की भाषा में मुक्ति को प्राप्त करने के लिए अंतिम, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण चरण है । महावीर ने लेश्या का सिद्धान्त दिया है । कृष्णलेश्या और नीललेश्या

तमोगुण है। कापोत और तेजोलेश्या रजोगुण है। पद्मलेश्या, और शुक्ललेश्या सतोगुण है। निर्वाण लेश्यातीत होने में निहित है। मोक्ष गुणातीत होने से घटित होता है। तमोगुण ज्ञान को आवृत कर मनुष्य को प्रमाद में लगाता है, रजोगुण कर्म में और सत्त्वगुण से सुख का सवेरा होता है, जीवन प्रकाशमय होता है। गुणातीत अवस्था मोक्ष की आधारशिला है। मोक्ष सबका ध्येय हो, और इसके लिए सतोगुण को, सत्त्व प्रकृति को प्राथमिकता देनी चाहिये।

सचेतनता और विवेकशक्ति में सत्त्वगुण निवास करता है। रजोगुण विषयभोगों की लालसा को बढ़ावा देता है। तमोगुण तो जीवन का तमस है, इन्द्रियों में मूर्च्छा है, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति है, प्रमाद है। सतोगुणी स्वर्ग को जीता है, रजोगुणी मानवीय सुख-दुःख की संवेदना करता है, तमोगुणी पशुता और नारकीय आग को झेलता है। इन तीनों गुणों का अतिक्रमण ही परमानन्द की प्राप्ति है। साक्षित्व ही वह मार्ग है, जो गुणातीत होने का द्वार खोलता है। वह, गीता की भाषा में—न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति—न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है। साक्षी, साक्षी रहता है। वह जानता है कि गुण ही गुण में प्रवृत्त होते हैं। वह तो साक्षी रहता है, आत्मभाव में स्थित, गुणातीत, स्थितप्रज्ञ। आज इतना ही निवेदन कर रहा हूँ। नमस्कार !



आत्मज्ञान का रहस्य

गीता के पंद्रहवें अध्याय का सूत्र है—

यतन्तो योगिनश्चैनं, पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तो ऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

भगवान् कहते हैं—यत्न करने वाले योगीजन अपने हृदय में स्थित आत्मा को तत्त्व से जानते हैं, किन्तु जिन्होंने अपने अंतःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहने पर भी आत्मा को नहीं जान पाते ।

आत्मज्ञान अध्यात्म और मुक्ति का मूलभूत बीज है । आत्मज्ञान ही साधना का प्रारम्भ है, आत्मज्ञान ही मध्य है और आत्मज्ञान की परिपूर्णता में साधना का समापन है । आत्मज्ञान में ही जीवन का संपूर्ण स्वर्ग समाया हुआ है । बगैर आत्मज्ञान के साधना बिल्कुल ऐसे ही है जैसे कोई बंदर इस टहनी से उस टहनी पर और उस डाल से इस डाल पर डोलायमान रहे । आत्मज्ञान से ही अध्यात्म का प्रारम्भ होता है । आत्मज्ञान के मायने हैं अपने आपको जानना, आत्मा को जानना, रूह को जानना । अपने आपको जानना सबसे बड़ा पुण्य है । अपने से अजनबी और अनजान बने रहना आत्मा की दृष्टि से सबसे बड़ा पाप है । सबको जाना, मगर खुद से अनजाने रह गये, तो जानकर भी आप अनजान ही बने रहे ।

सबको सुना, सबके बारे में सुना, लेकिन खुद को न सुना तो अनसुने रह गये । सबको देखा, सबके बारे में देखा, पर अपने आपको न देख पाये, तो कुछ भी न देखा । दूसरों को जान लेने भर से जीवन का कल्याण नहीं हो जाता । दूसरों को जान-जानकर आदमी पंडित और व्यवहार-कुशल हो सकता है, लेकिन आत्मा को जाने बगैर व्यक्ति ज्ञानी नहीं हो सकता ।

कृष्ण कहते हैं ज्ञान वही है, जो व्यक्ति को संसार के बंधनों से मुक्त करवा दे, उसको उसका परमात्म-स्वरूप, उसका मौलिक स्वरूप प्रदान कर दे । बाकी का ज्ञान तो ज्ञान के नाम पर केवल पांडित्य को ओढ़ना भर है । दुनिया में पंडितों की कमी नहीं है, लेकिन कृष्ण जिन्हें ज्ञानी कहते हैं और जिनमें ज्ञान की अग्नि के द्वारा समस्त कर्म-बंधनों को जलाकर नष्ट करने की क्षमता होती है, वे तो विरले ही होते हैं ।

दुनिया में किताबों के पंडित तों ढेर सारे हैं । धर्म-अध्यात्म की शुरुआत किताबों से नहीं होती । वह तो व्यक्ति के अपने ही जीवन से, अपनी ही आत्मा से होती है । हम सबके भीतर एक महान् ग्रंथ, एक महान् धर्म-शास्त्र लिखा हुआ है । अगर सारे शास्त्रों को पढ़ा, पर स्वयं के ग्रन्थ के पठन से वंचित रह गये, तो निर्ग्रन्थ नहीं हो पाओगे । औरों को पार लगते हुए देख रहे हो, लेकिन तुम स्वयं डूबते जा रहे हो, धंसते जा रहे हो, यह तो मूढ़ता ही है । और लोग सुधरें, यह अच्छी बात है, पर अपने आपको सुधारने का उत्तरदायित्व तो आखिर हम स्वयं पर ही है न ! इसीलिये मैंने कहा कि आत्मज्ञान जीवन का सबसे बड़ा पुण्य है और आत्म-अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप है । आत्मज्ञान में स्वर्ग रहता है और आत्म-अज्ञान से बढ़कर कोई नरक नहीं होता ।

महावीर कहते हैं 'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई ।' जो एक को जान लेता है, अपने आपको जान लेता है; वह सर्व को, सारे संसार को जान लेता है । जो अपने आपको जीत लेता है, वह सारे संसार का विजेता बन जाता है । अगर सारे संसार के विजेता बने, पर अपने आपको न जीत पाये, तो सिकंदर की तरह अंतिम घड़ियों में अपने जीवन के एक-एक पल के लिए आदमी मोहताज बना रहेगा और इस पछतावे में ही रुखसत हो जायेगा कि पाकर भी कुछ न पाया, जीतकर भी पराजित बने रहे । इसीलिए तो कबीर कहते हैं कि इक साधे सब सधे—एक को साधने में सब साध ही लिया जाता है, पर एक को भी न साध पाये, तो फिर

सबको साधा क्या काम आयेगा ? अपने कमरे को सजाया, सारे घर को सजाया, पर अपने हृदय, अपने भीतर के घर की सजावट की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जाता, तो बाह्य शृंगार स्वयं तुम्हीं पर व्यंग्य बन जाएगा ।

घर में झाड़ू लगाते समय अगर एक तिनका भी निकलकर गिर जाये, तो उसे तत्काल उठाते हो । कोई अगर कह ही दे कि जनाब, एक तिनका ही गिरा है । इससे क्या फ़र्क पड़ने वाला है ? तो तुम्हारा जवाब होगा कि अगर एक-एक तिनका यूँ ही निकलता जाये, तो झाड़ू दो दिन में ही खत्म हो जायेगा । झाड़ू के तिनकों के प्रति तो तुम्हारी इतनी सजगता है, इतनी सचेतनता है, पर हमारे अपने जीवन के प्रति हमारी कितनी जागरूकता है ? क्या कभी दो मिनट भी शांति से बैठकर अन्तर्गृह में यह पड़तालने का प्रयास किया कि मेरे मन की स्थिति क्या है ? मेरे मन में क्रोध का किंतना तापमान है ? मेरे मन में कैसे उद्वेग उठते हैं ? आँखें हमेशा औरों को देखती हैं, अपने आपको देखने की फुर्सत ही कहाँ है । तभी तो आदमी के जीवन में न तो अहिंसा की अस्मिता है, न सत्य का सौष्ठव है, न अचौर्य की चेतना है, न ब्रह्मचर्य और न अपरिग्रह की सजगता है । जीवन का कोई भी नैतिक मूल्य शेष नहीं रहता, अगर व्यक्ति अपने आपको न चीन्ह पाये ।

स्वयं को ही न जाना, तो कैसे जानोगे कि तुमने किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचाया है । स्वयं को ही पूरी तरह न जान पाये, तो अपनी पत्नी और बच्चों को कैसे पूरी तरह पहचान पाओगे ? तब यह नहीं कह सकते कि घर जाने पर पत्नी आग-बबूला होगी या हंसकर स्वागत करेगी । जो पत्नी दस मिनट पहले चंद्रमुखी लग रही थी, वहीं पांच मिनट पहले सूर्यमुखी नज़र आई और अब ज्वालामुखी बन बैठी है । किसी की मुस्कान पर आस्था ही नहीं की जा सकती कि वह कब तक मुस्कान बनी रहेगी और कब अप्रसन्नता में तब्दील हो जायेगी । तब अपने बारे में कैसे भविष्यवाणी कर सकते हो ?

तुम्हारा आज कैसा है और आने वाला कल कैसा होगा, तुम नहीं कह सकते, लेकिन सच यह है कि अगर आप कल क्रोध करते रहे हैं, तो आज भी क्रोध किया होगा और आने वाले कल को भी इसकी पुनरावृत्ति होगी । कल अगर किसी के साथ बुरा बर्ताव किया, तो आज भी वही करोगे और आने वाले कल को भी वही दोहराते रहोगे । हर वर्तमान अतीत का पुनर्संस्करण होता है और हर भविष्य हमारे वर्तमान की परछाई होता है । इसलिए अपने आपको जान रहे हो, तो सारे जगत

को जान रहे हो । अपने को जिसने जाना वह एक चींटी में भी अपनी-सी सत्ता स्वीकार करेगा । एक चींटी पर पाँव रखना भी उसके लिए अपने पर पाँव रखने के समान होगा ।

सारे जगत का ही एक अन्तर्सम्बन्ध है । जैसे मकड़ी के जाल के एक तार को भी हिलाओ, तो सारा जाल हिल जाता है; अगर तालाब में एक कंकरी फेंको, तो सारा तालाब आंदोलित हो जाता है । ऐसे ही अगर किसी एक को पीड़ा दे रहे हो, तो सारे संसार को पीड़ा दे रहे हो, किसी एक पर करुणा बरसा रहे हो, तो सारे संसार पर करुणा कर रहे हो । अहिंसा का जन्म तभी होता है, जब व्यक्ति अपने आपको जानता है, अन्यथा अहिंसा केवल व्यावहारिक अहिंसा बन जायेगी, निश्चयमूलक अहिंसा नहीं बन पायेगी । तब तुम्हारी अहिंसा का रूप कुछ अलग ही होगा ।

जीसस कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे एक गाल पर चांटा लगाये, तो तुम दूसरा गाल उसके आगे कर दो । जीसस ने ऐसा कहा, लेकिन देखा यह जाता है कि अगर सामने वाला व्यक्ति दूसरे गाल पर भी चांटा लगा दे, तो तीसरा चांटा उसी गाल पर पड़ जाता है । तब वह सफ़ाई देगा कि जीसस ने तो यह कहा कि कोई एक गाल पर चांटा लगाये, तो दूसरा गाल आगे कर देना पर गाल तो दो ही होते हैं, तीसरा नहीं होता, इसलिए तीसरा गाल तो सामने वाले का ही होता है । अगर अपने आपको जाना है, स्वयं को ईश्वर के पुत्र के रूप में पहचाना है, तो आदमी, गाल पर चांटा लगवाना तो नगण्य बात है, क्रॉस पर भी लटक जायेगा और यह कहेगा कि प्रभु, माफ़ कर इन्हें । ये लोग नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं । वह करुणा बहुत गहरी होगी । यह करुणा किसी प्रतिज्ञा लेने से नहीं पैदा होने वाली और न प्रवचनों में जाकर बैठने से पैदा होगी । इसका जन्म तो तभी होता है, जब व्यक्ति की अपने आपके प्रति आस्था होती है, जब व्यक्ति अपने आपको जानता है ।

मैं आपको अपने आप पर विश्वास दिलाना चाहता हूँ, क्योंकि आदमी का अपने आपसे विश्वास उठ गया है । परमात्मा का क्रम तो दूसरा है, पहला विश्वास तो अपने आप पर ही चाहिये । शास्त्र कहते हैं कि आस्तिक वह है जो भगवान में आस्था रखता है और नास्तिक वह है, जिसने परमात्मा को अस्वीकार कर दिया है । यह भाषा बहुत पुरानी हो गई है । वस्तुतः जिसका अपने आप पर विश्वास

है, वह आस्तिक है और जिसका अपने से ही विश्वास उठ गया हो, वह नास्तिक है। मनुष्य को अपने आप पर भरोसा होना चाहिये; अपने पर आस्था और विश्वास होना चाहिये।

गीता कहती है कि यत्न करने वाले योगीजन अपने हृदय में स्थित आत्मा को तत्त्व से जानते हैं। आत्मा को जानना गीता की भाषा में मुक्ति के महामार्ग को पार करने के समान है। स्वयं को जानना, स्वयं के प्रति आस्था रखना धर्म का पहला संदेश और पहला सोपान है। जब मैं अपने आपके प्रति आस्था की बात कह रहा हूँ, तो मैं यह भी कहूँगा कि जीवन की जो आत्मा है; जीवन का जो सत्य और अस्तित्व है, वह हमारे स्वयं में है। उसे कहीं और ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। अगर आत्मा कोई कल्पना होती, तो उसे पाने के लिए योजना गढ़ी जाती; वह कोई शब्द होता तो किताबों में भी ढूँढा जाता। आत्मा तो त्रैकालिक सत्य है, वह सत्य जिसके कारण मनुष्य जीवित है; जिसके कारण जीवन, जीवन है और जिससे जुदा होते ही शरीर को दफ़ना दिया जाता है, जला दिया जाता है। उसी आत्मा, उसी रूह से ही तो रिश्ता कायम करने का निवेदन कर रहा हूँ। 'कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढै वन मांही।' वो कस्तूरी हमारे पास ही है, उसे कहीं और न ढूँढा जाये।

मैंने सुना है : एक सूफ़ी फ़कीर महिला हुई है—राबिया वसी। राबिया के जीवन की एक घटना है। एक बार वह अपने घर के बाहर कुछ ढूँढ रही थी। उसी बीच कुछ संत, कुछ फ़कीर राबिया के पास पहुँचे। राबिया को कुछ ढूँढते हुए देखा, तो सोचा कि चलो मदद की जाये, ढूँढने में, क्योंकि राबिया की आंखें कमज़ोर हो चली हैं। वह ढूँढ पायेगी भी या नहीं। संत भी राबिया का हाथ बंटाने लगे। वे इस बात से अनजान थे कि वे आखिर ढूँढ क्या रहे हैं? उन्होंने राबिया से पूछा कि आखिर वह किस चीज को ढूँढ रही है? राबिया ने बताया कि वह सूई ढूँढ रही है। संतों ने कहा कि सूई कहां खोई थी? राबिया ने कहा कि सूई भीतर खोई थी। संत हंसने लगे कि राबिया, तेरी बुद्धि सठिया गई है। जो सूई घर के भीतर खोई है, तुम उसे घर के बाहर ढूँढ रही हो। राबिया ने कहा—क्या करूँ, घर के भीतर अंधेरा था और बाहर प्रकाश है, इसलिए बाहर ढूँढने में आसानी है, सुविधा है।

राबिया की बात सुनकर फ़कीरों ने कहा—आज जाना कि राबिया कितनी

अज्ञानी और मूढ़ है। आखिर घर में खोई सूई को घर में ही ढूँढना पड़ेगा। तब राबिया ने कहा—मैं तो सोचती थी कि तुम लोगों को ज्ञान नहीं है, लेकिन तुम्हारी बातों से अब ऐसा नहीं लगता। तुम लोगों को पता है कि घर में खोई सूई को घर में ही ढूँढना पड़ेगा, फिर तुम लोगों से ही पूछती हूँ कि तुम परमात्मा को, अपने आपको बाहर क्यों ढूँढ रहे हो ?

माना घर में अंधेरा है, मगर अंधेरे से पलायन करने से काम नहीं चलेगा। भले ही घर में अंधेरा क्यों न हो, प्रकाश भीतर में प्रज्वलित करना होगा और वह प्रकाश हम सबको प्रज्वलित करना है, अपने ही भीतर छिपी हुई आत्मा को पहचानना है। स्वयं में उतरना ही आत्मज्ञान के रहस्यों को जानने की कुंजी है।

कृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति अपनी आत्मा को पहचाने, मगर प्रश्न उठता है कि वह आत्मा है कहाँ ? उसको हम पहचानें कैसे ? उस तक पहुँचें कैसे ? उसके द्वार-दरवाजों को खोलने की कुंजी कौन-सी होगी ? आत्मा को जानो, आत्मा को पहचानो, यह बात सुनते-सुनते तो बुढ़ापा आ गया, मगर आत्मा किसी के हाथ में न आई। उसी की तरफ संकेत करते हुए कृष्ण कहते हैं कि 'हृदय में स्थित आत्मा को तत्त्व से जानो।' इससे यह रहस्य उद्घाटित हुआ कि आत्मा रहती कहाँ है ? जवाब है हृदय में।

हृदय तो भावों की व्यवस्था का नाम है। जब व्यक्ति अपने हृदय में उतरता है, अपने ही हृदय के पास आता है, तो वास्तव में व्यक्ति अपनी अन्तर्गुहा में दस्तक दे रहा है। अपने कदम उस ओर बढ़ा रहा है जहाँ वह स्वयं है। कृष्ण कहते हैं कि हृदय में स्थित आत्म-तत्त्व को योगीजन जानते हैं। हृदय मंदिर है। इस शरीर को हम मंदिर नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर तो मनुष्य के पास भी है और पशु के पास भी है। पशु के गुणधर्म मनुष्य के शरीर में भी सक्रिय हैं। तो क्या हम अपने मन को अपने जीवन का मंदिर समझें ? नहीं, मन मंदिर का रूप नहीं ले सकता, क्योंकि मन में बड़ी घृणा और वीभत्सता भरी है; मन में एक-दूसरे के लिए निंदा, एक-दूसरे के लिए कपट, एक-दूसरे के लिए पीड़ा और पाप की भावनाएँ समाई हुई हैं। मन में तो एक-दूसरे को पछाड़ने की प्रतिस्पर्धा है। मन को हम मंदिर नहीं कह सकते। वह तो राग-द्वेष का दलदल है। वासना और कामना का बवंडर है।

मन से जब हम आगे बढ़ते हैं अपने हृदय-स्थल तक, तो हमारा प्रवेश होता

है, हमारे अपने जीवन के मंदिर में, आत्मा के मंदिर में, भीतर बैठे देवता के मंदिर में। यह मंदिर मनुष्य का स्वयं का हृदय है। हृदयवान लोग ही आत्मा तक पहुंचते हैं, बुद्धिमान लोग उलझे हुए रह जाते हैं। बुद्धिमान आत्मा के बारे में सुन सकता है, पढ़ सकता है, लेकिन आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। आत्मा के बारे में जानना तो ज्ञानी का काम है। इसके बारे में चाहे जितना पढ़ लो, कंठस्थ कर लो, लेकिन प्राप्ति शून्य ही होगी। आत्मा के बारे में कितने दर्शन खड़े हुए हैं, पर इसका मतलब यह तो नहीं हुआ कि उन्होंने आत्मा को जान ही लिया।

सत्य के बारे में जानना और सत्य को जानना—इन दोनों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। सत्य के बारे में जानना बुद्धिगत कार्य है और सत्य या आत्मा को जानना चेतनागत, हृदयगत कार्य है। आत्मा के बारे में लोग बड़े-बड़े व्याख्यान दे देंगे। अगर उनसे पूछा जाये कि तुमने आत्मा को जाना है, तो उनसे जवाब देते न बनेगा। जिसको तुमने जाना ही नहीं, उसके बारे में तुम्हें कहने का हक़ नहीं है। मुझे याद है जब मैं दस-पन्द्रह साल पहले धुंआधार बोलता था तो हजारों की भीड़ प्रवचनों में उमड़ती थी। एक दिन मेरे मन में शंका हुई कि मैं दुनिया को कहता हूँ कि आत्मा का कल्याण करो। क्या है आत्मा और कैसी है आत्मा? किस रूह के कल्याण की मैं बात कह रहा हूँ? कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं भी दिग्भ्रमित हूँ और लोगों के सामने भी दिशा-भ्रम पैदा कर रहा हूँ? मन में उठने वाली उस प्रथम जिज्ञासा ने ही मुझे आत्मा की ओर उन्मुख किया। फिर कदम उस ओर बढ़े, योग से जुड़े, ध्यान से जुड़े, अध्यात्म की कई गहराइयाँ स्पष्ट हुईं। इस कारण यही कहना है कि जब तक अपने आपको न जान पाये, तो दूसरों के कल्याण की बातें मात्र व्यास-पीठ और सुधर्मा-पीठ पर बैठकर कथाकार और प्रवचनकार का दायित्व निभाना है।

आत्मा के बारे में जानना सामान्य बात है, विद्वत्ता की बात है। आज नहीं तो कल उसका पांडित्य ग्रहण कर ही लोगे। हां, आत्मा को जानना, आत्मा में जीना—यह साधना की पहल है। चूंकि कृष्ण हमें एक-एक अध्याय से गुजारते हुए आगे बढ़ा रहे हैं, इसलिए साधना की भी प्रेरणा देते हैं। अगर मन के भार को दरकिनार करके अपने आप तक पहुँचते हो, तो फिर मनुष्य के लिए कहीं कोई बंधन शेष रहता ही नहीं है। मन ही बंधनों के ताने-बाने बुनता है।

जब भगवान वृंदावन से द्वारिका की ओर रवाना होते हैं, तो वे उद्धव के

साथ अपनी राधा को एक संदेश भेजते हैं। संदेश में वे कहलवाते हैं कि कृष्ण द्वारिका की ओर जा रहे हैं। अब वे वापस कब लौटेंगे, पता नहीं, इसलिए मन में धैर्य रखें। उद्धव अपने आपको बहुत आत्मज्ञानी और ब्रह्मज्ञानी समझता था। उसने आते ही राधा से कहा कि यह मोह-माया बड़ी नश्वर है। यह प्रेम और राग का संबंध क्या रखना। कृष्ण तो ब्रह्मज्ञानी है। तुम क्यों उसके प्रेमजाल में फंसी हो। उनसे निर्लिप्त हो जाओ, उनके मोह को छोड़ दो। राधा ने ब्रह्मज्ञानी उद्धव से कहा—उद्धव, तुम्हारा ब्रह्मज्ञान अधूरा है। तुम अगर यही समझते रहे कि कृष्ण और राधा के बीच 'पति-पत्नी' का शारीरिक संबंध है, तो यह तुम्हारा सोचना भी अपने आप में एक पाप है। हमारा और उनका संबंध कोई शरीर का नहीं, हृदय का है, आत्मा का है। वे आयें या न आयें, राधा उन्हीं के लिए जी रही है। तब राधा कहती है—

जो मैं ऐसा जानती रे प्रीत किये दुःख होय,
जगत ढिढोरा पीटती रे प्रीत न कीजे कोय ।

तुम समझ ही नहीं पा रहे हो। तुम्हारा मतलब तो यही है कि प्रेम दुःख देता है, पीड़ा देता है। तुम्हें नहीं पता कि यह प्रेम की पीड़ा हम लोगों को कितना आनंद देती है। हमारा संबंध कोई शरीर का नहीं, हृदय का है, आत्मा का है। अगर कृष्ण तक भी पहुँचना है, तो व्यक्ति आत्मा के जरिये ही पहुँच सकता है, अपने मन, बुद्धि और इंद्रियों के जरिये नहीं पहुँच सकता। हृदय एकमात्र मार्ग है आत्मा तक पहुँचने का, क्योंकि आत्मा हृदय में है; भक्ति, प्रेम और श्रद्धा का निवास मनुष्य के हृदय में ही होता है। हृदय मनुष्य का केन्द्र है, धुरी है। हृदय प्रेम, श्रद्धा और भक्ति का तीर्थस्थल है।

श्रद्धा ऐसी हो, जैसी माँ की होती है। मां तो स्वयं श्रद्धा का साक्षात् रूप है। श्रद्धा के मायने होते हैं उस व्यक्ति के प्रति समर्पित भावना जिसके बिना हम जी ही न पायें। भूल ही जाये व्यक्ति कि हम दो हैं। द्वैत का भाव टूट जाये, एक का भाव रह जाये। जितना प्रेम, जितनी श्रद्धा, जितना वात्सल्य माँ और बेटे के बीच होता है, वैसा ही संबंध होना चाहिये।

वह हृदय ही क्या जो माँ के लिए, पिता और परमात्मा के लिए समर्पित

होकर अपने आपको कुर्बान न कर सके। इसीलिए तो दो शब्दों का प्रयोग किया है—एक है दिल और दूसरा है हृदय। हृदय का संबंध माँ के साथ होता है और दिल का संबंध प्रेमी, प्रेमिका या पत्नी के साथ होता है। हृदय का बिगड़ा हुआ रूप दिल है और दिल का सुधरा हुआ रूप हृदय है। हृदय अगर सक्रिय हो जाये तो परमात्मा को चाहेगा, दिल अगर सक्रिय हो जाये, तो पत्नी या पति को चाहेगा। मामला जब दिल का हो तो बात अलग ही बन जाती है। जीवन में ऐसा पुण्य करो कि हृदय सक्रिय रहे, माँ जैसी श्रद्धा हृदय में पनप जाये।

आप लोगों ने राजा पुरू के ज़माने की वह घटना सुनी होगी कि दो महिलाएँ लड़ती-झगड़ती दरबार में पहुँचीं। उनके साथ एक बच्चा था। वे दोनों इस बात पर तू-तू मैं-मैं कर रही थीं कि वह बच्चा उन दोनों में से किसी एक का था, लेकिन दूसरी औरत उसको हथियाना चाहती थी। राजा ने धैर्यपूर्वक दोनों को सुना। राजा को कोई मार्ग न सूझा। अंततः राजा ने कुछ सोचकर कहा कि चूँकि इसके दो हकदार हैं, इसलिए बच्चे के दो टुकड़े करके दोनों में बाँट दिये जायें।

राजा का निर्णय सुनकर एक महिला चिल्ला पड़ी। नहीं, असली माँ यही है। मैं तो झूठ बोल रही थी। यह लड़का इसे ही दे दिया जाये। मेरी फरियाद गलत है। यह सुन राजा ने कहा 'असली माँ यही है।' यह झूठ नहीं, सच बोल रही है। इसका दिमाग़ नहीं, दिल बोल रहा है। दिमाग़ वाले बोल ही देंगे कि बच्चे के टुकड़े कर दिये जायें, परिवार, समाज और राष्ट्र को बाँट ही दिया जाये, लेकिन हृदय वाले लोग कभी भी टुकड़ों को पसंद नहीं करेंगे।

आदमी हृदयवान बने, हृदय के मार्ग से जीये, प्रेम को स्वीकारे, शांति को जीये। आपके पास हृदय नहीं है, तो कोई काम के नहीं हैं आप। आप कितने बुद्धिमान, कितने विद्वान और कितने ही अमीर क्यों न हों, कोई अर्थ नहीं है। हृदय ही नहीं है, तो तुम आत्मा के पास नहीं जीते। हृदय में उतरकर ही हम अपने आप तक पहुँच सकते हैं। हृदयवान होना आत्मवान होने की अनिवार्य शर्त है। बगैर हार्दिकता के मनुष्य, मनुष्य नहीं वरन् मशीन है, मृत है। हृदय में उतरो, हृदय का मार्ग प्रशस्त होने दो। हृदय के द्वार-दरवाजों को खोल ही लो। हृदय ही क्षीरसागर है, जहाँ विष्णु की शय्या है। हृदय ही वह मंदिर है, जहाँ अन्तर्यामी का वास है।

हाथ छुड़ाकर जात हो,
निर्बल जान के मोहे ।
हृदय से जब जाओ तो,
सबल मैं जानू तोहे ॥

हृदय से जाना मुश्किल है, वह लीलाधर तो हृदय में रहता है, बाहर भले ही वह अठखेलियाँ करता हुआ नजर आये, पर भीतर से वह कहीं और लुप्त नहीं हो सकता ।

हृदय में आएँ, हृदय में ध्यान धरें, हृदय में रास रचाएँ । बगैर हृदय-के सरोवर में डुबकी लगाए आत्मज्ञान का रहस्य हाथ नहीं लग सकता ।

एक आदमी एक साल में अमीर बन सकता है, लेकिन एक साल की मेहनत से वह विद्वान नहीं बन सकता । विद्वान होने के लिए आदमी को दसों-बीसों साल खपाने पड़ते हैं । इतना समय गुजर जाने पर भी यह जरूरी नहीं है कि आदमी आत्मज्ञानी हो जायेगा । एक आदमी का अमीर होना सरल है, लेकिन विद्वान होना उससे भी कठिन है । विद्वान होना सरल है, मगर आत्मज्ञानी होना उससे भी कठिन है । आत्मज्ञान का मार्ग अपने आपको ही जानने का मार्ग है । यह मार्ग हृदय से प्रारम्भ होता है । आत्मा स्वयं हृदय में स्थित है, इसीलिए मैंने कहा—वहीं पर शुरुआत है, वहीं पर पड़ाव है और वहीं पर मंजिल है । हृदय से ही यात्रा प्रारम्भ होगी, हृदय पर ही समापन होगा ।

सूत्र कहता है कि केवल चेष्टाओं से, केवल यत्न करने से ही, क्रियाकांड, यज्ञ, दान और तप करने भर से ही कोई आदमी आत्मा को नहीं जान लेता है ।

अज्ञानी आदमी आत्मा को नहीं जान सकेगा । जिस आदमी का अंतःकरण शुद्ध नहीं हुआ, वह व्यक्ति चाहे जितने प्रयत्न कर ले, लेकिन अपने मूल अस्तित्व और मूल स्रोत तक नहीं पहुंच सकता । सूत्र का दूसरा चरण है कि अंतःकरण शुद्ध करो । बगैर अंतःकरण को शुद्ध किये योग सधता ही नहीं है । मान लो योग सध भी गया, तो उस योग का परिणाम अशुभ ही होगा । योग और ध्यान तो राम का भी सधा और इन्द्रजीत का भी, लेकिन इन्द्रजीत ने अपने योग के परिणाम के रूप में राम-लक्ष्मण की मृत्यु चाही थी । योग और ध्यान तो दुर्वासा ऋषि का भी सधा, लेकिन सिवाय अभिशाप देने के उन्होंने अपने जीवन में कोई काम ही नहीं

किया ।

मुद्दे की बात यही है कि अगर हमारा अंतःकरण शुद्ध नहीं है, तो एक क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति अपने योग को साध भी बैठा, तो उस योग के द्वारा वह वरदान तो किसी को दे पायेगा या नहीं, लेकिन अभिशाप जरूर देता फिरेगा । वह संत ही क्या, जो अभिशाप दे । सच्चे साधु अभिशाप नहीं देते; असाधु ही शाप का भय दिखाते हैं । साधुत्व की कसौटी यही है कि साधु अभिशाप देने से अपने आपको अलग और मुक्त रखे । तुम किसी का भला कर सकते हो, तो करो, कम-से-कम बुरा तो मत करो । भला करना अच्छी बात है, लेकिन बुरा करना—यह जीवन में पाप का उदय है, भले ही योग करते फिरो ।

कृष्ण यह चुनौती दे रहे हैं कि अन्तःकरण शुद्ध न हुआ, तो चाहे जितने यत्न कर लो, मगर फिर भी आत्मा तक नहीं पहुँच सकोगे । शुद्धि चाहिये अन्तःकरण में । ठीक ऐसे ही जैसे कोई व्यक्ति मंदिर जाना चाहता है और मंदिर जाने से पहले स्नान जरूरी है, ऐसे ही जीवन के सर्वोपरि ज्ञान को उपलब्ध करने के लिए अपने अंतःकरण का स्नान भी जरूरी है । आत्मा कहीं खोई नहीं है और न आत्मा का प्रकाश खोया है । कमी केवल इतनी ही है कि लालटेन को घेरे हुए काँच पर कल्मष जम गया है । काँच के गोले को साफ़ करो, अपने आप प्रकाश बाहर तक पहुँचेगा । मन में कचरा भरा पड़ा है, नतीजतन आदमी प्रकाश से वंचित है, इसीलिए कहा है—अन्तःकरण में शुद्धि ।

अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए ध्यान है, योग है । कुछ ऐसे नियम और उपनियम भी आपको सुझा देता हूँ, जो आपकी अन्तःकरण की शुद्धि में मददगार हो सकते हैं । पहला सुझाव तो यह दूंगा कि अंतःकरण में जो उधेड़बुन चल रही है, उस पर अपना अंकुश लगाओ; दिन-रात चित्त डोल रहा है, उस पर अपना नियंत्रण लगाओ । अंतःकरण पर अंकुश लगाना ही अंतःकरण के प्रति सजगता है, शुद्धि के लिए पहला सार्थक अभियान है ।

हर मनुष्य के भीतर तृष्णा और कामना का उद्वेलन है । कल्पनाओं की उधेड़बुन है । सबके मन में संसार-चक्र प्रवर्तित है । हमें संसारचक्र में धर्मचक्र का प्रवर्तन करना होगा । भीतर के तमस से छुटकारा पाना होगा । और इसके लिए जीवन के हर पहलू पर संयम और नियंत्रण होना चाहिये । खाना-पीना,

उठना-बैठना, सोना, कमाना, बतलाना सभी इतने सौम्य और संयमित हों कि जीवन स्वयं एक तपस्या बन जाये और अन्तःकरण को, उसमें चल रही अनर्गलता से छुटकारा मिले ।

दूसरा सूत्र यह दूंगा कि प्रतिक्रिया और प्रतिशोध से बचो । प्रतिक्रिया मानसिक हिंसा है, मानसिक पीड़ा और घुटन है । क्रिया, क्रिया रहे, वह प्रतिक्रिया न बने । किसी ने कहा, वह आपकी आलोचना कर रहा है । अब यहां क्रिया भी हो सकती है और प्रतिक्रिया भी । क्रिया यह कि कोई बुराई कर रहा है तो इसमें बुरा क्या है । बुरा था तभी तो साधु बना और साधु बनकर अपनी बुराइयों के तमस को बाहर फेंक रहा हूं । अगर आत्मा साधु ही होती, तो साधुत्व का परिवेश भी स्वीकार करने की जरूरत कहाँ रहती । अच्छा ही है अपनी जिस बुराई को मैं न पहचान पाया, वह उसने मुझे बतला दी । प्रतिक्रिया यह होगी कि वह कौन-सा दूध का धुला है । मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि उसमें क्या-क्या कमी है, कितनी बार जेल की हवा खा आया है ।

प्रतिक्रियाएँ प्रगाढ़ हो जायें तो प्रतिशोध की भावना प्रगाढ़ हो जाती है । प्रतिशोध वैर और हिंसा है, जो कि अन्तःकरण की अशुद्धि है, भीतर उल्टा कचरा बटोरते हैं । इसलिए प्रतिक्रिया नहीं, क्रिया हो, और प्रतिशोध नहीं, सद्भावना हो ।

तीसरा सूत्र यह दूंगा कि जब भीतर का उद्वेलन या भीतर की कल्मषता प्रकट होने लगे, तो अभिव्यक्ति के समय अपना विवेक कायम रखो । अगर भीतर में क्रोध की तरंग पैदा हुई है, तो इस क्रोध को प्रकट करने में अपना विवेक लगाओ; अगर अहंकार या विकार का भाव बन रहा है, वो प्रकट हो, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति में विवेक रहे । अगर किसी स्त्री को देखकर मन चंचल हुआ, किसी चित्र को देखकर मन व्याकुल हुआ, तो अपनी व्याकुलता की अभिव्यक्ति में विवेक रखो । अच्छा होगा मनुष्य सर्वत्र मां के भाव को स्थापित करे, ताकि उसका मन इतना अधिक चंचल न हो । बोलने, खाने-पीने, सोने-उठने सभी में विवेक होना चाहिये । विवेकपूर्वक अगर क्रोध को भी प्रकट करो, तो कोई हानि नहीं और अविवेक से प्रेम को भी प्रकट किया जाये, तो उससे भी नुकसान ही होगा ।

चौथी बात यह कहूंगा कि हमारे अंतःकरण में जो दुर्गुण व्याप्त हैं, उनकी

चिंता छोड़ो और अपने जीवन में गुणों को लाने का प्रयास करो। जैसे-जैसे गुण आते चले जायेंगे, अवगुण अपने आप कम होते चले जायेंगे। अंधकार को भगाना हो, तो दो-चार दीये जलाओ, अपने आप अंधकार मिटेगा। अपने जीवन में गुण लाओ, अवगुण अपने आप मिटेंगे। ऐसे तो कितने अवगुणों का प्रायश्चित्त करोगे, कितने अवगुणों का दुःखड़ा रोओगे। जो है, सो है। हम अंधेरे को न कोसें, अपने जीवन में सद्चिचारों के, सद्चिवेक के, सद्भावनाओं के दीप जलाएं। वे दीप अपने आप ही भीतर के तमस को दूर करेंगे, अंधेरे को भगाएंगे।

ये कुछ ऐसे सूत्र हैं, जो हमारे लिए सार्थक हो सकते हैं, जो हमारी अंतःकरण की शुद्धि में मददगार हो सकते हैं। स्वयं को जानना सबसे बड़ा पुण्य है और स्वयं से अनजान बने रहना सबसे बड़ा पाप है। पाप से पुण्य की ओर बढ़ना अच्छा है; पुण्य से निर्वाण की ओर, मुक्ति की ओर बढ़ना और भी अच्छा है। अच्छा होगा हम अपने जीवन में गुणों को बढ़ायें, ताकि अवगुण अपने आप समाप्त हो जायें, नष्ट हो जायें। प्रकाश स्वयं तमस की कारा को काटेगा, स्वतन्त्रता का रसास्वाद कराएगा।



देवत्व की दिशा में दो कदम

आज हमारी परिचर्चा गीता के सोलहवें अध्याय पर केन्द्रित रहेगी। गीता की महायात्रा में जैसे-जैसे हम कदम-ब-कदम बढ़ते चले जा रहे हैं, हम अपनी यात्रा में, इसके पड़ावों में, नये-नये अनुभवों से रू-ब-रू हो रहे हैं, नया रस, नया अनुभव मिलता चला जा रहा है। हर युगांतरकारी परिवर्तन के बावजूद गीता के संदेश सम-सामयिक हैं और भविष्य में भी इनकी उपादेयता बरकरार रहेगी। जैसे-जैसे हम गीता की अनंत गहराइयों को स्पर्श कर रहे हैं, उज्ज्वलतम चमकते हुए रोशनी से सराबोर मोती हमारे हाथ लगते चले जा रहे हैं।

गीता की सुगंध अपने आप में अनुपम है। यह खुशबू हर गुल से जुदा, हर फूल से अलग है। मैंने फूलों को खिलते हुए देखा है, दुर्गन्ध को सुगन्ध में परिणत पाया है। ऐसा ही परिवर्तन आपके जीवन में भी घटित हो सकता है, यदि आप गीता को अपने जीवन में स्वीकार कर पायें; गीता आपके जीवन का गीत बन पाये। तब जिन शब्दों से मनुष्य गालियाँ निकालता है, वे शब्द बदलाव की पुरवाई से गुजरकर जीवन के गीत बन सकते हैं। जिन गालियों को सुनाकर व्यक्ति क्रोधित और उद्वेलित होता है, वे ही हमारे लिए मन्दिर की सीढ़ियाँ बन सकती हैं।

युगांतरकारी परिवर्तनों के बावजूद गीता आज भी मनुष्य के कायाकल्प और उसके जीर्णोद्धार के लिए पूरी तरह समर्थ है। प्रत्येक शास्त्र का सम्मान और सार्थकता इसी बात में होती है कि हम उन शास्त्रों को अपने जीवन के साथ कितना जी पाते हैं। इसलिए पहले चरण में तो गीता को अपने में उतारो और जब गीता का आचमन होने लगे, तो तुम स्वयं गीता के मझधार में उतर ही जाओ, पर इसके लिए पहले तो अपने द्वार-दरवाजों को खोलो, ताकि ये भागवत-सूत्र हमारे अंतरंग में प्रवेश कर सकें। जब अंतःकरण में ये क्रान्ति ही मचा दें, रूपांतरण की चेतना के द्वार खोल दें, तो फिर उनमें डूब जाओ, उतर ही जाओ, गहरे पैठ जाओ, उतरने और पैठने से ही गीता पुनर्जीवित होती है। युद्ध के प्रांगण में कही गई यह गीता बार-बार जन्म लेनी चाहिये; एक-एक मनुष्य के अंतःकरण में इसका जन्म होना चाहिये।

गीता में बड़ी सुगन्ध है। ऐसी सुवास, जो मनुष्य को मुक्ति प्रदान कर दे; जो मनुष्य को आह्लादित और आनंदित कर दे। सोलहवें अध्याय के रूप में एक नये पड़ाव की स्थापना करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य तो केवल एक अवसर है और मनुष्य उस अवसर का जैसा उपयोग करना चाहे, अवसर वैसा ही परिणाम मनुष्य को दे देता है। अगर जीवन मिला है, तो यह हमारे लिए एक अपूर्व और महान् अवसर है। मनुष्य-जीवन का फूल ऐसे ही नहीं खिलता, इसके लिए तो कई कुर्बानियाँ चुकानी पड़ती हैं। यह फूल ऐसे ही सोये-सोये खोने या मुरझाने के लिए नहीं है। जीवन को विधायक रूप चाहिये।

जीवन तो एक अवसर है। यदि इस अवसर का उपयोग सदाचार और सद्चिारों के प्रवर्तन में करते हो, तो तुम मनुष्य-जीवन में दैवीय गुणों के स्वामी कहलाओगे। अगर तुम दुराचार और दुर्विचारों के संवाहक बनते हो, तो आसुरी प्रकृति के स्वामी हो जाओगे। देवत्व और शैतानियत—दोनों ही मनुष्य के दो विकल्प हैं। खिलावट और गिरावट दोनों का आधार स्वयं मनुष्य है।

जीवन की खिलावट का नाम देवत्व है और जीवन की गिरावट का नाम शैतानियत है। जब भी अंतःकरण में प्रेम की सुवास उठे, करुणा के निर्झर बहे, शांति की वीणा बजे, तो समझना कि तुम्हारे जीवन में देवत्व की बढ़ोतरी हुई है। इसके विपरीत यदि किसी के प्रति प्रतिस्पर्धा, निंदा या पछाड़ने का भाव जगे, तो समझ लेना शैतानियत अपना बसेरा आपके अन्तर्गृह में कर रही है। जीवन अगर

अभ्युत्थान के मार्ग पर बढ़ रहा है, तो तुम देवत्व की ओर बढ़ रहे हो, वहीं अगर चेतना निम्नतम दशाओं को छूने लगे, तो समझो तुम शैतानियत और आसुरी प्रकृति से जुड़े ।

जीवन हमें वरदान है, प्रकृति की सौगात है । जीवन पुण्य का प्रसाद है, पुण्य रूप है । पर पुण्य छला गया है । आसुरी सम्पदा ने दैवीय सम्पदा को निगल लिया है । अब पापी हावी है । पुण्य से जो मिला, वह इतना हावी हो गया कि पुण्य स्वयं पाप की प्राचीर बन गया । कोई माघनन्दी भटक ही गया, चिन्मय मृण्मय के भाव बिक गया । सौभाग्य, आज अहसास हुआ—

मैं पुण्य रूप था, पाप बना,
मेरा जीवन है पंक सना ।

गढ़नी थी उज्ज्वल मूर्ति एक,
पर मैं धुंधला इतिहास बना ॥

मैं था तो पुण्य स्वरूप ही, मगर जीवन किन अंधे-अभिशाप्त गलियारों से गुजर पड़ा कि यह दलदल-सा बन गया है । हमें अपने जीवन की माटी को एक ऐसा रूप देना था कि यह माटी, माटी न रहे, एक दीया बन जाये । यह जीवन एक पत्थर की तरह न रह जाये, वरन् वह पत्थर भी किसी परमात्मा की मूरत बन जाये । यह जीवन कोई पाषाण का अंश न रहे । जीवन हमसे कुछ परिवर्तन चाहता है, परिवर्तन की पुरवाई चाहता है । हमारा जीवन स्वर्ग की प्रतीक्षा में है, पर मनुष्य जीवन को धोखा दे रहा है, जन्त के नाम पर जहन्नुम को भोग रहा है । यह मनुष्य की दुर्बुद्धि है कि मनुष्य ने जहन्नुम को भी जन्त समझ लिया है । स्वर्ग मनुष्य के पास है, उसके भीतर है । उस स्वर्ग को जीना आना चाहिये । अगर स्वर्ग को न जी पाये, तो परमात्मा को कैसे जीओगे ? मरणोपरांत मिलने वाला स्वर्गीय का अलंकार तो हमारी मज़बूरी होता है । जीते-जी अगर हम स्वर्ग को जीते हैं, तो यह हमारे जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि होगी ।

मैंने जीवन में स्वर्ग को जाना है, स्वर्ग को जीवन में निरन्तर पल्लवित होते देखा है । भूतकाल क्या था या भविष्य कैसा होगा, उसकी परवाह नहीं है । अगर वर्तमान स्वर्ग है, तो भविष्य स्वर्गमय ही होगा । वर्तमान अगर जहन्नुम है, तो भविष्य जन्त नहीं हो पायेगा । भविष्य तो वर्तमान का परिणाम होता है । जैसा

हमारा आज है, वैसा ही आने वाला कल होगा। अगर आज का जीवन आसुरी प्रवृत्तियों से गुजर रहा है, तो कोई संभावना नहीं है कि मरने के बाद देवत्व हमारे जीवन में घटित हो जाये। हाँ, परिवार वाले जरूर लिख देंगे कि उनके दादाजी स्वर्गीय हुए, भले ही वे नरक में ही क्यों न गये हों। तस्वीर पर यही तो लिखना है—स्वर्गीय श्रीमान अमुक चंद जी। क्या मनुष्य की तस्वीर पर, उसकी प्रतिछवि पर स्वर्गीय लिख देने भर से वह स्वर्ग में चला जायेगा? हमारी प्रकृति तो आसुरी प्रकृति है। यह तो घृणा और द्वेष, निंदा और वैमनस्य, आक्रोश और अपराध से भरी हुई है। इन आसुरी प्रवृत्तियों के रहते व्यक्ति देवत्व को प्राप्त करे, यह संभावना तो नहीं लगती।

हम स्वर्ग को उपलब्ध कर पाएँ, इसके लिए कोई चालबाजी या कोई वणिक-वृत्ति कारगर नहीं होने वाली। वहाँ तो दूध का दूध और पानी का पानी ही होगा। वहाँ तो केवल मोती ही चुने जाते हैं, मोती ही बीने जाते हैं, बाकी के दाने तो कौओं के लिए छोड़ दिये जाते हैं और मनुष्य को नरकवासी होना पड़ता है। उस नरक को तो मरने के बाद भोगोगे, लेकिन पहले अपने आज के जीवन पर भी नजर डाल लो कि कहीं यह तो नरक बना हुआ नहीं है। अच्छा होगा, एक बार हम नरक पर नजर डालें, भीतर में पल रहे, जमा हुए नरक पर। स्वर्ग की हम चर्चा करते हैं, स्वर्ग के नक्शे बनाते हैं, स्वर्ग की आराधना करते हैं, पर स्वर्ग कितना हमारा सहचर बना हुआ है? जीवन कितना जन्नत है, इस बात पर गौर करो। देवत्व के गुण, दैवीय सम्पदा हमारे पास कितनी है, यह बात गौरतलब है। क्या हमारे भीतर धैर्य है? क्या पिता के दो कटु शब्द सुनने की सहिष्णुता है हममें? राह चलते अगर कोई घायल पशु-पक्षी मिल जाये, तो उसको घर तक लाकर जरूरी इलाज कर पाने की भावना है अंतर्मन में? क्या हमारे अपने भीतर वह सेवा का भाव है कि हमारी अपनी माँ या सास रुग्ण हो जाये, तो उसका मल-मूत्र उठाने को हम तैयार हैं? देवत्व कोई उधार नहीं मिलता या आसमान से नहीं टपकता। उसका जन्म तो मनुष्य के अपने अंतःकरण में होता है। सद्विचारों और सदगुणों से अपने ही अन्तःकरण में देवत्व का प्रादुर्भाव करना पड़ता है।

कृष्ण हमें आसुरी प्रवृत्तियों से बचाकर देवत्व की तरफ ले जाना चाहते हैं। कृष्ण कहते हैं कि तुम अपने देवत्व की तरफ बढ़ोगे, बस आसुरी प्रवृत्तियों से अपने आपको बचा लो, तब जीवन स्वतः आगे की तरफ प्रवृत्त होगा। चेतना

की लौ का स्वभाव है कि वह हमेशा ऊपर की ओर उठती है । लौ ही शायद वह चीज है, जिस पर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का असर न पड़ता हो । चेतना की तुलना, उसके संतुलन की तुलना हमेशा दीये की लौ के साथ की जाती है । जैसे लौ ऊपर की ओर उठती है, ऐसे ही चेतना भी हमेशा ऊपर की ओर उठती है, बशर्ते व्यक्ति अपने आपको आसुरी प्रकृति से बचाकर रखे ।

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।
 क्योंकि तुम इन्सान हो;
 परमात्मा के प्राण हो ।
 तुम गगन से और भी

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।

वृत्ति पाशव छोड़ दो;
 वेग को तुम मोड़ दो ।
 हे मनु के वंश-धर,

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।

तुम चढ़ो दिग्मेरु पर
 तुम बढ़ो, हो अग्रसर ।
 धूम्र-वर्षा-मेघ से,

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।

तुम्हें ऊपर उठने का निमंत्रण है, आह्वान है । अपनी पाशव-वृत्ति से ऊपर उठने का आह्वान । जैसे ज्योति ऊपर उठती है, ज्योति परम ज्योति से तदाकार होती है, ऐसे ही उठना है ऊपर । आसुरी से दैवीय गुणों की ओर बढ़ो । वेग को, जीवन की राहों को विधायक मोड़ दो । गीता दिव्य जीवन का द्वार है । देवत्व की दिशा में कदम उठाने की संप्रेरणा है । और इसके लिए जरूरी है कि आदमी उन द्वारों से बचे, जिन्हें जीवन के नरकद्वार कहा गया है ।

गीता का आज सूत्र है —

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
 कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

अर्थात् काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, जो आत्मा को नाश करने वाले हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

मनुष्य तो एक पथिक है, एक राहगीर है, महायात्रा पर निकला हुआ एक महान् यात्री है। इस जीवन-यात्रा में हर आदमी देवत्व की तरफ़ बढ़ रहा है। देवों की टोलियाँ, देवत्वकी रश्मियाँ अगवानी करने के लिए खड़ी हैं, लेकिन हम वहाँ पहुँचे उससे पहले थोड़ी बाधाएँ, थोड़े खतरे हैं। स्वर्ग की ओर जाने वाला रास्ता नरक के बीच में से गुजरता है। हम स्वर्ग तक पहुँच तो जायेंगे, मगर नरक के दरवाजों से हमें अपने आपको बचाना होगा, तभी इस महायात्रा की मनचाही मंजिल मयस्सर हो पायेगी।

मैंने सुना है : एक बार शिखर के मन्दिर से, नीचे तलहटी पर यह संदेश आया कि भगवान के घर में कुछ पुजारियों की ज़रूरत है। तलहटी पर जो सद्गुरु रहते थे, उन्होंने एक साथ सौ शिष्यों को शिखर की ओर रवाना कर दिया। लोगों ने पूछा कि भगवान, ऊपर तो दो-चार पुजारियों की ज़रूरत होगी। आपने तो एक साथ सौ शिष्यों को भेज दिया। सद्गुरु ने कहा—मैंने सौ शिष्य भेजे हैं, मगर जब ऊपर से संदेश आयेगा, तो पता चल जायेगा कि वहाँ कितने शिष्य पहुँचे हैं ? ऐसा ही हुआ। कुछ दिनों बाद यह संदेश मिला कि ऊपर कोई चार-पांच पुजारी पहुँच गये हैं।

यह मार्ग ही ऐसा है कि कोई विरला ही पहुँच पाता है। बाकी के सब तो नरक की भूलभुलैया में ही भटक जाते हैं। शिखर की ओर रवाना तो सौ शिष्य हुए, लेकिन पहुँचे चार-पांच ही, क्योंकि कुछ तो थक गये, इसलिए बीच में ही रुक गये। कुछ को रास्ते में सौन्दर्य ने ऐसा लुभाया कि वे उसमें ही रच-बस गये। बाकी के लोगों को यश और पैसे की भूख ने ऐसा उलझाया कि वे रास्ते के ही होकर रह गये। बीच में आने वाले पड़ाव, बीच में आने वाले पैसे के गांव, प्रतिष्ठा के गांव, सौन्दर्य के गांव आदमी को बीच में ही अटका देते हैं, भटका देते हैं। कोई-सा ही आदमी वहाँ तक पहुँच सकता है।

महामार्ग पर माया सौ रूप लेकर आती है महापथिक को उलझाने के लिए। कोई मेनका और उर्वशी आएँ और आदमी उस माया में न उलझे, यह कठिन है। वह रूप-दर्शन, उसका स्पर्श, उसकी संवेदना ! चित्त न जाने किन परमाणुओं का

बना है, फूट ही जाता है। और इस तरह शिखर की यात्रा के लिए निकला साधक बीच के पूजा-पाठ और रस-डुबकियों में ही स्वर्ग समझ लेता है। कृष्ण सावधान कर रहे हैं, बेटे ! चूक गए। मन ने जिसे स्वर्ग का साम्राज्य जाना, वह नरक का द्वार है। ऊपर-ऊपर स्वर्ग लगता है, मगर नरक के दरवाजों का शृंगार कुछ ऐसा किया होता है कि स्वर्ग लग ही जाता है और इस तरह व्यक्ति चक्कर में पड़ जाता है। क्रोध, लोभ, काम के बबूल में यह तनकी, मन की चदरिया फंस जाती है।

मनुष्य को काम बड़ा रस देता है, ऐसे ही कि जैसे कोई शहद का छत्ता हो और एक-एक बूंद उसमें से गिरती है। आदमी को बड़ा रस आता है। मनुष्य स्वयं ऊर्जा का पिंड है, ऊर्जा का समूह है, लेकिन वह अपनी ऊर्जा को इस काम के दरवाजे पर जाकर खर्च कर डालता है, अपव्यय कर देता है। जिस ऊर्जा का कार्य खिलावट होना चाहिये था, वही ऊर्जा उसकी गिरावट में सहयोगी बन जाती है। मनुष्य को लगता है कि अगर मैंने काम के नरक के दरवाजे का सेवन कर भी लिया, तो क्या फ़र्क पड़ा। भले ही उसे ऐसा अहसास हो, लेकिन हकीकत कुछ और है। एक बीज एक बरगद को जन्म दे सकता है, एक अणु-बम पूरे नागासाकी को, हिरोशिमा को नष्ट कर सकता है। विज्ञान कहता है कि एक अकेले मनुष्य के पास चार हज़ार मनुष्यों को जन्म देने की ऊर्जा और क्षमता समाई हुई है। मनुष्य एक-एक अणु की मूल्यवत्ता को पहचान ही नहीं पाता। अगर ऊर्जा का विस्फोट बाहर की तरफ़ होगा, तो कोई नागासाकी ही ध्वस्त होगा और अगर ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण हो जाये, तो चेतना के लिए मुक्ति के मार्ग खुल जायेंगे, देवत्व के द्वार खुल जायेंगे, बुद्धत्व का आभामंडल विकसित हो जायेगा।

काम मनुष्य का पहला नरक का द्वार है। काम ही तो वह बंधन है, जो मनुष्य को संसार से बांधे रखता है। फ्रायड तो कहता है कि मनुष्य का मूल संवेग ही काम है। अगर मनुष्य के अन्तःकरण से काम की वृत्ति समाप्त हो जाये, तो उसकी जन्म-जन्मांतर की जीवेषणा ही बुझ जाये। कारण, काम ही मनुष्य को जीने के लिये प्रेरित करता है। फ्रायड, जिसने दुनिया को अपना मौलिक मनोविज्ञान और दर्शन दिया उसका निष्कर्ष यह है कि काम मनुष्य का मूल संवेग और मूल प्रेरणा है। काम ही सुख है, काम ही रस है।

मनुष्य में सोते-जागते, उठते-बैठते, हर समय काम की धारा जारी रहती

है। जैसे-जैसे मनुष्य के शरीर का विकास होता है, अपने आप हमारे अवचेतन जगत में, सोये हुए मस्तिष्क में उसकी धारा, उसके स्नायु तंतु स्वतः ही जाग्रत होने लग जाते हैं, अनायास, अपने आप। हमारा जन्म माता-पिता के संयोग से हुआ और जब हमारा शरीर विकसित होगा, तो हमारे अंतःकरण में अपने माता-पिता के सांयोगिक भाव पनपने लग जायेंगे। यह शरीर का स्वभाव है, मनुष्य की प्रकृति है। यह आसुरी प्रकृति अपने आप जन्म-जन्मांतर से माता-पिता से एक सौगात के रूप में प्राप्त करते आये हैं।

दिन में आदमी की आँखें बाहर खुलती हैं और बाहर का सौंदर्य देखती हैं और रात में उसकी आँखें बंद हो जाती हैं, तो वह सपनों में सौंदर्य देखता है। दिन में आदमी लोक-लाजवश नियंत्रण भी रख लेगा, लेकिन सपनों में तो वह अकेला और स्वच्छंद होता है। जो मन में आये, सो करे।

सुना है मैंने ! एक महिला ने सुबह उठते ही अपने पति को डांटा। सीधा-सादा पति; बेचारा सुबह-सुबह पत्नी के मुँह से ऐसी-वैसी बात सुनकर चौंका। उसने पूछा—आखिर बात क्या है ? पत्नी ने जवाब दिया—मैंने आपको दस-बीस औरतों के साथ बात करते हुए देखा है। वह फिर चौंका। उसने कहा—तुमने कब और कहां देखा ? मैं तो घर से ऑफिस और ऑफिस से सीधा घर आता हूँ। पत्नी ने खुलासा किया कि दरअसल रात को मैंने सपना देखा था, जिसमें तुम दस-बीस औरतों के साथ बतिया रहे थे। पति ने कहा, अरे, वह तो सपना था और सपना भी तुम्हारा। पत्नी बोली, सपनों को सच होते कितनी देर लगती है। और फिर जब तुम मेरे सपनों में आकर इतना कुछ कर जाते हो, तो अपने सपनों में तो तुम क्या-क्या करते होंगे।

सपनों का सच ! सपने तुम्हारी प्रकृति को तुम्हें दर्शा देते हैं। आसुरी प्रकृति वालों को विकृत और लम्पट सपने आते हैं। कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य अगर नरक के इस दरवाजे को पार कर जाये, तो उसके जीवन में देवत्व को घटित होने से कोई नहीं रोक सकता, मगर इसे पार करना मनुष्य को हंसी-खेल नहीं लगता। वह साठ वर्ष को हो जाये तो भी कामाग्नि में जलता रहता है। उग्र की उस दहलीज़ पर भी नरक का यह दरवाजा उसे इतना भाता है कि वह यही सोचता है यही ज़िंदगी है, यही ज़िंदगी का सुख है और यही ज़िंदगी का सार है। आपने देखा होगा कि मछुआरा अपने कांटे में आटा लगाकर सरोवर में फेंकता है।

मछली कांटे में लगे आटे का देखकर खुश होती है। वह उसे झट से लपक लेना चाहती है। वह आटे को अपने मुंह में लेना चाहती है, तभी कांटा उसे बांध डालता है। नरक का यह दरवाजा है ही ऐसा। आटे में लिपटा है कांटा, स्वर्ग में छिपा बैठा है नरक।

मनुष्य काम और क्रोध में उलझा हुआ है, चाहे वह तीस वर्ष का हो या साठ वर्ष का हो। मनुष्य का काम जब कुंठित हो जाता है, तो वही काम क्रोध बन जाता है। काम या क्रोध की शक्ति कोई अलग नहीं होती। शक्ति के जन्म में निमित्त प्रभावी होते हैं। कैसे निमित्त मिलता है, सारी बात इस बिन्दु पर निर्भर है। क्रोध के निमित्त मिले तो ऊर्जा क्रोध के रूप में मुखर हो उठेगी। काम के निमित्त मिले, तो वह शक्ति काम में केन्द्रित हो जाएगी। काम और क्रोध की कोई दो अलग-अलग आत्मा नहीं होती। काम और राम की, क्रोध और निरोध की अलग-अलग आत्मा नहीं होती। दोनों एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। आत्मा ही स्वर्ग और नरक है। काम-क्रोधजनित आत्मा नरक है, शांति-करुणाजनित आत्मा स्वर्ग है। ऊर्जा को अगर सही-सही रास्ता दे दो, सदाचार और सद्विचार दे दो, तो वही ऊर्जा मनुष्य के देवत्व का कारण बन जाती है, अन्यथा इससे बढ़कर आसुरी प्रवृत्ति को जन्म देने में और कोई सहायक नहीं होता।

दूसरा द्वार है क्रोध। क्रोध जुड़ा है अपेक्षा बनाम उपेक्षा से। जब मनुष्य की अपेक्षाएँ उपेक्षित होंगी, तो मनुष्य क्रोधित हो जायेगा। मनुष्य चाहता है कि उसके मुताबिक उसका परिवार और संसार चले। इस उपक्रम में जैसे ही बाधा आती है, आदमी उत्तेजित और विक्षिप्त हो जाता है। आदमी सोचता है कि यह मेरा संसार, यह मेरा परिवार, यह कौन होता है मेरे सामने बोलने वाला। यह नासमझी है। मैं और मेरे का भाव ही अपेक्षाओं को जन्म देता है। अहम से मुक्त, ममत्व से मुक्त व्यक्ति निरपेक्ष रहता है। महान् आदमी अपने आप से ही अपनी अपेक्षा रखता है, औरों से नहीं।

ज्ञानी की दृष्टि में न कोई माँ है, न कोई पिता है। पिता तो केवल निमित्त बना हमारे शरीर को गढ़ने में, माँ केवल निमित्त बन रही है हमारे शरीर को परिपक्व करने में, हमारी काया छूटने के बाद पत्नी ज्यादा-से-ज्यादा घर के दरवाजे तक पहुँचा देती है, हमारी संतान श्मशान तक पहुँचाकर हमें मुखाग्नि दे देती है। बस, फिर वही भूलभुलैया। कौन किसको रखता है। मनुष्य की अपेक्षाएँ जब दूसरों

से होंगी, तो क्रोध आयेगा ही, इसलिए महान् आदमी वह है, जो अपनी अपेक्षा आपने आप से रखता है; जो अपनी ज़रूरत अपने आप से रखता है। जो व्यक्ति आने वाले कल की चिंता नहीं करेगा और भूतकाल के बारे में नहीं सोचेगा, वर्तमान में जो भी मिला है, परमात्मा की सौगात समझकर उसको जी जायेगा, वह विचलित और क्रोधित नहीं होगा। क्रोध तो नासमझ लोग करते हैं, क्रोध तो वे करते हैं, जो परिस्थितियों में तदनुसार ढलना और जीना नहीं जानते।

अगर कोई व्यक्ति हमसे मधुर बोल रहा है, तो यह सामान्य बात है, लेकिन अगर किसी ने हमारे साथ कटु व्यवहार किया और हम उसके साथ मधुर व्यवहार बनाये रखते हैं, तो यह हुई कुछ माधुर्य को जीने की बात। सामने वाले ने दो गालियाँ दीं और तुमने भी उसे गालियाँ दे दीं, तो तुम दोनों एक जैसे हो गये। सामने वाले ने कहा—गधा और तुमने उसे नालायक कह दिया, तो दोनों में फ़र्क ही क्या रहा? तुम समझदार हो, प्रबुद्ध हो, जीवन में माधुर्य को विकसित करो, क्रोध को नहीं।

भगवान कहते हैं कि किसी को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है, तो क्या क्रोध के दौरान दी गई गाली हिंसा नहीं है? माना कि हमने किसी बकरे को कसाईखाने में जाने से नहीं रोका, मगर किसी को दो कटु शब्द भी नहीं कहे, तो यह अहिंसा का स्वस्थ आचरण होगा। जैसे ही हमारे जीवन में क्रोध के क्षण आये, तत्काल अपने आपको उस वातावरण से अलग कर लो। अगर हमारे कारण किसी को क्रोध आता है, तो तत्काल कह दो—सॉरी। क्रोध को शांत करने का सीधा-सा सूत्र दूंगा कि अगर खड़े हो, तो बैठ जाओ, अगर बैठे हो, तो लेट जाओ। लेटने पर भी क्रोध नहीं थमता है, तो घंटे-दो-घंटे के लिए अपने आपको वातावरण से अलग कर लो। क्रोध तो आखिर दूध का एक उबाल है। जब तक आग रहेगी, तब तक दूध उबलेगा, उसमें उफ़ान आएगा, लेकिन जब आग ठंडी हो जायेगी तो दूध का उफ़ान भी शांत हो जायेगा।

किसी ने कुछ कटु शब्द कह दिये हैं, तो यह मत सोचो कि इसने ये कटु शब्द क्यों कहे। सोच तो यह रखो कि इसने दो कड़वे शब्द ही कहे हैं, दो चांटे तो नहीं मारे; अगर दो चांटे मार ही दे, तो समझ लो कि दो चांटे ही तो मारे हैं, लाठी तो नहीं मारी और लाठी भी मार दे, तो भी बलिहारी समझो कि केवल दो लाठी ही मारी है, जान से तो नहीं मारा। जो आदमी किसी के दो कड़वे शब्दों को सहन नहीं कर सकता, वह आदमी अपने कानों में महावीर की तरह कीलें

तुम्हें पायेगा, यह संभावना ही प्रतीत नहीं होती और न ही यह संभावना झलकती है कि उसके जीवन में जीसस की तरह सलीब पर लटकने का सौभाग्य आयेगा । यात्रा कहीं-न-कहीं से तो शुरू करनी ही होगी । दो कड़वे शब्दों से ही सही, हम अपनी यात्रा का आगाज़ करें । इसे हम जीवन का अनुष्ठान समझें ।

अगर किसी ने क्रोध में आकर तुम्हें कुछ कह दिया है, तो तुम्हें क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है । तुम मिठास से अपनी बात कहो । कभी कहना जरूरी होता है तो कभी सहना । अवसर पर बोलना जरूरी है, तो अवसर पर मौन रहना भी जरूरी है । यह विवेक आप पर है कि कहाँ बोलें और कहाँ मौन रहें । क्रोध का वातावरण बन जाये, कोई गाली दे भी बैठे तो तुम यह सोचो कि कौन-सा यह व्यक्ति हजार साल जीयेगा और कौन-सा मैं हजार वर्ष जीऊंगा । ठीक है कह दिया, सो कह दिया । अगर बहू के द्वारा मामूली-सी गलती हो जाये, तो सास-ससुर उसे बुरी तरह डांटते हैं और तब संबंधों में तनाव बढ़ता है । ये संबंध प्रभावित ही न हों, अगर सास-ससुर यह समझ लें कि वे घर में रहते हुए भी घर में नहीं हैं । यह मानना संसार में रहते हुए भी संन्यास को जीने की प्रक्रिया हुई ।

मुझे याद है कि एक संत किसी राह से गुजर रहे थे । इतने में ही देखा कि पीछे से एक युवक आया, हाथ में लाठी लिये हुए और उसने संत को कमर पर एक लाठी जमा ही दी । लाठी के प्रहार के बाद युवक भयभीत हुआ, इसलिए लाठी उसके हाथ से अलग छिटक गई और वह भागने लगा । संत ने पीछे से आवाज़ दी—भैया, दौड़ क्यों रहे हो ? जाना ही है, तो चले जाओ, मगर इस लाठी को तो लेते जाओ । संत के साथ दूसरा आदमी चल रहा था । उसने संत से कहा कि यह तो हद ही हो गई । एक तो आदमी ने लाठी मारी और ऊपर से आप कह रहे हैं कि लाठी को वापस लेता जा । आपको क्रोध नहीं आया ?

संत अपने हमराही की बात सुनकर मुस्करा दिये । संत ने कहा—यह समझ-समझ का फ़र्क़ है । तुम मुझे एक बात का ज़वाब दो । मान लो मैं इस रास्ते से गुजर रहा हूँ और जिस पेड़ के नीचे मैं खड़ा हूँ, उस पेड़ से एक टहनी मेरे कंधे पर आकर गिर पड़े, तो क्या मैं इस पेड़ को गालियाँ दूँगा ? क्या मैं इस पेड़ पर लाठी मारूँगा ? पेड़ के नीचे से गुजरना और लाठी का गिरना यह तो संयोग है ।

संत की तरह क्यों न हम भी लोगों के द्वारा किया जाने वाले निकृष्ट व्यवहार और बर्ताव को एक संयोग ही समझें । संयोग मान लेते हो तो क्रोध नहीं आयेगा और आयेगा भी तो तुम पार लग जाओगे । तब कोई भी शब्द तुम पर प्रभावी

नहीं होगा। तुम स्वयं शांत न हो पाये, इसीलिए किसी और का क्रोध कारगर होता है। अगर तालाब में जलते हुए अंगारे फैकोगे, तो तालाब का कुछ नहीं होगा, अंगारे ही बुझ जायेंगे। तुम सरोवर न बन पाये, इसलिए तुम्हें क्रोध आता है। अपने में शीतलता भर अगर तुम पानी हो जाओ, तो सामने वाले को भी पानी-पानी होना ही पड़ेगा।

क्रोध से परहेज रखो, अपने जीवन को प्रेम से आपूरित होने दो। संयम रखो, मिजाज ठंडा रखो। नरक का द्वार तुम पार लग ही गये। नरक का तीसरा दरवाजा है—लोभ। यह नरक का अंतिम दरवाजा है, मगर सबसे ज्यादा भयंकर, फिसलन भरा। यह ऐसा दरवाजा है कि व्यक्ति न चाहते हुए भी वहाँ जाकर उलझ जाता है। लोभ के मायने हैं—मन की वो स्थिति जो लुभा ही जाती है, जो आदमी को खींच ही लेती है, बांध ही लेती है। लोभी बड़ा कंजूस होता है। क्रोधी प्रेम से वंचित होता है और लोभी प्रेम और करुणा से। क्योंकि प्रेम में तो लिया नहीं जाता, वरन् दिया ही जाता है, लुटाया ही जाता है। लोभी आदमी कभी लुटा नहीं सकता। वह तो देने का नाम ही नहीं जानता है। उसे तो चाहिये। उसे तो कुछ और चाहिये, कहीं और चाहिये, कोई और चाहिये। जो मिला है, उसमें वह संतुष्ट नहीं होता, तृप्त नहीं होता। उसे पेट की चिंता नहीं, 'पेटी' की चिंता है, तिजोरियाँ भरने की चिंता है। बड़ी बीमार हालत होती है लोभियों की।

लोभ मन का कब्ज़ है। कब्ज़ का काम है मल को पेट में एक जगह इकट्ठा रखना और जो लोभी आदमी होते हैं, वे भी दुनिया भर के कबाड़े को अपने तहखाने में इकट्ठा करते हैं। वे यह सोचते हैं कि संग्रह आज नहीं तो कल काम आयेगा। लोगों के घर में जाकर देखो, वहाँ काम की चीजें तो कम मिलेंगी और बेकार की चीजें भरी पड़ी हैं। जिन चीजों का साल में एक बार भी उपयोग नहीं होता, उन चीजों को रखकर तुम परिग्रही क्यों बनते हो ?

जो वस्तुएँ आपके लिए मूल्यवान होती हैं, वे ही वस्तुएँ राजकुमारों के लिए नाकारा होती हैं। तभी तो महावीर पैदा होता है, तभी तो बुद्ध जन्म लेता है और तभी संन्यास जीवन में घटित होता है। उनके पास सब कुछ था, मगर जाना तो यह जाना कि कुछ भी नहीं है। जिन चीजों के लिए आप अपनी जिंदगी को कुर्बान कर रहे हैं, चाहे वह धन-दौलत हो या ज़मीन-ज़ायदाद, कोई भी आपको दो पल की शांति और तृप्ति नहीं दे सकते। तब जिनको आप बटोर रहे हैं, उनको महावीर या बुद्ध जैसे लोग ठुकराकर आगे बढ़ जाते हैं कुछ पाने के लिए, सब कुछ पाने

के लिए ।

तुम महल बनाते हो, महावीर राजमहलों का त्याग कर जाते हैं । तुम पत्नी में उलझे हो, बुद्ध पत्नी को छोड़ जाते हैं । तुम पैसे और दुकान में मोहित हो, बाहुबली चक्रवर्ती का साम्राज्य ठुकराकर निर्वाण के पथिक हो जाते हैं । मनुष्य उलझा है, मोह-माया के मकड़जाल में फंसा है । त्याग की चेतना विकृत हो गई है, लोभ की चेतना प्रगाढ़ हो गई है ।

लोभ मन का कब्ज है और त्याग लोभ को काटने का तरीका है । अगर आप अपने लोभी मन को ज्यादा न काट पाये, तो कम-से-कम इतना तो कर ही सकते हैं कि जिन चीजों की घर में जरूरत नहीं है, उन्हें अपने घर से निकाल फेंकें । जो आदमी अपने घर को कबाड़खाना बनाये रखता है, उसके घर में दारिद्र्य ही इकट्ठा होता है । अगर दारिद्र्य को संजोकर रखना चाहो, तो बात अलग है । फालतू चीजों को उन लोगों को दे दो, जिनको इनकी जरूरत है । अगर घर में बीस बोटलें पड़ी हैं, तो उन्हें कल ही बेच डालो और जो पैसे आयें, उससे गीता-भवन में कबूतरों के लिए दाना डलवा दो । ऐसा करके आपने कोई दान नहीं किया है, परिग्रह को हटाया है । इस तरह परिग्रह को हटाना आपके लिए जहाँ एक धर्म-कार्य साबित हो सकता है, वहीं घर की सफाई के काम को भी अंजाम देना होगा ।

तो ये तीन दरवाजे हैं नरक के । ये ही वे तीन द्वार हैं, जो मनुष्य को संसार से बांधे रखते हैं । इन तीनों दरवाजों पर होने वाली जो गुणात्मक स्थिति है, उसी को कृष्ण कहते हैं—आसुरी प्रकृति, आसुरी संपदा, आसुरी गुण । भगवान करे कि हम स्वर्गीय हों, इससे पहले ही अपना स्वर्ग इस धरती पर बना लें, आत्मा में जन्त को ईजाद कर लें । अपने जीवन में इंद्रराज देवेन्द्र होकर जीयें, तो शायद जीवन को जीना स्वर्ग को जीने के समान होगा । जो स्वर्ग को जीता है, उसका जीना तो सार्थक है, नरक में तो हर आदमी पड़ा है । मुझे नरक के बारे में कुछ नहीं कहना । नरक से तो सिर्फ बचने की बात कर रहा हूँ । उसके कीचड़ से बचने की बात कह रहा हूँ । नरक के द्वारों से बचो और दिव्य जीवन के द्वारों को उद्घाटित करो । देवत्व की दिशा में हमारे कदम उठें । जीवन पुण्य का पुष्प बने । आज इतना ही निवेदन कर रहा हूँ : हे कमल, ऊपर उठो ! ऊपर खिलो !! आकाश भर आनंद लो ।



श्रद्धा स्वयं एक मार्ग

सूत्र है —

अश्रद्धाया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

अर्थात् हे पार्थ ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है, समस्त असत् कहा जाता है, इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही ।

भगवान कहते हैं कि बिना श्रद्धा के दिया हुआ दान, किया हुआ यज्ञ और तपा हुआ तप असफल हो जाता है । कृष्ण के संदेशों की मूल आत्मा श्रद्धा है । श्रद्धा जो स्वयं एक मार्ग है । मार्ग ही नहीं, मार्गों का मार्ग है । पड़ावों-का-पड़ाव और मंजिलों-की-मंजिल है । श्रद्धा स्वयं ही मनुष्य को विकास के आयाम देती है, क्योंकि श्रद्धा के हृदय में न केवल गुरु की आँख है, वरन् परमात्मा का प्रसाद भी है । श्रद्धा से स्वीकार किया हुआ ज़हर का प्याला भी मीरा के लिए परमात्मा के चरणामृत का प्याला बन जाता है, श्रद्धा के साथ बजाई गई खड़ताल और छेड़े गये इकतारे की तान भी अंधे सूरदास को वह दिव्य रोशनी दे देती है, जिस रोशनी के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा का आत्म-साक्षात्कार करता है । मूल्य श्रद्धा का

है ।

श्रद्धा में अगर संदेह का घुन लग जाये, तो श्रद्धा ही मार्ग में बाधक और अवरोधक बन जाती है । श्रद्धा को संदेह की दीमक लग जाये, तो शिखरों को ढहते भी वक्त नहीं लगता । जिस श्रद्धा के वशीभूत होकर कृष्ण गिरधारी बन जाते हैं और गिरीश्वर को अपनी अंगुली पर धारण कर लेते हैं, अगर वह श्रद्धा विशृंखलित और विखंडित हो जाये, तो पहाड़ के पहाड़ भी धराशायी हो जाते हैं । श्रद्धा जब किसी मकान को बनाने लगती है, तो बनाते-बनाते एक अरसा गुजर जाता है, लेकिन संदेह जब अपनी सूई की नोंक से मकान को कुरेदना प्रारम्भ करता है, तो पता ही नहीं चलता और मकान खंडहर में तब्दील हो जाता है ।

मनुष्य का अपना जैसा स्वभाव होता है, उसकी जैसी दैवीय और आसुरी गुणों की प्रकृति होती है, वैसा ही मनुष्य की श्रद्धा का रूप होता है । मनुष्य की श्रद्धा सात्विक भी हो सकती है, राजस भी हो सकती है और तामसिक भी हो सकती है । जीवन में अगर तुम देवत्व को जीते हो, तो तुम्हारी श्रद्धा देवत्व की ओर बढ़ेगी, यदि राजसी गुणों की प्रवृत्ति है, तो श्रद्धा यक्ष और किन्नरों पर जाकर समाप्त हो जायेगी । अगर जीवन में तामसिक प्रवृत्तियाँ ज्यादा हैं, तो मनुष्य की श्रद्धा भूत-प्रेत और राक्षसों पर जाकर ही केन्द्रित होगी । जब श्रद्धा होगी, तो श्रद्धा के साथ आराधना तो अवश्यमेव होगी । अंतर केवल इतना ही पड़ेगा कि किसी की श्रद्धा देवत्व से जुड़ेगी और किसी की श्रद्धा का संबंध यक्ष-भूत-प्रेतों की आराधना से होगा । देवत्व की आराधना के लिए जीवन में देवत्व का होना अनिवार्य है और शैतानियत की उपासना बगैर शैतानियत के पूर्ण हो जाये, यह नामुमकिन है । इंद्रजीत की आराधना का केन्द्र राम का वध है, तो राम की आराधना का हेतु अधर्म का विनाश और धर्म का अभ्युत्थान है । जैसी हमारी प्रवृत्ति और प्रकृति होगी, वैसी ही हमारी श्रद्धा मूर्त रूप लेगी ।

श्रद्धा के मायने किसी भी व्यक्ति या तत्त्व को मानना नहीं है, वरन् उसके प्रति अपने आपको मिटा देना है । श्रद्धा तो तब जीवित होती है, जब व्यक्ति किसी के प्रति पूरी तरह निःशेष हो जाता है, विसर्जित हो जाता है । ठीक ऐसे कि जैसे सरिता सागर में जाकर समाविष्ट हो जाती है, नमक जल में जाकर घुल जाता है, अपने आपको किसी और के प्रति मिटा ही डालता है । मानना तो केवल आरोपण हुआ । जैसे कि कागज़ के फूलों को तुम असली फूल कह दो, लेकिन श्रद्धा तो

मानने से बहुत ऊपर है। श्रद्धा नकली फूलों के प्रति नहीं होगी, वह तो असली फूलों से ही जन्म लेगी, उन्हीं से अंकुरित होगी। श्रद्धा बिल्कुल ऐसे है कि जैसे माल की नकद-बिक्री हो और विश्वास तथा मानना उधार बिक्री के तुल्य है। उधार में तो सारी दुनिया लेने को तैयार है, पर मामला अगर नकद का हो, तो आदमी सोचेगा। श्रद्धा 'उधार खाता' नहीं है, यह तो 'नकद' है। नकद माल देती है और नकद दाम ही स्वीकार करती है। मानना तो बासी माल है, जिसे तामसी प्रकृति के लोग ही खाते हैं। श्रद्धा को सही तौर पर वे ही लोग जी पाते हैं, जो सात्विक प्रकृति के होते हैं।

किसी के प्रति कुछ कहने भर से श्रद्धा जन्म नहीं लेती। श्रद्धा तो अकारण घटित होती है। आप अगर किसी रास्ते से गुजर रहे हैं और अचानक किसी को देखा, तो न जाने भीतर क्या प्रतिक्रिया हुई और आप दिल दे बैठे, प्रेम हो गया। प्रेम कोई करने से नहीं होता, यह तो बस हो जाता है। श्रद्धा भी ऐसे ही किसी के प्रति करने से जन्म नहीं लेती। श्रद्धा का जन्म अकारण होता है। ठीक ऐसे ही कि जैसे यह माटी बादलों को निमंत्रण देती है और माटी की सौंधी महक आसमान की तरफ ऊपर उठती है। अचानक किसी बादल का उधर से गुजरना होता है और बादल रिमझिम-रिमझिम बरसने लग जाता है। ऐसे ही श्रद्धा का जन्म होता है, अचानक, आकस्मिक। इसीलिए श्रद्धा से बड़ा और कोई चमत्कार नहीं है। श्रद्धा का जीवन में जन्म होना ही जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार है।

जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अपने आप विकास होता चला जाता है। श्रद्धा में स्वयं गुरु रहता है, परमात्मा का वास होता है। श्रद्धा में ही तो गुरु की आँख होती है। गुरु को अगर पहचानना है, तो श्रद्धा की आँख से ही पहचान पाओगे। अगर श्रद्धा में संदेह की किरकिरी समा जाये, तो जो विकास हो रहा था, वह अवरुद्ध हो जायेगा और आदमी ने जहाँ से यात्रा आरम्भ की थी, वह वहीं पर आकर अटक जायेगा। ऐसा मत समझना कि किसी गुरु ने शक्तिपात किया और श्रद्धा जन्म गई। ये श्रद्धाएँ बासी होती हैं, उन शक्तिपातों का प्रभाव दो-तीन दिन रहता है और फिर ठंडा, लेकिन श्रद्धा अगर भीतर में एक बार जाग्रत हो गई, तो यह विकसित होती जायेगी, आदमी का ऊर्ध्वारोहण करवाती रहेगी। बस, श्रद्धा जन्मने भर की देर है।

कहते हैं कि एक बार जीसस किसी के घर मेहमान बने। तभी एक महिला

जीसस के पास आई, उनके चरणों में झुककर प्रणाम किया और एक किनारे बैठ गई। इतने में ही एक और महिला आई, जिसके बारे में सब लोग जानते थे कि वह महिला कुख्यात है। जिस मकान मालिक ने जीसस को अपने घर न्यौता दिया था, वह तो एक बार घबरा ही बैठा कि यह महिला कहीं जीसस के पवित्र पाँवों को न छू ले, मगर जीसस कुछ न बोले। वह महिला आई और आकर जीसस के पाँवों में गिर पड़ी। उसकी आंखों से आंसुओं की धार बहने लगी। उसने जीसस के गीले हुए पाँवों को पोंछा और उसके बाद उनके चरणों को प्यार से चूमा। मकान मालिक यह सब बात समझ न पाया, लेकिन जीसस ने उससे कहा कि तुम जो भी हो, मैंने तुम्हारे पाप माफ़ किये। तुम जाओ और पवित्रतापूर्वक बाकी के जीवन को जीयो।

जब जीसस ने महिला को पाप-मुक्त होने का आशीर्वाद दिया तो मकान-मालिक की त्योंरियाँ चढ़ गईं। एक गलत महिला, जिसके प्रति जीसस ने ऐसा कहा और दूसरी महिला, जिसके बारे में हर कोई जानता है कि यह एक नेक महिला है, मगर फिर भी जीसस केवल मुस्करा कर रह गये। इस बारे में जब मेज़बान ने जीसस से जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने कहा—वत्स, मैं तुमसे एक सवाल करता हूँ। ऐसे समझो कि किसी अमीर आदमी ने किन्हीं दो महिलाओं को उधार धनराशि दी। एक महिला को पचास मुद्राएँ और दूसरी महिला को पांच सौ मुद्राएँ दीं, लेकिन वे दोनों ही महिलाएँ अपने ऋज्र को चुका न पाईं। अमीर आदमी करुणाभिभूत हो उठा। उसने दोनों के ऋज्र को माफ़ कर दिया। तुम मुझे बताओ कि दोनों महिलाओं में से कौन-सी महिला उस अमीर आदमी के प्रति ज्यादा अहसानमंद होगी? मेज़बान ने कहा—जिसकी पांच सौ मुद्राएँ माफ़ कर दी गईं, वह ज्यादा अहसानमंद होगी।

जीसस ने सहज भाव से मेज़बान के ज़वाब को सुना और उसी सहज भाव से बोले—मेरे पास पहली महिला भी आई, दूसरी महिला भी आई और तुमने आकर भी मेरे पाँवों को स्पर्श किया, मगर मैं तुमसे पूछूंगा कि जिस भाव से यह महिला आई, क्या उसी भाव से तुमने अपने पापों का प्रायश्चित्त करते हुए मेरे पाँवों को छुआ था? क्या मेरे पाँवों को छूते समय तुम्हारी आँखों में चंद कतरे आंसुओं के उमड़े थे? क्या तुमने अपने होठों से मेरे पाँवों को चूमा? नहीं, तुमने ऐसा नहीं किया। इसीलिए मैंने इस महिला को माफ़ किया है, क्योंकि अब यह महिला मेरे लिए साधारण महिला नहीं है, यह तो श्रद्धा की जीवंत प्रतिमा हो चुकी

है। इसके आंसू, आंसू नहीं थे, वरन् पावनता की वह जलधार थी, जिसमें इसने अपने आपको भी धोया-प्रक्षालित किया और मेरे पाँवों को भी निर्मल किया। इसका होंठों से मेरे पाँवों को चूमना, चूमना नहीं था, वरन् यह अपने जीवन का समर्पण था अगर श्रद्धा अपने ही अन्तःकरण में ईजाद हो जाये, तो मैं बहुत प्यार से कहूँगा कि श्रद्धा से बढ़कर कोई मार्ग नहीं है।

धर्म और अध्यात्म की 'क्यू' में जितनी भी अच्छी से अच्छी बातें हैं, उनमें पहला 'नंबर' श्रद्धा का ही है। श्रद्धा के बाद ही सारी चीजें हैं। भगवान के मंदिर में गये, मगर श्रद्धा न थी, तो मंदिर जाने या घर पर रहने में कोई फ़र्क नहीं रहेगा। परमात्मा की श्रद्धा को लेकर यदि मनुष्य बाज़ार में चला जाये, तो वह बाज़ार भी मनुष्य के लिए मंदिर साबित हो सकता है। सब कुछ आपकी श्रद्धा पर निर्भर है। मुझे भी अगर सुनो, तो दिमाग से मत सुनना। अपने दिमाग को वहीं पर उतार आना, जहाँ पर आपने अपने जूते खोले हैं, क्योंकि गीता का दिमाग से कोई संबंध नहीं है, तर्क से कोई ताल्लुक नहीं है। गीता हृदय का संबंध रखती है, हृदय के द्वार-दरवाज़ों पर दस्तक देती है। गीता की रश्मियों का संबंध एकमात्र हृदय से है, उस हृदय से जिसमें श्रद्धा निवास करती है, जिसमें मनुष्य का प्रेम रहता है, जो शांति और आनंद का आधार और अनुष्ठान है। श्रद्धा से अगर सुनो, तो गीता आपके अंतःकरण में उतरेगी, जीवन का रूपान्तरण करेगी।

श्रद्धा चाहिये, और जब मैं कह रहा हूँ कि श्रद्धा चाहिये, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि एक हिन्दू की श्रद्धा चाहिये या जैन अथवा इस्लाम की श्रद्धा चाहिये। श्रद्धा कोई जैन, हिन्दू अथवा इस्लाम नहीं होती। श्रद्धा, श्रद्धा होती है। जैसे किसी आदमी को मलेरिया हो जाये, तो मलेरिया एक रोग है। वह हिन्दू, जैन या मुस्लिम नहीं है। इसी तरह कुनैन एक दवा है, वह भी हिन्दू, जैन या मुस्लिम नहीं है। श्रद्धा जीवन की ऐसी ही एक दवा है, हर धार्मिक व्यक्ति के लिए, हर आस्तिक आदमी के लिए। श्रद्धा हर व्यक्ति के लिए एक मार्ग है, एक सोपान है।

कृष्ण कहते हैं कि यज्ञ करो। वे यज्ञ आयोजित करो जिससे यह मानवता प्रबुद्ध हो सके, अपने पैरों पर खड़ी हो सके। सेवा के वे यज्ञ आयोजित करो कि जिसे पाकर मानवता प्रमुदित और आह्लादित हो सके और अपने हृदय के अनंत आशीष आपको प्रदान कर सके। कुछ ऐसे यज्ञों का इंतज़ाम होना चाहिये, ऐसे शिविर लगाने चाहिये जिससे हर आदमी प्रबुद्ध हो सके, ज्ञानवान हो सके। अगर

केवल घी की आहृतियों के ही यज्ञ करते रहे, तो ऐसे यज्ञ तो हज़ारों-हज़ारों वर्षों से होते रहे हैं, चाहे वे अश्वमेध-यज्ञ हो जा वाजपेयी-यज्ञ । मानव को प्रेम की शिक्षा दो, उसे ध्यान और योग की शिक्षा दो, कला और विज्ञान की शिक्षा दो । ये शिक्षाएँ ही जीवन का यज्ञ बन जाये, धर्म की आराधना हो जाये । यज्ञों के प्रकार बताते हुए कृष्ण कहते हैं कि अगर व्यक्ति केवल परमात्मा की आराधना के लिए ही यज्ञ करता है, तो वह सात्विक यज्ञ है । वहीं अगर दंभाचरण या फल की आकांक्षा के लिए यज्ञ आयोजित करता है, तो वह यज्ञ 'राजसी' यज्ञ है । इसके अलावा अगर तुमने किसी को अन्नदान न किया, अपने द्वार पर आये किसी याचक को खाली हाथ लौटा दिया, किसी मंत्र, किसी शास्त्र-विधि का उपयोग न किया, तो तुम्हारे लिए 'तामसी' यज्ञ होगा ।

महाभारत का प्रसंग है । अश्वमेध यज्ञ चल रहा था, बड़े-बड़े ब्राह्मणों और ऋषियों को दान-दक्षिणा दी जा रही थी । कहते हैं कि उस यज्ञ में बड़े-बड़े देव आये, यहाँ तक कि देवराज इंद्र तक भी उपस्थित हुए । स्वयं भगवान कृष्ण तक वहाँ साक्षात् थे । दान देने का उपक्रम चल रहा था । अश्वमेध यज्ञ की पूर्णाहूति की पावन वेला थी । इतने में ही सबने देखा कि एक गिलहरी उस यज्ञ-मंडप पर पहुँची और अपने शरीर को उलट-पुलट करने लगी । लोग बड़े ताज्जुब से उस गिलहरी को देख रहे थे । और भी ज्यादा आश्चर्य तो इस बात का था कि उस गिलहरी का आधा शरीर सोने का था और आधा शरीर वैसा ही था, जैसे कि आम गिलहरियों का होता है । युधिष्ठिर के लिए भी यह बात आश्चर्यचकित करने वाली थी । ऐसी गिलहरी पहले कभी नहीं देखी गई । एक बार तो दान-दक्षिणा, मंत्रोच्चार और देवों के आह्वान का उपक्रम ठहर ही गया ।

युधिष्ठिर ने यज्ञ को बीच में रोककर गिलहरी को संबोधित करते हुए पूछा—ओ गिलहरी ! मेरे मन में दो शंकाएँ हैं । पहली शंका तो यह है कि तुम्हारा आधा शरीर सोने का कैसे है और दूसरी शंका यह है कि तुम यहाँ यज्ञ-मंडप में आकर अपने शरीर को लोट-पोट क्यों कर रही हो ? गिलहरी ने युधिष्ठिर की तरफ़ मुखातिब होकर कहा—युधिष्ठिर, तुम्हारा प्रश्न बहुत सार्थक है । बात दरअसल यह है कि तुम्हारे इसी यज्ञ-स्थल से कोई दस कोस दूर एक गरीब ब्राह्मण तीन दिन से भूखा था । उसने जैसे-तैसे कर रोटियों का इंतजाम किया । वह भूखा, उसकी पत्नी भूखी, उसके बच्चे भूखे । रात की वेला हो चुकी थी ।

सारे भूख से मर रहे थे, लेकिन जैसे ही वे खाना खाने को बैठे, तो देखा कि घर के बाहर दरवाज़े पर एक भिखारी खड़ा था और खाने के लिए मांग रहा था। ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से कहा कि तुम लोग भोजन कर लो और मेरे हिस्से की जो रोटी है, वह इस भूखे को दे दो। वह भूखा आदमी रोटी खाने लगा और रोटी खाते-खाते उसने कहा—मैं अभी भी भूखा हूँ। मेरा पेट नहीं भरा है। ब्राह्मणी ने कहा—इसे मेरे हिस्से की भी रोटी दे दी जाए। ब्राह्मणी की रोटी भी दे दी गई, मगर फिर भी वह भूखा रहा। बच्चों ने माता-पिता से कहा—आपने अपनी-अपनी रोटी दे दी। एक दिन हम भी भूखे रह लेंगे, तो कौन-सा फ़र्क पड़ेगा। हमारे द्वार पर कोई प्रार्थी भूखा नहीं लौटना चाहिये। बच्चों ने भी अपनी रोटियाँ उस व्यक्ति को सौंप दीं। भूखे ने रोटियाँ खाई, पानी पीया और चल दिया।

गिलहरी ने आगे का वृत्तांत बताया कि उस भूखे व्यक्ति के भोजन करने के बाद मैं उधर से गुजरूँ। जिस स्थान पर उसने भोजन किया था, वहाँ रोटी के कुछ कण बिखर गये थे। मैं उन कणों के ऊपर से गुजरूँ, तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जहाँ-जहाँ मेरे शरीर पर वे कण लगे थे, वह सारा सोने का हो गया। मैं चौंक पड़ी। उस छोटे-से आदमी के अंश भर दान से, एक छोटे से शुभ-कर्म से मेरे शरीर का आधा हिस्सा सोने का हो गया। मैंने यहाँ के अश्वमेध यज्ञ के बारे में सुना, तो सोचा कि वहाँ महान् यज्ञ हो रहा है, महादान दिया जा रहा है, तप तपा जा रहा है। शुभ से शुभ कर्म समायोजित हो रहे हैं। यदि मैं इस यज्ञ में शामिल होऊँ, तो मेरा शेष शरीर भी सोने का हो जायेगा, लेकिन युधिष्ठिर, मैं एक बार नहीं, सौ बार तुम्हारे इन कणों पर, दान से गिरे इन कणों पर लोट-पोट हो गई हूँ, मगर मेरा बाकी का शरीर सोने का न बन पाया। मैं यह सोच रही हूँ कि असली यज्ञ कौन-सा है—तुम्हारा यह अश्वमेध यज्ञ या उस ब्राह्मण की आंशिक आहुति वाला वह यज्ञ? युधिष्ठिर, तुम्हारा यह यज्ञ केवल एक दंभाचरण भर है।

अगर जीवन में ब्राह्मण का-सा यज्ञ समायोजित हो सके, तो जीवन का पुण्य समझो। ऐसा कोई यज्ञ न लाखों खर्च करने से होगा और न ही घी की आहुतियों से होगा। भूखे-प्यासे किसी आदमी के लिए, किसी पीड़ित, अनाथ और दर्द से कराहते व्यक्ति के लिए अपना तन, अपना मन, अपना धन—कोई भी अगर अंश भर भी दे सको, प्रदान कर सको, तो यह आपकी ओर से एक महान्

यज्ञ होगा; एक महान् दान, एक महान् तप होगा । भगवान् करे आप सबके जीवन में ऐसे पुण्य-पल, ऐसी पावन-वेला सृजित हो, उपलब्ध हो ।

भगवान् ने पहला चरण कहा यज्ञ और दूसरा चरण है दान । दान के मायने हैं—देना, लुटाना और उसी में आनन्द का अनुभव करना । अगर दान दिया और देने के बाद गिला हुआ, तो दान दिया ही क्यों ? लेकिन लोग करें भी क्या, आजकल सात्विक दान कम होता है और राजसी व तामसी दान ही ज्यादा होता है । बेमन का दान सात्विक दान नहीं होता, यह दान राजसी दान हुआ । अगर आप अपनी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए लाखों रुपये स्वाहा कर देते हैं, तो यह राजसी और तामसी दान हुआ, सात्विक दान तो वह है, जिसे देने में व्यक्ति अपना कर्तव्य समझे । कर्तव्य-भाव से, बिना किसी पर उपकार करने की भावना से अगर किसी को कुछ देते हो, तो यह सात्विक दान कहलायेगा ।

व्यक्ति धन का बेशुमार संग्रह करता है । धन जमा करने के लिए नहीं है, उपयोग के लिए है, उसका समुचित उपयोग होना चाहिये । पैसा जीवन और जीवन से जुड़े पहलुओं को पूरा करने के लिए होता है । पैसा जीवन का सत्य नहीं है, गंतव्य नहीं है । यह तो जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए महज़ एक साधन है । साधन को साधन जितना ही महत्त्व दो । जब साधन को साध्य बना बैठोगे, तो प्रतिकूलताएं पनपेंगी । अगर धन को धर्म समझ लिया, तो डूब जाओगे । तब कंजूस प्रकृति के आदमी में और एक अमीर आदमी में फ़र्क ही नहीं रहेगा । दोनों ही धन बटोरेंगे, लेकिन उपयोग कुछ भी नहीं होगा ।

बाकी के लोग तो बोल जायेंगे मुँह से, मगर जब देने की बात आयेगी, तो हाथ कांपेंगे, कदम पीछे हट जायेंगे । दान की राशि बोलने के बाद उसे अपने घर में रखना, धर्मदि को घर में रखना है ।

कुछ दो, तो श्रद्धा से दो, प्यार से दो । देते समय आनन्द की रसानुभूति करो । ज़रा सोचो कि मैंने सारे संसार का त्याग कर दिया; अपने घर-परिवार सबको छोड़ आया मैं, तो क्या आप मानवता की सेवा के लिए अपनी आजीविका में से दो-चार अंश भी नहीं निकाल सकते ? यदि आप ऐसा करते हो, तो आप कल्पना भी नहीं कर पाओगे कि आपने अपने जीवन में संन्यास के महा आनन्द को, मुक्ति के महा मार्ग को जीया है । दो अंश देते हुए भी अगर हाथ कांपते हैं,

तो पूरा-का-पूरा त्याग कैसे करोगे ? महावीर ने जब संन्यास लिया, तो कहते हैं कि उन्होंने पूरे एक वर्ष तक दान दिया—जिसकी जो इच्छा हो, आए और मांगकर ले जाये । कर्ण जब महाभारत का युद्ध लड़ रहा था, तो इन्द्र उसके पास पहुँचता है और उससे उसके कुंडल और कवच मांगता है । कर्ण जानता है कि यह मुझसे मेरा जीवन मांग रहा है, फिर भी वह इंद्र को इंकार नहीं करता । हम भी अपने जीवन का ऐसा उसूल बनायें कि अपने द्वार पर आये किसी याचक को खाली हाथ न लौटना पड़े । हमारी शक्ति दो की है, तो दो देंगे, सौ की है तो सौ देंगे, मगर खाली नहीं लौटाएंगे ।

तुम अगर किसी जरूरतमंद को कुछ देते हो, तो प्रभु तुम्हें छप्पर फाड़कर देगा । यदि ऐसा नहीं करते हो, तो यह जो छप्पर है, वह भी उड़ जायेगा । तुम्हारे पास अकूत धनराशि है, तो इसमें गुमान कैसा ? सभी इसी माटी से जन्मे हैं, इसी में समा जायेंगे । पीछे केवल माटी ही रह जायेगी । नौका में अगर पानी भर रहा है तो उसे उचीलो, बाहर निकालो । जहाँ से लिया है, वहीं लौटाओ । तुम्हारे प्रबल पुण्यों के प्रताप से धन मिल रहा है, तो उसे औरों में बाँट दो । अपने पुण्यों को बाँटो, दान करो ।

जो लोग भविष्य के लिए बचाकर रखते हैं, वे कितना ही ऐसा कर लें, मगर सड़क पर आते देर नहीं लगती । मैंने रोड़पति को करोड़पति होते देखा है और करोड़पति को रोड़पति होते देखा है । इसमें कोई वक्त नहीं लगता । वक्त का तकाज़ा है, कब कौन ऊपर चढ़ जाये, कब कौन नीचे आ जाये । जब ऊपर हो, तो दोनों हाथों से दो । अगर देना ही आनन्द बन जाये, तो ही देने में सार्थकता है ।

श्रद्धापूर्वक दान दो, श्रद्धापूर्वक तप तपो और श्रद्धापूर्वक ही यज्ञ करो । यही प्रेरणा श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय के इस सूत्र में दी है । हम सब लोगों को यह पावन संदेश दिया है कि जीयो श्रद्धापूर्वक, बढ़ो श्रद्धापूर्वक । श्रद्धा स्वयं आगे बढ़ाती है, जीवन का मार्ग खोलती है, और मंजिल प्रदान करती है । आज अपनी ओर से इतना ही निवेदन कर रहा हूँ ।

नमस्कार ।



बूँद चले सागर की ओर

विश्व के एक आदर्श ग्रंथ गीता की परिचर्चा के हमने सत्रह पड़ाव पार कर लिये हैं और अब हमारी दस्तक अठारहवें पड़ाव के प्रवेश-द्वार पर है। अठारहवाँ पड़ाव तो बस एक नाम भर का है। यह पड़ाव तो वास्तव में गीता की मंजिल है। मनन के शिखर की यात्रा तो पूरी हो चुकी है। अब तो केवल ध्वजारोहण करना शेष है। मानो भोजन और भोग दोनों ही सम्पन्न हो चुके हैं। अब तो बस, पाचन की जरूरत है।

गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत हमने गीता का बड़ा जायका लिया है, बड़ा स्वाद चखा है। गीता के एक-एक चरण को भगवान के श्रीचरणों का चरणामृत समझकर हमने बड़ी श्रद्धा और आस्था के साथ इसे स्वीकार किया है, आचमन किया है। इससे हमें उतना ही सुख और सुकून मिला है, जितना कि किसी सागर में भटके हुए नाविक को किनारा मिलने पर होता है। जैसे मरुभूमि में कोई उद्यान लहलहा उठे, तो वह मरुभूमि, मरुभूमि नहीं बचती, ऐसा ही गीता को अपने जीवन में जीने से जीवन का रेगिस्तान भी नखलिस्तान में तब्दील हो जाता है। जैसे किसी आदमी को प्यास हो और उसे पानी की जगह अमृत पीने को मिल जाये, तो उसकी तृप्ति की कोई सीमा नहीं रहती। ऐसे ही गीता के ये सत्रह दिन, ये सत्रह संबोधन हम सब लोगों के लिए अमृत बोध और अमृत पान का निमित्त

बने हैं ।

हम भगवान श्रीकृष्ण के शुकगुजार हैं जिन्होंने मानवता को इतने महान् संदेश दिये और एक अकर्मण्य और निठल्ले हो रहे इंसान को फिर से एक कर्मयोगी होकर संसार में जीने का पूरा हक और ऊर्जा दी । गीता के इन अठारह अध्यायों का अगर हम सार निकालना चाहें, तो कोई बहुत लंबे-चौड़े सूत्र नहीं निकलेगे । दो-चार सार-सूत्रों में ही गीता को समेटा जा सकता है । विस्तार से तो इसलिए कहना पड़ा, क्योंकि आपके हृदय में बैठा हुआ अर्जुन कायरता की कितनी सीमा लांघ चुका है, न जाने कितना नपुंसक हो चुका है । कृष्ण को युद्ध के मैदान में अर्जुन को महान् उद्बोधन ही नहीं देना पड़ा, वरन् अपने वास्तविक और विराट स्वरूप को दिखाकर अपने कथ्य के प्रति आत्मविश्वास भी जगाना पड़ा ।

गीता के संदेशों को बहुत सार-संक्षेप में कहना हो, तो उपसंहार के रूप में यह कहूंगा कि गीता का सबसे बड़ा संदेश यह है कि व्यक्ति कर्मयोगी बने, श्रमशील । ऐसा नहीं है कि अकर्मण्यता और निठल्लापन कृष्ण को पसंद नहीं है, वरन् ये अवगुण तो मनुष्य और मनुष्य-समाज के लिए अभिशाप हैं । वह समाज और वह राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता, जिसमें अकर्मण्यता की दीमक और निठल्लेपन की घुन लग चुकी है । अगर मनुष्य ने कर्मयोग से अपना मुँह फेर लिया, तो कभी सोने की चिड़िया कहलाने वाले इस भारत देश में मिट्टी की चिड़ियाएँ भी शायद ही मिलें । उस समाज और राष्ट्र को गर्त में जाने से कोई नहीं रोक सकता, जिस समाज ने श्रम और कर्म से जी चुराया है ।

नागासाकी और हिरोशिमा नगरों को ध्वस्त हुए आज अर्द्ध शताब्दी बीती है । आज वे नगर फिर से पहले की तरह आबाद हैं और उन पर अपने राष्ट्रों का गौरव लहलहा रहा है । जिस जर्मनी को ध्वस्त हुए इतने वर्ष बीत गये, आज वही जर्मनी संसार के देशों की अग्रिम पंक्ति में आता है । एकमात्र हिन्दुस्तान ही पीछे क्यों है ? यह राष्ट्र औरों से कर्ज़ ले-लेकर गुज़ारा क्यों कर रहा है ? इसका कारण यही है कि यहाँ के आदमी ने सृजन की नींव लगाने के बजाय ताशों के महल खड़े किये हैं और उन पर अंताक्षरियों के कंगूरे निर्मित किये हैं । केवल गप्पें हाँक-हाँककर अपने समाज का शिलान्यास किया है । हर आदमी के पास बे-हिसाब समय पड़ा है, मगर कोई भी आदमी ऐसा नहीं मिलेगा, जो यह कह

सके कि उसे फुर्सत है। बिल्कुल निठल्ला पड़ा आदमी भी यही कहेगा—क्या करें जनाब, बहुत व्यस्त हैं। यहाँ जाना-वहाँ जाना, इसको संभालना-उसको संभालना, यह काम-वह काम। काम कुछ भी नहीं, फिर भी व्यस्त कहने की आदत पड़ चुकी है।

अगर समाज का अभ्युत्थान करना है, मानवता को कीर्ति के कलश प्रदान करने हैं, तो निश्चित तौर पर मानव को सुबह उठते ही श्रम और सृजन में लग जाना चाहिये। सृजन के गीत गाओ, धरती को स्वर्ग बनाने की कोशिश करो। हमारे अपने श्रम से ही घर और हमारा समाज सुधरेगा। जब सुबह उठते ही पंखेरू भी श्रम में लग जाते हैं, तब हम ही हाशिये पर क्यों हैं? हम न खेलकूद में पूरी तरक्की कर पाये हैं और न ही व्यवसाय में ही। धर्म और अध्यात्म में भी हम पिछड़े हुए हैं। हमारे प्रयासों में ही कहीं-न-कहीं कमी है। कुनकुना पानी कभी भाप नहीं बनता। पानी को भाप में तब्दील करना है, तो उसे खौलाना होगा, उसे निश्चित तापमान तक गर्म करना होगा। तभी पानी भाप बन पायेगा, प्रयासों को पूर्णता मिल पायेगी।

हमारे जीवन के लोहे को जंग लग चुकी है। यह जंग उतर जाये, इसके लिए कृष्ण हम सब लोगों को जंग का आह्वान कर रहे हैं। कर्म और श्रम से जुड़ना अपने समाज के स्वर्णिम भविष्य के साथ जुड़ना है, राष्ट्र के अभ्युत्थान से जुड़ना है। अगर हर व्यक्ति अपने कल्याण के लिए और अपने अभ्युत्थान के लिए कृत-संकल्प हो जाये, तो आने वाले चंद साल ही भारत को स्वर्ग बनाने के लिए काफ़ी होंगे। कृष्ण का आह्वान केवल अर्जुनों के लिए नहीं है, वरन् सारी मानवता के लिए है। उस मानवता के लिए, जो अकर्मण्य हो रही है, जो निरन्तर पीछे खिसक रही है, जो सुस्त और प्रमादग्रस्त है। कृष्ण उद्बोधन दे रहे हैं अर्जुन को कि अर्जुन, तेरे जैसा प्रतापी, महायोद्धा, महाक्षत्रिय भी अगर यूँ कायर हो गया, यूँ नपुंसक और कमज़ोर हो गया, तो अधर्म के नाम पर पनपने वाले ये सारे दुर्योधन, ये दुःशासन, ये शकुनि तुझे और तेरी पीढ़ियों को शांति से जीने नहीं देंगे। आज तेरे पास क्षमता है और आज तेरे पास स्वयं मैं उपस्थित हूँ। अगर मेरी उपस्थिति का तुमने लाभ न उठाया और कमज़ोर-हृदय बन गया, तो स्वार्थ के ये शकुनि न केवल तुम्हारे हस्तिनापुर को उजाड़ देंगे, वरन् सारे संसार के नक्शे पर खरोंच की रेखाएँ भी खींच डालेंगे। याद रख, इन सबका गुनहगार, इन सबका जिम्मेदार तू होगा। इन दुष्चक्रों के दुःशासनों, दुष्प्रवृत्तियों के दुर्योधनों और स्वार्थ के

शकुनियों को निकाल बाहर करने के लिए अर्जुन की ही आवश्यकता है। तुम्हें आगे आना होगा। तुम्हारे भीतर क्षात्रत्व का ओज है, तुम्हारे भीतर परम्परा का वह खून भरा हुआ है जिस खून से इस धरती का फिर से कायाकल्प हो सकता है। धर्म के अभ्युत्थान के लिए, अधर्म के विनाश के लिए मैं तुम्हारी कुर्बानी, तुम्हारी शहादत मांगता हूँ।

जागो मेरे पार्थ ! अगर अर्जुन कायर हो गया, धार्मिक लोग पीछे खिसक गये, तो अधार्मिक लोग इस धरती पर इस तरह से उभरते चले जायेंगे कि धर्म का नाश करने के लिए ये काफ़ी होंगे। तुम एक किनारे खड़े देखते रह जाओगे। अधार्मिकों के शेषनाग फुफकार मारते रहें और धार्मिक लोग चुपचाप मौन-तटस्थ होकर देखते रहें, तो तुम गुनाह कर रहे हो। इसके लिए न तुम्हारी आत्मा तुम्हें माफ़ करेगी और न तुम्हारी पीढ़ियाँ ही तुम्हें जन्म-जन्मांतर क्षमा कर पायेंगी। इसीलिये महावीर ने कहा—‘जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुतया सेया।’ धार्मिक व्यक्ति जग जाये और अधार्मिक आदमी सो जाये। धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिक का सोना श्रेयस्कर है।

अगर महावीर और बुद्ध आगे न आये, राम और कृष्ण आगे न आये, अर्जुन और हनुमान आगे न आये, गांधी और विवेकानन्द आगे न आये तो फिर कौन आगे आयेगा ? क्या दुर्योधन या दुःशासन आये ? क्या हिटलर, स्टालिन या तैमूरलंग आगे आये ? अगर हिटलर या स्टालिन आगे आ गये, तो इस धरती पर विनाश ही विनाश होगा। जागें तो कोई सम्राट अशोक जैसी आत्मा जो अहिंसा और करुणा के विस्तार के लिए अपनी सारी पहुँच का इस्तेमाल कर दे। जागें, तो कोई महात्मा गांधी जैसी आत्मा जागे, जो संसार की नाक पर अहिंसा की आजादी का ध्वजारोहण करे। जागे, तो बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुष जागे, जो धर्म और समाज में आई बुराइयों को नेस्तनाबूद कर सकें। जागें तो कृष्ण और राम जैसे लोग जागे, जो कंस और रावणों की हत्या करके भी इस संसार को मुक्त करना पड़े, तो इसके लिए कटिबद्ध रहें।

माना हमारी आँखों ने राम को नहीं देखा और न कृष्ण को देखा, लेकिन हम स्वयं तो राम हो सकते हैं, हम स्वयं तो कृष्ण हो सकते हैं। केवल राम की पूजा कर देने भर से कुछ नहीं होगा, हर मनुष्य को राम के रूप में जन्म लेना होगा। हमारी माँ ने, हमारे पिता ने चाहे जिस रूप में हमें जन्म दिया हो, चाहे ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनाया हो, लेकिन हम अपने हाथों से राम को बनाएँ, हम अपने अन्तःकरण में कृष्ण को जन्म दें, ताकि अगर किसी के हाथ द्रोपदी की तरफ़ बढें, तो हम उसकी अस्मिता बचा सकें, कोई समाज अगर चंदनबाला को सरेआम बाज़ार में बेच डाले, तो महावीर बनकर हम उस चंदनबाला की सुरक्षा कर सकें। कृष्ण का कर्मयोग हम सब लोगों को जीवन के युद्ध में सन्नद्ध होने की प्रेरणा देता है, इसलिए कर्मयोग गीता का सार है, गीता की भावना है, गीता के मन्दिर में बैठा हुआ देवता है।

गीता दूसरी प्रेरणा हमें खास तौर पर यह देती है कि तुम युद्ध करो। जीवन के युद्ध में गुजर जाओ, पर अपने अहंकार का त्याग करके। माना अंधकार चारों दिशाओं से हमें घेर रहा है, दसों दिशाएँ अंधेरे को जन्म दे रही हैं, मगर सूरज तो केवल पूर्व दिशा में ही उगता है। अर्जुन, याद रख ! अंधकार तुम्हें दसों दिशाओं से घेरेंगा, सौ दिशाओं से आक्रमण करेगा, मगर यह तभी हावी होगा, जब तक पूर्व से सूरज नहीं उग जाता। अंधकार कितना ही सघन, सबल और प्रबल क्यों न हो, उसका अस्तित्व तभी तक है, जब तक सूरज आसमान में नहीं उगता। ये द्रोण, ये भीष्म, ये दुःशासन, दुर्योधन, शकुनि ये सारे लोग अंधकार का साथ दे रहे हैं। ये अंधकार बनकर तुम पर मंडरायेंगे, लेकिन तुम सूरज बनो, सन्नद्ध हो जाओ, केवल अपने अहंकार, अंधकार का त्याग करके। ये जो मृत लोग खड़े हैं, इनको पूरी तरह मृत कर डालो। अपने अहम् का त्याग कर दो, अपने सारे कर्तव्य-कर्मों को परमात्मा के श्रीचरणों में समर्पित कर दो। 'मै' गिर जाये, 'वह' आ जाये। अहं अहं हो जाये।

वेद कहते हैं—तत्त्वमसि—वह तू ही है। 'मै' गिर जाना चाहिये, वह हमारे साथ आत्मसात हो जाना चाहिये। जैसा तू करवायेगा, वैसा हम कर लेंगे। हमारा जीवन तो नदिया की धार पर बहता हुआ एक तिनका है। हे प्रभु, जिधर तू ले जाना चाहे, जिधर तेरी हवाएँ हमें बहाकर ले जाना चाहें, हम जाने को तैयार हैं। हमने अपने आपको समर्पित किया है। हे अनंत सत्ता ! तूने मेरा सृजन किया और अब तू अपने सृजन का जैसा उपयोग करना चाहे, वैसा उपयोग कर। मेरा मुझमें कुछ नहीं है, तो वहीं पर व्यक्ति परमात्मा की ओर उठना शुरू हो जाता है। बूंद का मिटना ही सागर में समा जाना है।

एक अहम् का संबंध तुम्हारे अपने साथ है और दूसरे अहम् का संबंध

ब्रह्म के साथ, परमात्मा के साथ है। एक अहम् को मिटाना है और दूसरे अहम् को आमंत्रण देना है। ब्रह्म को, परमात्मा को अपना अहम् बना लो और अपने अहम् को परमात्मा के श्रीचरणों में समर्पित कर दो, विकास अपने आप होगा। भगवान अपने आप आपके मन के घर में वास करेंगे, आपके सर्वतोमुखी विकास में सहयोगी बनेंगे। कृष्ण की गीता में यह अपेक्षा दृष्टिगोचर होती है कि व्यक्ति अपने समस्त कर्तव्यों और कर्मों को परमात्मा के श्रीचरणों में समर्पित कर दे।

एक अहम् को मिटाकर समस्त कर्तव्य-कर्मों को परमात्मा के श्रीचरणों में समर्पित करके अनासक्ति के भाव से संसार में जीते रहो, आपके लिए कोई बंधन नहीं होगा। तब हर मार्ग मुक्ति का मार्ग बनेगा। अहम् तुम्हारा स्वरूप नहीं है। यह तो तुम्हारा विकार है, पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होने वाला विकार। अगर अहंकार का त्याग करते हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि विकार से ऊपर उठे, निर्विकार हुए, पुरुष और प्रकृति के दोनों के बीच भेद-विज्ञान उत्पन्न हुआ, सीधे परमात्मा के साथ संबंध जुड़ा। परमात्मा हमारा गंतव्य है, सागर हमारा गंतव्य है। हर नदी सागर की तरफ दौड़ रही है, हर दीये की लौ ऊपर की ओर उठ रही है। चेतना का भी ऐसा ही स्वभाव है, आत्मा का भी ऐसा ही स्वरूप है। व्यक्ति अपने साथ जुड़े, अपनी बूंद को सागर में निमज्जित हो जाने दे।

बूंद चले सागर की ओर। बूंद हो तुम, बूंद है अहंकार। चलना है कर्मयोग और सागर है विराट का प्रतीक। मैंने कहा, बूंद चले सागर की ओर। सच तो यह है कि यह गीता का सार है, संदेश है।

गीता के इस अध्याय के दौरान कृष्ण मानवमात्र को एक ऐसा संदेश दे रहे हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति एक परम त्याग के पथ पर अग्रसर हो जाये, एक ऐसे मार्ग पर अपने कदम बढ़ा दे जिस मार्ग की मंजिल मनुष्य की पूर्णता हो। कृष्ण कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

भगवान कहते हैं कि संपूर्ण धर्मों को त्यागकर तू मेरी शरण में आ जा। शोक मत कर, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।

भगवान कृष्ण द्वारा ऐसे परम त्याग की प्रेरणा दी जा रही है, जिस त्याग

के बाद और किसी तरह का त्याग करने की आवश्यकता नहीं रहती। अगर छिटपुट त्याग करते हो, तो वह त्याग एक शृंखला का हिस्सा भर होगा, जबकि कृष्ण त्याग का वह मार्ग बतला रहे हैं, जिस मार्ग से गुजरने के बाद आदमी को और कोई भी त्याग करने की ज़रूरत नहीं रह जाती। यह परम त्याग का पथ है। व्यक्ति सर्वधर्मों का परित्याग करके परमात्मा के श्रीचरणों में चला जाये।

भगवान कहते हैं—सर्वधर्मान् परित्यज्य—सारे धर्मों का परित्याग करके तुम मेरी शरण में आ जाओ। धर्म यानी जिसे तुमने धारण कर रखा है, धर्म यानी जिसने तुमको धारण कर रखा है। कृष्ण धर्म के परित्याग का आह्वान कर रहे हैं, यह एक जबरदस्त बात है। वे एक ओर हमसे धर्म का त्याग करवाना चाहते हैं और दूसरी ओर हमें धार्मिक बनाना चाहते हैं। बड़ी गौरतलब बात है यह। धार्मिकता का संबंध धर्मों के त्याग से है। बड़ी विचित्र क्रांति कर रहे हैं कृष्ण। वे धर्म का त्याग करवाकर तुम्हें पापों से मुक्त करने का विश्वास दे रहे हैं।

धर्म का त्याग करो, धर्म को तिलांजलि दो, धर्म से ऊपर उठ जाओ। धर्म यानी शरीर का धर्म, धर्म यानी मन और इन्द्रियों का धर्म, मन की चंचलताओं और वृत्तियों का धर्म, रस और विषय का धर्म। कृष्ण इन जड़ से जुड़े धर्मों के त्याग की बात कर रहे हैं। नश्वर शरीर के विकृतिमूलक धर्मों के त्याग की बात कर रहे हैं। धर्म यानी टेव, धर्म यानी आदत, धर्म यानी स्वभाव। तुम अच्छे हो या बुरे, यह बात गौण कर दो। अगर अच्छे हो, तो ठीक। बुरे हो तो उसकी चिंता वह भगवान करे जो हमें अपने घर आने का निमंत्रण दे रहे हैं। हम तो जैसे हैं, वैसे हैं, जब शरणागत ही हो गये, तो हमारे जान-माल की रक्षा करना, हमारे प्राण और प्रण की रक्षा करना उसका दायित्व है। 'आमि संन्यासी मुक्ति बलिया'—हम तो मुक्ति के पागल संन्यासी हैं। हम ठहरे विभीषण, चले आये हैं राम के दरबार में। अब हमारे लिए क्या करना है, यह राम जाने। हम सत्य के खोजी गौतम, महावीर जाने हमारा उद्धार और निर्वाण कैसे करवाना है। हम ठहरे आनन्द, बुद्ध जाने बुद्धत्व का कमल कैसे खिलाना है।

कृष्ण कहते हैं—सर्वधर्मान् परित्यज्य, सारे धर्मों का त्याग कर दो। सारे धर्मों का त्याग करके मेरी शरण में चले आओ। तो त्याग दो हिन्दू-जैन की बाड़ाबंदी को, इस्लाम-ईसाई की कट्टरता को, यहूदी-पारसी की चारदीवारी को। परमात्म-शरण ही तुम्हारा परम धर्म हो।

संप्रदाय, जाति और रंगभेद को दरकिनार करो। पापी-पुण्यात्मा के भेद को अहमियत मत दो। पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। जैसे सूरज-चांद सबके लिए हैं, सरिता-सागर सबके लिए हैं, पैड़-पौधे सबके लिए हैं, फिर परमात्मा का बंटवारा क्यों? वह सार्वभौम है, सबके लिए है। जन्म से आदमी चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या क्षुद्र ही क्यों न हो, हर आदमी को भगवान के श्रीचरणों में जाने का पूरा-पूरा हक है। अगर किसी धर्म या संप्रदाय ने यह उसूल स्थापित किया है कि अमुक आदमी ही धर्मस्थलों पर जा सकता है, अमुक आदमी नहीं जा सकता है, तो वह धर्म या वह संप्रदाय स्वयं परमात्मा के साथ विश्वासघात कर रहा है। अगर यह मानते हो कि यह धरती उसी की बनाई हुई अनुपम कृति है, तो कौन ऊँचा, कौन नीचा, कौन काला, कौन गोरा, कौन छूत और कौन अच्छूत?

मुझे याद है। एक कोढ़ग्रस्त बूढ़ा आदमी किसी मंदिर के दरवाजे पर पहुँचा, तो मंदिर के पुजारी ने उसे भीतर जाने से रोक दिया। बूढ़े ने जब कारण पूछा, तो पुजारी ने कहा—तुम्हारे भीतर जाने से कहीं भगवान कुपित न हो जायें, क्योंकि भगवान का यह मंदिर तुम जैसे पापी लोगों के लिए नहीं है। इस कारण तुम अंदर नहीं जा सकते। बूढ़ा हंसा और उसने कहा—भाई, मंदिर तो पापियों के लिए ही होता है, पुण्यात्माओं के लिए तो संसार में और बहुत से स्थान पड़े हैं। वे जहाँ जाना चाहें, जायें। यह मंदिर ही तो वह स्थान है, जहाँ पापी अपने पापों का प्रक्षालन कर सकते हैं। अगर मंदिरों को पापियों के लिए बंद कर दिया, तो फिर पापी अपने पापों के निस्तार के लिए कहाँ जायेंगे? यह मंदिर तो उन लोगों के लिए है, जिनको समाज ने अभिशाप देकर अलग कर दिया है। उम्के लिए मंदिरों के द्वार खोलो, ताकि वे यहाँ आकर अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सकें और इस जन्म में नहीं, तो कम-से-कम अगले जन्म में ऊँचे गुणों को धारण करते हुए ऊँचे धामों को उपलब्ध कर सकें।

मुझे कल ही गीता-भवन से जुड़े एक सज्जन ने बताया कि इसी संस्था से जुड़े एक हरिजन की बेटी का ब्याह था। उस हरिजन ने उस सज्जन को भी ब्याह में आमंत्रित किया। उसने इतने भाव से अनुरोध किया कि वह सज्जन उसके अनुरोध को इंकार न कर पाया। उस हरिजन व्यक्ति ने कहा कि मैं हकदार तो नहीं हूँ कि मैं आपको न्यौता दूँ, क्योंकि मैं अच्छूत समझा जाता हूँ। फिर भी मैं आपको अपनी बेटी के ब्याह में सादर निमंत्रित करता हूँ। वे सज्जन उस हरिजन की बेटी के ब्याह में गये। वहाँ उन्होंने बड़े प्रेम से एक मिठाई स्वीकार की और

वर-वधु को आशीर्वाद देकर चले आये । उन सज्जन ने बताया कि वहाँ मैंने इतनी स्वच्छता देखी कि उतनी स्वच्छता आमतौर पर किसी धर्मस्थान में भी नहीं देख पाता ।

आदमी को अपना दृष्टिकोण महान् बनाना चाहिये । मनुष्य न तो पापी होता है और न पुण्यात्मा होता है । तुम्हें अगर घृणा करनी है, तो पाप से घृणा करो । यह तोन्वक्त का तकाज़ा है कि वही पाप करवाता है, वही पुण्य करवाता है । जब कृष्ण कहते हैं कि यहाँ जो कुछ हो रहा है, वह सब कुछ मैं ही करवा रहा हूँ, तो फिर कौन छूत और कौन अछूत हुआ ? क्या पाप और क्या पुण्य हुआ, जब सब कुछ उसी की बदौलत है ।

मुझे याद है कि जेरुसलम में भगवान जीसस का जन्मोत्सव मनाने की तैयारियाँ चल रही थीं । चूंकि ईसाइयों का यही एकमात्र विशाल आयोजन होता है, इसीलिए सभी धर्मानुयायी बड़े उत्साह से तैयारियों में जुटे थे । जीसस के जन्मदिन के एक दिन पहले की बात है । जेरुसलम के मुख्य पादरी को रात में सपना आया । सपने में उसने जीसस को देखा । जीसस उससे कह रहे थे कि पादरी, तुम मेरे जन्मोत्सव की तैयारियाँ कर रहे हो । कल मेरा जन्मोत्सव है । मैं मेरे जन्मोत्सव पर तुमसे कुछ माँगने के लिये आया हूँ ।

पादरी ने जब अपनी आँखों के सामने भगवान को खड़े पाया, तो विमुग्ध हो उठा । कहने लगा कि धन्य भाग मेरे, जो आप पधारे । आप जो कुछ कहें, वह मैं अर्पित करने को तैयार हूँ । मैंने आपके लिए ही सारी मिठाइयाँ बनाई हैं, मोमबत्तियाँ सजवाई हैं, आप इन्हें स्वीकार करें । जीसस ने कहा—मुझे यह सब नहीं चाहिये । मुझे तो कुछ और चाहिये । पादरी ने कहा—प्रभु मेरा यह शरीर आपको समर्पित है । जीसस ने कहा—मुझे यह नहीं चाहिये । पादरी ने कहा—मैं अपना मन, अपना हृदय, अपनी भक्ति, अपनी श्रद्धा आपको समर्पित करता हूँ । जीसस ने कहा—मुझे और भी कुछ चाहिये, इतने मात्र से मेरी तृप्ति नहीं हो पायेगी । पादरी ने कहा—मैं अपने पुण्य आपको समर्पित करता हूँ । अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करता हूँ । मैं आपकी शरण में आता हूँ ।

पादरी ने मन-ही-मन सोचा अब भगवान क्या माँग सकते हैं, क्योंकि मैंने अब सब कुछ ही तो उनको सौंप दिया है । पादरी की बात सुनने के बाद जीसस

ने कहा—मुझे कुछ और चाहिये । पादरी झल्ला उठा । उसने कहा—प्रभु, मैं नहीं जानता कि अब मैं आपके पुण्य चरणों में क्या समर्पित करूँ ? जब मैंने अपना तन-मन-जीवन ही आपको समर्पित कर दिया है, तो मुझे नहीं मालूम कि अब मेरे पास कुछ बचता है आपको समर्पित करने के लिए, आपके श्रीचरणों में चढ़ाने के लिए । जीसस ने कहा—मैं मेरे जन्मोत्सव पर तुमसे वे पाप मांगता हूँ जिनको अज्ञान में तुमने किया है, ताकि तुम पाप-मुक्त हो सको । तुम आओ मेरे पास । मैं तुम्हें तुम्हारे समस्त पापों से मुक्त करने को तैयार हूँ । तुम अगर चढ़ाना ही चाहते हो, तो केवल पाप चढ़ा दो, वे पाप, पाप नहीं रहेंगे, स्वतः ही पुण्य में रूपान्तरित हो जायेंगे, तुम पाप-मुक्त हो जाओगे ।

कृष्ण भी जीसस की तरह यही बात कहते हैं कि तुम अपने सारे पापों को मुझे समर्पित कर पापमुक्त हो जाओ । तुम्हीं तुम्हारे पापों को समर्पित नहीं करते, बचा-बचाकर रखते हो । तुम भूल ही जाओ कि तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य थे । ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व या वैश्यत्व के ऊँचे-कुल का घमंड या अहंकार मत पालो, क्योंकि ब्राह्मणों को भी बुरे कर्म करते हुए देखा गया है और शूद्रों को भी अच्छे कर्म करते हुए पाया गया है । जन्म से अगर अपने आपको ब्राह्मण मान बैठे और वही अभिमान अगर बनाये रखा, तो ब्राह्मणत्व अर्जित नहीं होगा । जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या क्षुद्र नहीं होता । जन्म से मनुष्य केवल मनुष्य होता है । जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता है, हमारा विकास ब्राह्मणत्व के गुणों की तरफ होता है या क्षत्रियत्व के गुणों की तरफ होता है । धर्म का संबंध जन्म, पैदाइश या खून से नहीं होता । धर्म का संबंध तो उस अंधकार की मृत्यु से होता है, जिस अंधकार को हम अपने भीतर समाये हुए हैं । जिस दिन अंधकार की मृत्यु होगी, उसी दिन समझ लीजिएगा कि जीवन में धर्म का उदय हुआ है ।

धर्म जीने के लिए है, धर्म को जीओ । अगर हिन्दू कुल में पैदा हुए, और व्यसन करते हो, तो क्या आपको हिन्दू कहलाते हुए शर्म नहीं आती ? राम, जो मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये, क्या उनकी मर्यादाएँ हमारे जीवन में किलकारियाँ भर रही हैं धर्म की वो ऊँची-ऊँची बातें कर लेते हो, मगर अपने आपको व्यसनों में जकड़े रखते हो । अगर एक इंसान अपने आपको व्यसनों से मुक्त नहीं कर पाया, तो मैं नहीं जानता कि वह अपने आपको जैन या हिन्दू कहलाने का हकदार है । गुणवत्ता के नाम पर हमारे पास क्या है ? केवल गीता को पढ़ लेने भर से जीवन का उद्धार नहीं होने वाला है । महाभारत के उस विशाल प्रांगण में अर्जुन के साथ

बहुत सारे लोगों ने गीता का संदेश सुना होगा, मगर अर्जुन कोई एकाध ही बन पाया । राम की सेवा तो सभी लोगों ने की होगी, मगर पवनपुत्र हनुमान कोई ही हो पाया ।

इस धरती पर हिन्दुओं की संख्या करोड़ों में होगी, मगर मैं कहूँगा कि 'हिन्दू' तो विरले ही होते होंगे, बाकी सब तो बस ठीक है । मंदिर में जाकर 'पुण्य' कर आते हैं और फिर जैसे थे वैसे ही दोहराते रहते हैं । आखिर, पाप की नींव पर पुण्य के शिखर कैसे खड़े किये जा सकते हैं । पाप चाहे छिपकर करें या खुले आम, वह पाप अपना असर दिखाएगा ही । आप सबसे मुझे प्रेम है । आप अगर सही तौर पर अपने आपको मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का और जय जिनेन्द्र महावीर का अनुयायी समझते हैं, तो आज के बाद हमारे लिए किसी भी तरह के व्यसन का सेवन जीवन का सबसे बड़ा पाप होगा । क्या हिन्दू, क्या जैन, मैं सब लोगों को यह आह्वान कर रहा हूँ ।

गीता को हमने अठारह दिनों तक सुना है । गीता को अपने जीवन में जीने के लिए, शुभारम्भ करने के लिए अपने जीवन को व्यसन-मुक्त बनाओ । भीतर के महाभारत को जीती । अपने हृदय को सहृदय बनाओ । निर्मल अनासक्त बनाओ । माना आप में से कई बूढ़े हो चुके हैं, संन्यास नहीं ले सकते, मगर संसार में रहकर निर्लिप्त तो जी सकते हो । माना तुम करोड़ों का दान नहीं कर सकते, मगर अहोभाव के गीत तो गुनगुना सकते हो । अगर अपनी मृत्यु से पहले व्यसनों की मृत्यु कर सकें, इनको हटा सकें, तो यह विशुद्ध रूप से धर्म का आचरण होगा ।

अगर तुम जीसस के अनुयायी हो और तुम क्रॉस पर नहीं लटक सकते, तो कम-से-कम किसी के दो कड़वे शब्दों को तो सहन कर सकते हो । अगर मन्दिर में जाकर कृष्ण-कन्हैया को माखन-मिश्री न चटा पाये तो न सही, मगर अपने घर बाल-गोपालों को तो चांटा मत मारो, उन्हें प्यार करो । अगर ये दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होंगी, तो मुझे नहीं लगता कि आप धर्म को सही रूप में समझ पाये हैं । छोटे बच्चों को मारने का हक आपको नहीं है और न ही उनके सामने सिगरेट पीने का अधिकार ही है, क्योंकि जैसे हम होंगे, वैसी ही हमारी पीढ़ी होगी, जैसे हम स्वस्थ होंगे, वैसे ही आगे आने वाली पीढ़ियाँ होंगी । सोचें, आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए हम क्या छोड़कर जा रहे हैं ? अगर हमने वृक्षों से फलों को तोड़ लिया है और इन वृक्षों को न सींचा, तो आने वाली पीढ़ियों के लिए हम सूखा दरख्त और कांटे ही छोड़कर जायेंगे ।

अगर मरने के बाद स्वर्ग का इंतजाम करना है, तो कोई इंतजाम करके जाओ कि मरने के बाद किसी और को हमारी आत्मशांति के लिए प्रार्थना न करनी पड़े। हमारी शांति के इंतजाम हम खुद करके जायें। तभी गीता को सुनने की सार्थकता है। गीता की तरह हर धर्म में अपने पवित्र धर्मग्रन्थ, महान् सिद्धान्त और महान् दृष्टिकोण हैं। हर धर्म के पास जाओ, हर धर्म की अच्छी बातों को सीखो, उनको अपने जीवन में आत्मसात करने का प्रयास करो। सारे धर्म हमारे हैं, सारे शास्त्र हमारे हैं। सारे शास्त्रों की अच्छी बातें हमारे लिए हैं। हम गुणग्राहक होकर हर शास्त्र, हर धर्म, हर व्यक्ति की अच्छी बातों को अपने जीवन में स्वीकार करने का प्रयास करें। मेरी ओर से यही गीता का उपसंहार है। परम पिता परमात्मा से यही प्रार्थना करता हूँ कि भगवान, कुछ ऐसा करो, कोई एक ऐसा मंगल-आशीष प्रदान करो कि हम सही तौर पर सही मार्ग पर जीवन भर चलते रहें।

भगवान ! तुम कहते हो जब-जब धरती पर अधर्म का अंधकार बढ़ता है, तुम अवतार लेते हो। चरण-शरण, हम तुम्हारी शरण में हैं। तुम्हारा अन्तःकरण में आह्वान कर रहे हैं। तुम हमारे दिलों में अवतार लो। हमें जीवन के महाभारत का पार्थ बनाओ। हमारे तमस हरो, हमें प्रकाश से भरो। हम किसी फूल की तरह तुम्हारे चरणों में स्वयं को समर्पित करते हैं। स्वीकार करो।

जगत के महाभारत में, हे जीवन-सारथी ! हम कभी नपुंसक न हों, कायर न हों, कर्तव्य-कर्मों के प्रति आसक्त न हों। तुम्हारे होकर जीयें। हाँ, कभी लगे, ये तुम्हारे अर्जुन जीवन-युद्ध में विचलित होते, कंपित होते, तुम हमसे मुखातिब हो जाना और एक बार अपनी गीता हमें भी कह देना, अधिक न भी सही, इतना ही कह देना जागो मेरे पार्थ ! जागो मेरे भारत ! इतना ही काफी होगा, गीता का सार सूत्र और सारमंत्र होगा।

आपने मुझे, इतनी तन्मयता और हृदय से सुना, आभारी हूँ। मेरा प्रेम आप सब तक पहुँचे, अनन्त रूप में, अनन्त वेश में।

नमस्कार।



धर्म और जीवन-सापेक्ष चिन्तन-प्रधान विशिष्ट साहित्य

(अल्पमोली साहित्य, लागत से भी कम मूल्य पर)

ऐसे जिऀँ : श्री चन्द्रप्रभ

जीने की शैली और कला को उजागर करती विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक। स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर जीवन की राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण। पृष्ठ 110, मूल्य 15/-

बातें जीवन की, जीने की : श्री चन्द्रप्रभ

युवा-पीढ़ी की समसामयिक समस्याओं पर अत्यन्त तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक मार्ग-दर्शन। एक बहुचर्चित पुस्तक। पृष्ठ 90, मूल्य 15/-

लक्ष्य बनाएँ, पुरुषार्थ जगाएँ : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन में वही जीतेंगे, जिनके भीतर जीतने का पूरा विश्वास है। सफलता के शिखर तक पहुँचाने वाली एक प्रसिद्ध पुस्तक। पृष्ठ 96, मूल्य 15/-

बेहतर जीवन के बेहतर समाधान : श्री चन्द्रप्रभ

औरों को बदलना आसान नहीं है, किन्तु अपनी मानसिकता को बदलना आपके हाथ में है। जीवन की व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान देती एक लोकप्रिय पुस्तक। पृष्ठ 104, मूल्य 15/-

ध्यानयोग : विधि और वचन : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

ध्यान-शिविर में दिए गए प्रवचन एवं अनुभवों का अमृत आकलन : साथ ही ध्यान-योग की विस्तृत विधि। एक चर्चित पुस्तक। पृष्ठ 148, मूल्य 30/-

इक साथे सब सधे : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन को नई चेतना और दिशा प्रदान करने वाला जीवन-सापेक्ष आध्यात्मिक चिन्तन। ध्यान-साधकों के लिए विशेष उपयोगी। संबोधि-साधना पद्धति की क्रमिक विधियाँ संलग्न। पृष्ठ 148, मूल्य 30/-

जागो मेरे पार्थ : श्री चन्द्रप्रभ

गीता पर दिए गए विशिष्ट आध्यात्मिक अठारह प्रवचनों का अनूठा संकलन। गीता की समय-सापेक्ष जीवन्त विवेचना। भारतीय जीवन-दृष्टि को उजागर करता प्रसिद्ध ग्रन्थ। एक बार अवश्य पढ़ें। पृष्ठ 250, मूल्य 40/-

महाजीवन की खोज : श्री चन्द्रप्रभ

धर्म और अध्यात्म का समन्वय स्थापित करता एक सम्प्रदायातीत ग्रन्थ। आचार्य कुंदकुंद, योगीराज आनंदघन एवं श्रीमद् राजचन्द्र के सूत्रों एवं पदों पर दिए गए अत्यन्त गहन-गम्भीर प्रवचन।

पृष्ठ 140, मूल्य 30/-

समय की चेतना : श्री चन्द्रप्रभ

समय और काल का हर दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए समयबद्ध जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली पठनीय पुस्तक।

पृ. 128, मूल्य 15/-

प्रेम की झील में ध्यान के फूल : श्री चन्द्रप्रभ

प्रेम की रसमयता और ध्यान की गम्भीरता—दोनों को एक ही पात्र में उड़ेलती एक प्यारी पुस्तक।

पृष्ठ 90, मूल्य 15/-

पंछी लौटे नीड़ में : श्री चन्द्रप्रभ

अन्तर-साधना एवं व्यक्तित्व-विकास के सूत्रों को मनोवैज्ञानिक तरीके से उजागर करता एक पठनीय ग्रन्थ।

पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

सहज मिले अविनाशी : श्री चन्द्रप्रभ

योग के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रों के प्रसंग में दिए गए बेहतरीन एवं अनमोल प्रवचन। हृदय-प्रधान लोगों के लिए एक अनुपम सौगात।

पृष्ठ 100, मूल्य 15/-

धर्म में प्रवेश : श्री चन्द्रप्रभ

नित्य नये पंथों और उपासना-पद्धतियों के बीच धर्म के स्वच्छ मौलिक स्वरूप का निर्देशन। सफल सार्थक जीवन के आध्यात्मिक नियम। अपनी ओर से हर किसी को यह पुस्तक पहुँचाएँ।

पृष्ठ 80, मूल्य 15/-

चेतना का विकास : श्री चन्द्रप्रभ

मिट्टी को इतना मूल्य मत दो कि ज्योतिर्मयता के लाभ से वंचित हो जाओ। आध्यात्मिक सत्य और शान्ति से रूबरू करवाती श्रेष्ठ पुस्तक।

पृष्ठ 104, मूल्य 15/-

उड़िये पंख पसार : श्री चन्द्रप्रभ

अध्यात्म की सहज-सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचाने वाला एक अभिनव ग्रन्थ, जिसमें कायोत्सर्ग, लेश्यामण्डल, गुणस्थान और विपश्यना जैसे गूढ़ विषयों पर भी मनोवैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है।

पृष्ठ 208, मूल्य 30/-

बोधि-बीज : सुश्री योगिता यादव

महान चिन्तक एवं दार्शनिक सन्त श्री चन्द्रप्रभ के अमृत वचनों का विश्वकोश। मानसिक शान्ति, आध्यात्मिक विकास एवं समाज-सुधार जैसे हजारों विषयों पर अद्भुत अनूठा मार्गदर्शन; तीन भागों में। संबोधि-धाम का श्रेष्ठ प्रकाशन।

पृष्ठ 900, मूल्य 150/-

महासति पट्टान-सुत्त : श्री चन्द्रप्रभ

भगवान बुद्ध द्वारा विपश्यना-साधना की मौलिक प्रस्तुति। मूल वाणी एवं हिन्दी-अनुवाद।
आत्म-साधना में सहयोगी मार्गदर्शन। पृष्ठ 48, मूल्य 7/-

वर्ल्ड रिनाउण्ड जैन पिलिग्रिमेजेज : रिवरेंस एण्ड आर्ट : महो. ललितप्रभ सागर
कला और श्रद्धा के क्षेत्र में विश्व-प्रसिद्ध जैन तीर्थों की रंगीन चित्रों के साथ नयनाभिराम
प्रस्तुति। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुचर्चित ग्रन्थ। अपने विदेशी मित्रों को उपहार-स्वरूप
प्रदान करने के लिए अनुपम ग्रन्थ। पृष्ठ 160, मूल्य 300/-

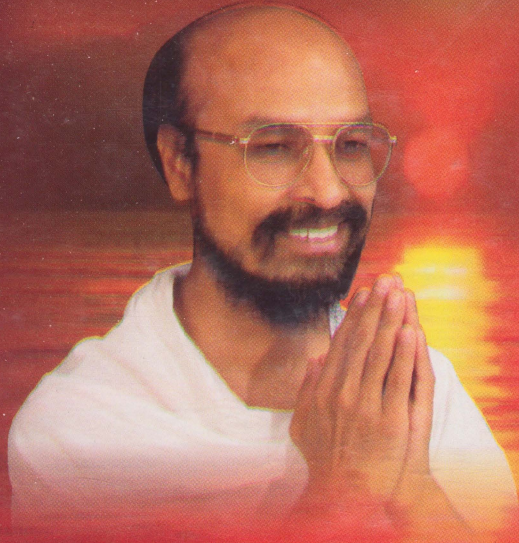
विशेष – अपना पुस्तकालय अपने घर में बनाने के लिए फाउण्डेशन ने एक
अभिनव योजना बनाई है। इसके अन्तर्गत आपको सिर्फ एक बार ही फाउण्डेशन को
पन्द्रह सौ रुपये देने होंगे, जिसके बदले में फाउण्डेशन अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले
प्रत्येक साहित्य को आपके पास आपके घर तक पहुँचाएगा और वह भी आजीवन। इस
योजना के तहत एक और विशेष सुविधा आपको दी जा रही है कि इस योजना के सदस्य
बनते ही आपको रजिस्टर्ड डाक से फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण ‘उपलब्ध साहित्य’
निःशुल्क प्राप्त होगा। ध्यान रहे, साहित्य वही भेजा जा सकेगा जो उस समय स्टॉक में
होगा।

रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर 20/- रुपये, न्यूनतम दो सौ रुपये का साहित्य
मँगाने पर डाक व्यय संस्था द्वारा देय। धनराशि ‘श्री जितयशाश्री फाउण्डेशन’ के नाम
ड्राफ्ट बनाकर कोलकाता या जयपुर के पते पर भेजें। वी.पी.पी. से साहित्य भेजना
शक्य नहीं होगा। आज ही लिखें और अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें—

जितयशा फाउण्डेशन

9 सी-एस्प्लानेड रो ईस्ट
रूम नं. 28, धर्म तल्ला मार्केट
कोलकाता-700 069
☎ 22208725

बी-7, अनुकम्पा, द्वितीय
एम.आई.रोड
जयपुर-302 001 (राज.)
☎ 2364737



विजय का विश्वास और
पुरुषार्थ की अलख जगाता
लोकप्रिय ग्रन्थ